श्रीगणेशायनमः ।

श्रीगुरुचरणकमलेभ्योनमः । श्रीसीतारामचन्द्राभ्यांनमः ।

श्रीवृन्दावनविहारिणे नमः ।

साधन-संग्रह ।

प्रथम खण्ड ।

भक्तप्रवर श्री १०८ पण्डित भवानीशंकरजी की वक्तृता और उपदेशके आधार पर संगृहीत ।

विषयसूची ।

श्रीरघुनन्दनप्रसाद सिंह, ग्राम सूरता महम्मदपुर, पो० आसिलौत, जिला मुजफ्फरपुर द्वारा प्रकाशित और प्राप्य ।

सन् १९२१ ईसवी ।

प्रथमखण्डकी कीमत सिवाय डाकमहसूल	बिना जिल्द	१॥)
	कागजका जिल्द	१॥।)
	कपड़ेकी जिल्द	२)

श्रीगणेशाय नमः ।

श्रीगुरुचरण कमलेभ्यो नमः । श्रीसीतारामचन्द्राभ्यां नमः ।

प्रथम संस्करण की भूमिका ।

इस साधनसंग्रह के धर्म, कर्म, कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग और दीक्षा-भाग को स्वर्गवासी श्रीबाबा रूपानाथ साधु ने जो तत्त्व-जिज्ञासु समाज के एक सभ्य थे, मुजफ्फरपुर जिलान्तर्गत सिलौत रेलवे स्टेशन के निकट महम्मदपुर सुस्ता ग्राम में सन् १८६८ ईसवी के चैत्रमास में कई शनिवार को सभा कर के सभा में पढ़ा था, उनमें बहुत कुछ घटा बढ़ा करके और अन्य भाग सन्नि-वेशित कर यह पुस्तक प्रकाशित की जाती है। इस पुस्तकका मूल

परमभक्त श्रीयुक्त पण्डित भवानीशंकर जी

की वक्तृता है, क्योंकि अधिकांश विषय इस पुस्तक के उन्हीं की वक्तृता से लिये गये हैं और उन्हीं की वक्तृता के क्रम पर इस की रचना की गई है। उक्त मान्यवर श्रीपण्डित जी तत्त्वजिज्ञासु समाज की सभाओं के निरीक्षक हैं और अनेक जिज्ञासु गण उन के अमूल्य उपदेश द्वारा सत् मार्ग के निकट पहुंचे हैं। क्योंकि यह पुस्तक उक्त श्रीपण्डितजी ही की कृपा से प्रस्तुत हुई, अतएव

यह उन्हीं के चरणकमल में समर्पित की जाती है।

इस पुस्तक के कतिपय विषय जगत्प्रसिद्ध श्रीमती एनी बेसन्ट की मुद्रित पुस्तकों में से भी लिये गये हैं जो तत्त्वजिज्ञासु-समाज के एक परम मान्य सभ्य हैं। वे महात्मा सद्गुरु के परम कृपापात्री हैं जो उन की वक्तृता, लेख और परोपकारी कर्म की ओर ध्यान देने से स्वतः प्रकट है, अतएव जो कुछ वे कहती और लिखती हैं वे सब ऋषियों के वाक्यों के अनुसार हैं, जिस के कारण यह पुस्तक भी तदनुसार ही है। इस पुस्तक में जो कुछ उत्तम सदुपदेश पाया जाय, उसे ऋषियों का कहा जानना चाहिये जो इस के संग्रहकर्ता को उक्त दो महानुभावों के द्वारा प्राप्त हुआ और जो कुछ इस में अयुक्त हो वह इस के सम्पादक की

मंद बुद्धि के कारण जानना चाहिये । आशा है कि सज्जन पाठक इस पुस्तक के दोषों पर ध्यान न देकर केवल इसके उत्तम उपदेश का ग्रहण करेंगे दोषों पर नहीं ध्यानदेंगे ऐसा समझ कर कि संग्रहकर्ता उन महानुभावों के वाक्य और लेख के आशय को ठीक २ नहीं प्रकाश कर सका जिस के निमित्त केवल संग्रहकर्ता ही उत्तरदायी है।

तत्वजिज्ञासु समाज के केवल नियत उद्देश्य हैं कोई सिद्धान्त विशेष नहीं, अतएव उक्त समाज अपने किसी सभ्य के लेख और वाक्य के निमित्त उत्तरदायी नहीं है, उसी प्रकार उक्त समाज अथवा उस का कोई सभ्य सम्पादक को छोड़ इस पुस्तक के लिये उत्तरदायी नहीं है, यद्यपि जो कुछ इस पुस्तक में उत्तम विषय हैं वे उक्त समाज द्वारा सम्पादक को प्राप्त हुए हैं।

संग्रहकर्ता की अल्पज्ञता के कारण इस पुस्तक में अनेक दोष हैं जैसा कि भाषा और वाक्यरचना में दोष, अनुवाद में अशुद्धि इत्यादि २ जिस के निमित्त सम्पादक सज्जन-पाठकों का क्षमाप्रार्थी है और आशा है कि वे लोग इन दोषों पर ध्यान न दे केवल इस के उत्तम विषयों पर ध्यान देंगे। पुनरुक्ति दोष इस में जानबूझ कर छोड़ दिया गया है, क्योंकि कई बातें ऐसी हैं जिन पर लोगों का आजकल बहुत कम ध्यान है और जिन पर विशेष ध्यान दिलाना अत्यन्तावश्यक है, अतएव उन विषयों को पाठकों के चित्त पर विशेष अंङ्कित करने के लिये वे बार २ इस में लिखेगये हैं—योगवाशिष्ठ आदि में भी यह नियम देखा जाता है। ऐसा भी है कि एक ही गुण कईएक साधनाओं में पाया जाता किन्तु उस की प्राप्ति की परिमिति में भेद है। कहीं उस के साधारण अर्थ से तात्पर्य्य है और कहीं विशेष अर्थ से।

इस पुस्तक के तीन भाग हैं, प्रथम आचार भाग जिस में धर्म और कर्म के विषय वर्णित हैं; द्वितीय साधनाभाग जिस में योग-साधनादि विषयों के वर्णन हैं और तृतीय योगभाग जिस में गुरु शिष्य और राजविद्या की दीक्षा का वर्णन है। सदाचार अर्थात् धर्म के अभ्यास किये बिना कोई योग की साधनाओं के करने का अधिकारी नहीं हो सकता, अतएव आचारभाग प्रारम्भ में दिया गया और बिना साधनाओं के अभ्यास के न वह शिष्य हो सकता न सद्गुरु मिलसकते और न योग की दीक्षा मिल सकती।

आजकल योग के विषय में लोगों के नानाप्रकार का विचार है, कोई योग नेती-धोती-आदि हठक्रिया को कहते हैं, कोई नानाप्रकार के आसनों के धारण करने को, कोई मुद्रा करने को, कोई अनेकबार नानाप्रकार के प्राणायाम करने को, कोई नासिका के अग्रभाग में देखने को, कोई भ्रूमध्य में देखने को, कोई आंख को दबाकर अंतर्लक्ष्य रखने को, कोई कान बंद करने से जो इस लोक के सूक्ष्म महाभूत का अथवा भुवर्लोक का शब्द * सुनने में आता है उस के सुनने को, कोई सहस्रार में ध्यान करने को इत्यादि २। यद्यपि इन में के कईएक अभ्यास व्यर्थ नहीं हैं और योग के सहायक तक कहे जासकते हैं, तथापि इन में से कोई भी केवल स्वतः अथवा दूसरों के साथ मिलकर यथार्थ योग नहीं कहे जा सकते। यदि योग ऐसी कोई साधारण वस्तु होती, तो अनेक लोग योगी होजाते। यह भी देखा जाता है कि कर्मयोगी और अभ्यासी के परिश्रम को आजकल के ज्ञानी व्यर्थ समझते और वे लोग ज्ञानी को तुच्छ समझते, बहुत से आजकल के योगसाधक और ज्ञानी उपासकों की निन्दा करते हैं और उपासक लोग उन से घृणा करते हैं। ऊपर कहीहुई साधनाओं में से किसी साधना के करनेवाले को रोगग्रस्त अथवा शरीर से खिन्न देख बहुत से लोग कहते हैं कि योग का साधन रोग का मूल है और कोई २ कहते हैं कि योग का अनुसरण कलियुग में हो नहीं सकता, इस के गुरु (आचार्य्य) कोई अब नहीं है। ऐसे ही लोगों का भिन्न २ विचार द्वापर युग के अंत में भी था जिन को दूर करने के लिये और यथार्थ मार्ग बतलाने के लिये भगवान श्रीकृष्ण महाराज ने गीता कही, जो गीता प्रारम्भ से अंत तक योग ही योग है। यह पुस्तक गीता ही के आधार पर लिखी गई है, अतएव आशा है कि यथार्थ योग-साधना के जानने में साधक को सहायता देगी और विरोध मिटावेगी॥

---

* कोई २ इस भुवर्लोक के शब्द को अनाहत शब्द कहते हैं, किन्तु यह अनाहत शब्द नहीं है। यथार्थ अनाहत शब्द स्वर्लोक से भी बहुत ऊर्द्ध्व जाने से सुनने में आता है। दैवीप्रकृति की प्राप्ति करने से वह अलक्ष शब्द प्राप्त होता है।

इस पुस्तक में जो चार योग साधनों का वर्णन किया गया है, वह एक २ स्वतः स्वतंत्र मार्ग नहीं है किन्तु एक से दूसरे को घनिष्ठ सम्बन्ध है, और चारों मिल के एक पूर्ण साधना होती है, नहीं तो एक साधना स्वतः अपूर्ण रहती है। साधक को चारों * का अभ्यास करना चाहिये। ऐसा नहीं कि इन चार साधनाओं का अभ्यास केवल क्रम से एक के बाद दूसरा कर के करना चाहिये, किन्तु सबों का अभ्यास एक समय में एक साथ करना चाहिये। भेद यह होगा कि प्रारम्भ में उस के साधन का मुख्य अंग कर्मयोग होगा, तत्पश्चात् अभ्यासयोग, फिर ज्ञानयोग और अंत में भक्तियोग। निष्काम परोपकारी कर्म द्वारा जब अन्तष्करण शुद्ध होता है तभी अभ्यास द्वारा चित्त एकाग्र और स्थिर हो सकता है और केवल शुद्ध, एकाग्र, स्थिर और शान्त चित्तवाले को आत्मा अनात्मा का ज्ञान ज्ञानयोग द्वारा प्राप्त होता और जब ज्ञान द्वारा साधक अपने को आत्मा जानता है अर्थात् शरीरों से पृथक् आत्मा का ज्ञान उसे होता है तभी वह परमात्मा के जानने और प्राप्त करने, योग्य होता है और तभी उस में परमात्मा-निमित्त प्रेम-भक्ति उत्पन्न होती है, जिसके कारण एकत्व-भाव होजाता है। भक्ति की प्राप्ति ईश्वर की कृपा के अधीन है, अतएव जो निष्काम हो के शुद्धचित्त से उन के प्रियार्थ कर्म करने में प्रवृत्त रहता और उन में चित्त को निरंतर लगाये रहना, ऐसेही पुरुष को कभी २ ज्ञानयोग में बिना विशेष परिश्रम किये भी भक्ति की प्राप्ति हो जाती है, किन्तु ज्ञानी भक्त परमोत्तम होता है। कहा है:—

> तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।
>
> प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥१७॥

गीता अ० ७ ।

इन (दुःखी, जिज्ञासु, नाशवान विषयों के चाहनेवाले और ज्ञानी) में ज्ञानी सदा मुझ में निष्ठा रखने वाला और एकमात्र

---

* कोई २ अभ्यासयोग को कर्मयोग के अन्तर्गत मान तीन ही साधन मानते हैं।

मुझ में ही भक्ति रखनेवाला श्रेष्ठ है, मैं ज्ञानियों का बड़ा प्रिय हूं और वे मेरे प्रिय हैं।

मनुष्य में तीन शरीर और पांच कोश हैं जिन में प्रत्येक की शुद्धि और उन्नति करना आवश्यक है और प्रत्येक को साधक को अपने वश में लाना चाहिये जिस में आत्मा का पूर्ण विकाश उन के द्वारा हो सके, किन्तु एक की उन्नति करने से और दूसरी को उन्नति नहीं करने से पूर्ण सिद्धि की प्राप्ति नहीं हो सकती। सदाचार और कर्मयोग से स्थूल शरीर की शुद्धि और उन्नति होती है, अभ्यासयोग द्वारा सूक्ष्मशरीर के काम (इन्द्रिय) भाग की, अर्थात् मनोमय कोष अथवा विषयासक्त मन और चित्त की, शुद्धि और उन्नति होती है, ज्ञानयोग द्वारा विज्ञानमय कोष को, अथवा बुद्धि की, शुद्धि और उन्नति होती है। ज्ञानी के समदृष्टि, निःसंगभाव और सर्वों के हित करनेमें प्रवृत्त होने से कारण-शरीर अथवा आनन्दमय कोषकी उन्नति होती है, किन्तु साधक उसके उर्ध्व दैवीप्रकृति * की प्राप्ति केवल भक्ति द्वारा करता है जिसकी प्राप्तिबिना कोई श्रीमहेश्वर को यथार्थ में प्राप्त कर नहीं सकता, अतएव ईश्वर-प्राप्ति-निमित्त भक्ति प्राप्त करनी आवश्यक है, जो भक्ति प्रेमपूर्वक ईश्वरनिमित्त (अर्थात् अपने श्रीउपास्य के निमित्त) निःस्वार्थभाव से परोपकाररूप उनकी सेवा करने से और उनमें सब प्रकार से सदा अनुरक्त रहने से प्राप्त होती है। इसी निमित्त उपासक एक जानके श्रीयुगल-मूर्ति की उपासना करते हैं, एक उपास्य का और दूसरे उनकी शक्ति का जिसकी प्राप्तिबिना उपास्य मिल नहीं सकते, क्योंकि शक्ति द्वारा वे आवेष्टित रहते हैं। श्रीसीताराम, श्रीराधाकृष्ण, श्रीगौरीशंकर इत्यादि में श्रीसीता, श्रीराधा और श्रीगौरी वही दैवी प्रकृति अर्थात् उन उपास्यों की (गायत्री) शक्ति हैं जिनकी कृपा प्राप्त करना उपास्य की प्राप्तिनिमित्त अत्यन्तावश्यक है।

शुद्ध आचरण और पवित्र मन रखना, निःस्वार्थ होना, सर्वोंके साथ समभाव और दया प्रेम रखना और ईश्वर (श्रीउपास्यदेव) में प्रेम कर उनको अपना सर्वस्व मान उनके निमित्त परोपकार व्रत में

* दैवी प्रकृति को गायत्री, चित्शक्ति, परमाविद्या, आदिशक्ति आदि भी कहते हैं।

प्रसन्नतापूर्वक प्रवृत्त होना साधना के मुख्य अंग हैं, और इनके बिना कोई साधना करना विशेष उपकारी नहीं होता। किन्तु आजकल इनपर लोगोंका ध्यान बहुत कम है विशेष कर निःस्वार्थपना, समभाव और ईश्वर (श्रीउपास्य में आत्मनिवेदन और परोपकार (जो तीनों यथार्थ में एक ही हैं,) पर इनके बिना ईश्वर (श्रीउपास्य) की प्राप्ति हो नहीं सकती। अतएव इस पुस्तक में इन तीनों पर लोगों का ध्यान विशेप आकर्षण करनेके लिये इनकी चर्चा बार बार की गई है।

परोपकार करने का नाम दान करना भी है। दानों में विद्या और ब्रह्म दान श्रेष्ठ है। जिससे लोगोंको सदाचार, ज्ञान और भक्तिकी प्राप्ति हो उसको ब्रह्मदान कहते हैं। सदाचार, ज्ञान और भक्ति से मनुष्य तापत्रय से मुक्त हो के ब्रह्मानन्द की प्राप्ति करता है और तब ही उसके दुःख का अत्यन्ताभाव होता है अन्यथा नहीं। जैसे २ मनुष्य ईश्वर की ओर बढ़ता है, वैसे २ उसका दुःख कमता जाता है, अतएव ईश्वरमुख होने ही से मनुष्य का यथार्थ कल्याण और उपकार होता है। इस लिये यथार्थ परोपकारी कर्म वही है जिस से मनुष्य ईश्वरमुख हो। सदाचार, सत्य, दया, धर्म, ज्ञान, ईश्वर (श्रीउपास्य) में प्रेम और भक्ति इत्यादि की प्राप्ति से मनुष्य ईश्वरमुख (श्रीउपास्यमुख) होता है, अतएव उन का लोगोंमें प्रचार करना लोगोंका यथार्थ उपकार करना है, जिसके निमित्त अवश्य अधिक यत्न साधकोंको करना चाहिये और यथाशक्य अन्नवस्त्रादि की सहायतासे भी लोगों को सुखी करना चाहिये। कोई २ ऐसा कहा करते हैं कि मैं स्वतः स्वल्प जानता हूं, अतएव दूसरे का उपकार नहीं कर सकता, किंतु ऐसा समझना सर्वथा भूल है, क्योंकि प्रत्येक मनुष्य कैसा ही अल्पबुद्धि अपनेको क्यों न समझता हो, अन्वेषण करने से शीघ्र जानेगा कि उससे भी अल्पबुद्धि के लोग हैं जिनको वह उपदेश करसकता है। जैसे २ वह दूसरे की उन्नति करने की चेष्टा करेगा, वैसे २ उसकी बुद्धि और सामर्थ्य बढ़ती जायगी और दूसरों के उपकार करने की विशेष योग्यता वह पाताजायगा। अतएव सबोंको दूसरे के उपकार करनेका यत्न करना चाहिये। कोई दूसरेका एक दोष यत्न करके छोड़ावेगा तो उसके दो दोष नाश हो जायेंगे, ऐसाही नियम है। बिना परोपकार किये अपना उपकार होनहीं सकता।

योगसाधना और योग में भेद है, जब योग की साधनाओं (जिनका वर्णन इस पुस्तक में है) का अभ्यास कर साधक सद्-गुरु की प्राप्ति करता है, तब उसको दीक्षाकाल में यथार्थ योगका गुरुद्वारा अंतर में उपदेश होता है और केवल तभी वह उसका अभ्यास ठीक २ कर सकता है और उससे लाभ पासकता है. किन्तु किसी भी अवस्था में अनधिकारी को यथार्थ योग की प्राप्ति हो नहीं सकती, क्योंकि वे कभी प्रकाशरूप में न लिखे गये हैं और न लिखे जा सकते हैं। सनातन काल से यही नियम है कि उनका उपदेश केवल श्रीसद्‌गुरु द्वारा साधनप्राप्त साधक को मिलता है और तब वह साधक शिष्य कहा जाता है। अतएव प्रथम योग की साधनाओं के अभ्यास में प्रवृत्त होना चाहिये, न कि उनको न कर केवल गुप्त योगक्रिया की प्राप्तिनिमित्त मारे २ फिरना चाहिये, क्योंकि यथाथ योगकी उच्च क्रिया साधन में प्रौढ़ होकर श्रीसद्‌गुरु की प्राप्ति किये बिना मिल नहीं सकती।

आज कल सद्‌गुरु के विषय में भी लोगों का ठीक विचार नहीं है लोग नहीं समझते कि सद्‌गुरु कौन हैं, कैसे हैं और उन की प्राप्ति कैसे हो सकती है। गुरु और शिष्य भाग में इस पुस्तक के जो कुछ लिखा गया है उसके विचारने से लोगों का विचार गुरु शिष्य के विषय में ठीक होगा। साधनप्राप्त साधक को श्रीसद्गुरु-स्वतः जहां वह रहता है वहां ही आके मिलते हैं, किन्तु साधनविहीन यदि पृथ्वीभर का भी छानडालें तो भी उसे प्राप्त न होते। लोगों को अनेक गुरुओं की आवश्यकता होती है, माता पिता भी गुरु हैं, विद्या दान देनेवाले और शास्त्र भी गुरु हैं और मंत्रोपदेष्टा भी गुरु हैं, अतएव इन लोगों का भी उपयुक्त भक्ति और आदर अवश्य करना चाहिये। साधना करने के पश्चात् श्रीसद्‌गुरु मिलते हैं, जिन मे और शिष्य में आध्यात्मिक सम्बन्ध रहता है जो कभी नहीं टूटता, मृत्यु और पुनर्जन्म भी उसे तोड़ नहीं सकता।

पूर्ण इन्द्रियनिग्रह भी दीक्षा प्राप्त कर परमात्मा के साक्षात्कार होने पर ही होताहैं। श्रीमद्भगवद्‌गीता में लिखा है :—

विषया विनिवर्त्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्ज्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्त्तते॥ ५९॥

गी० अध्याय २

इन्द्रियों के द्वारा विषय ग्रहण न करनेवालों का विषयानुभव निवृत्त तो होता है अर्थात् जो शरीर की पीड़ा अथवा दरिद्रता आदि के कारण भोग की वस्तुओं को नहीं प्राप्त कर सकते हैं, उन के इन्द्रियों को शिथिल तो होना अवश्य पड़ता है, परन्तु उन का विषयानुराग निवृत्त नहीं होता, किन्तु परमात्मा को देख कर स्थितप्रज्ञ की अभिलाषा स्वयं निवृत्त होती है।

इस पुस्तक के थोड़े भाग की भाषा को श्रीपण्डित बलदेव मिश्र, श्रीपण्डित बुद्धिसागर मिश्र और बाबू गोकुलानन्द प्रसाद वर्मा ने शोधा है जिस के निमित्त उन लोगों को धन्यवाद हैं। अनेक धन्यवाद हिन्दी के परम विद्वान विद्यारसिक श्रीपण्डित गोपीनाथ कुमर, सुयोग्य अध्यापक, धर्म्मसमाज स्कूल, मुज़फ्फ़रपुर को है जिन्हों ने आद्योपान्त इस पुस्तक की भाषा को शोधा है जिस के निमित्त सम्पादक उन से परम अनुगृहीत है। अन्त में संग्रहकर्ता अपनी कृतज्ञता गंगेया (ज़िला मुज़फ्फ़रपुर) निवासी बाबू श्रीकर्ण सिंह के प्रति प्रकाशित करता है जिन्होंने बहुत परिश्रम करके इसका प्रूफ़ देखा और इसकी भाषा को शोधा है और इस की छपाई और शुद्धता में स्वार्थ लिया है।

संग्रहकर्ता।

दूसरेसंस्करण का विज्ञापन।

इस पुस्तक के आकार बढ़जाने के कारण और प्रेससम्बन्धी और अन्य अनिवार्य कारणों से पुस्तक दो भागोंमें प्रकाशित की जाती है। अनेक कारणोंसे इस प्रथम भागमें अनेक अशुद्धियां होगई, जिनका शुद्धाशुद्ध-पत्र भी दूसरे भागमें दिया जायगा। अनेक लोगोंमें इस पुस्तक को शीघ्र पढ़ने की उत्कंठा देखकर और विलम्ब के कारण उनको अधीर होते जान और अवशिष्ट भागके छपनेमें विलम्ब समझ कर भी प्रथम भागके शीघ्र प्रकाशित करनेमें बाध्य हुआ। प्रार्थना है कि पाठकगण त्रुटियों की ओर ध्यान न देकर मुख्य विषय पर लक्ष्य रक्खेंगे। द्वितीय संस्करण कीविस्तृत भूमिका द्वितीय भागमें रहेगी।

संग्रहकर्ता।

ॐ

श्रीगणेशाय नमः ।

श्रीगुरुचरणकमलेभ्यो नमः ।

साधन संग्रह ।

प्रथम भाग ।

धर्म्म ।

धर्म शब्द धृ धातु से निकला है जिस का अर्थ धारण करना अथवा पालन करना है। जो इस संसार और इस के प्राणियों के यथार्थ स्वभाव और नित्य के कल्याणकारी व्यवहार का आधार है और जिस के बिना यह संसार चल नहीं सकता वही धर्म है। ईश्वर धर्म ही द्वारा संसार की वृद्धि रक्षा और पालन करते हैं अतएव वे धर्म रूप कहे जाते हैं—

'धर्मरूपी जनार्दनः' ।

श्रुति का वचन है:—

धर्म्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा,
लोके धर्म्मिष्ठं प्रजा उपसर्पन्ति,
धर्म्मेण पापमपनुदति, धर्म्मे सर्व्वं प्रतिष्ठितं
तस्माद्धर्म्मं परमं वदन्तीति ॥

धर्म्म ही जगत का आधार है, संसार में प्रजा सब धर्म्मिष्ठ ही का अनुसरण करती हैं, धर्म्म से पाप दूर होता है, धर्म्म ही में सब ठहरे हुए हैं, अतएव धर्म्म को ही श्रेष्ठ पदार्थ कहते हैं।

स्मृति का वचन है:—

धारणाद्धर्म्ममित्याहु र्धर्म्मेण विधृताः प्रजाः ।
यस्माद्धारयते सर्व्वं त्रैलोक्यं सचराचरम् ॥

धारण करता है इस निमित्त (धर्म्म का) धर्म्म नाम हुआ, सब प्रजा धर्म्म द्वारा धारित हैं, क्योंकि धर्म्म ही इस स्थावर जङ्गम रूपी त्रिलोक को धारण करता है । और --

धर्म्मः सतां हितः पुंसां धर्मश्चैवाश्रयः सताम् ।
धर्माल्लोकास्त्रयस्तात प्रवृत्ताः सचराचराः ॥

महाभारत शान्तिपर्व अध्याय ३०९ ।

सत्पुरुषों का धर्म ही हित है, सत्पुरुषों का धर्म ही आश्रय है और चराचर तीनों लोक धर्म ही से चलते हैं । और—

विहितक्रिययासाध्योधर्म्मः पुंसां गुणो मतः ।
प्रतिषिद्धक्रियासाध्यः स गुणोऽधर्म्मउच्यते ॥

जो वेदादि शास्त्र में मनुष्य के कल्याण के लिये अवश्य कर्त्तव्य कर्म वर्णित हैं उन के करने में जो मनुष्य के चित्त की प्रवृत्ति होती है उसी को धर्म्म कहते हैं और हिंसादि निषिद्ध कर्म्मों के करने में जो स्पृहा होती वह अधर्म्म है ।

धर्म ही से संसार के प्राणीमात्र वृद्धि पाते हैं और उन्नति करते हैं, अतएव धर्म ही केवल उन के लिये कल्याणकारी है । जिस कर्म से प्राणियों की उन्नति, भलाई और रक्षा हो वह धर्म है और जिस से उन में बाधा पड़े अथवा जिस से किसी एक को अथवा किसी समूह को किसी प्रकार की हानि हो वह अधर्म्म है । इस शरीर में हाथ, पांव, मुंह, नाक, कान, आंख इत्यादि हैं किन्तु वे सब आपस में भिन्न २ होने पर भी यथार्थ में एक ही शरीर के भिन्न २ अंग हैं और प्रत्येक के सुख दुःख में प्रत्येक भागी है, यदि हाथ समझे कि वह पांव से पृथक् है और ऐसा समझ के पांव को तोड़ दे तो उस से पांव की ही हानि न होगी किन्तु सम्पूर्ण शरीर की हानि होगी और उस के साथ हाथ की भी हानि होगी ; हाथ यदि किसी दूर की वस्तु को लेना चाहे तो विना पांव की सहायता के अर्थात् पांव से गये विना वह हस्तगत हो नहीं सकती, ऐसे ही शरीर के प्रत्येक अंग को परस्पर एक दूसरे की सहायता की आवश्यकता रहती है । सब इन्द्रियों के अपने २ नियत काम करने से और परस्पर बाधा न देकर सहायता करने से कोई एक

विशेष कार्य्य सम्पन्न होता है, जिस से सबों का उपकार होता है; यदि किसी हाथ के काम में आंख अपना देखने का काम करके सहायता न दे तो वह काम सम्पन्न न होगा। इसी प्रकार यह सम्पूर्ण जगत विराट पुरुष का शरीर रूप है जिस के प्राणी मात्र भिन्न २ भाग अथवा अंग प्रत्यंग हैं। भिन्न २ भाग के निमित्त भिन्न २ कर्म स्वभाव और अवस्थानुसार नियत है जिस को विशेष धर्म कहते हैं, और जो सबों को करना चाहिये उस को साधारण धर्म कहते हैं जिन दोनों धर्मों का सम्पादन करना मनुष्य मात्र का परम कर्त्तव्य है। अतएव लोगों को समझना चाहिये कि सृष्टि के प्राणी मात्र एक दूसरे से पृथक् कदापि नहीं हैं सब से सब को संबन्ध है। कोई भी इस संसार में कैसा हू क्षुद्र वह क्यों न हो, व्यर्थ नहीं है, प्रत्येक का ऐसा नियत कार्य्य है जो उस के सिवाय दूसरे से हो नहीं सकता।

बृहदारण्यक उपनिषद् का वचन है:—

इदं मानुषं सर्व्वेषां भूतानां मध्वस्य
मानुषस्य सर्व्वाणि भूतानि मधु ॥१३॥
अयमात्मा सर्व्वेषां भूतानां मध्वस्यात्मनः
सर्व्वाणि भूतानि मधु ॥१४॥

सब भूतों के लिये मनुष्य मधु अर्थात् आवश्यक और लाभकारी है और मनुष्य के निमित्त सब भूत मधु है ॥ १३ ॥ सब भूतों के लिये आत्मा मधु है और आत्मा के निमित्त सब भूत मधु हैं ॥ १४ ॥

श्री शङ्करस्वामी का वचन है—

यस्मात् परस्परोपकार्य्येऽपि कारकभूतं जगत्
सर्व्वं पृथिव्यादि ॥

पृथिवी आदि विश्व की वस्तु मात्र परस्पर में एक दूसरी वस्तु से उपकार प्राप्त करती है और दूसरे वस्तु का उपकार करता है।

सबों को इस सृष्टि रूपी विराट पुरुष के भिन्न भिन्न अंग होने के कारण एक की हानिलाभ से दूसरे को भी हानि और लाभ है,

एक की सहायता की अपेक्षा दूसरे को रहती है जिस के विना कोई कार्य्य सम्पन्न नहीं हो सकता, अतएव सर्वों को इस सर्वात्मभाव का ख़याल रखकर आपस में ऐक्यता और प्रेम का वर्ताव रखना, विरोध त्यागना और एक को दूसरे का उपकार और सहायता करनी मुख्य धर्म है, किन्तु इस के विरुद्ध जो दूसरे को घृणा की दृष्टि से देखते और भी द्वेष और हानि करते अथवा ऐसा करने की इच्छा करते वह वैसा करने से सर्वात्मभाव के विरुद्ध होकर अपनी ही हानि करते। यह विश्व एक वृक्ष की भांति है जिस के वीज को ईश्वर ने प्रकृति रूप क्षेत्र में स्थापन किया, जैसे वीज में संपूर्ण वृक्ष जिसका वह वीज है गुप्त रूप से निहित रहता है, वैसे ही इस सृष्टि के वीज में ईश्वर की सम्पूर्ण शक्ति और सामर्थ्य गुप्त रूप से वर्तमान रहते हैं जिन का विकाश और प्रकाश वीज को विश्वरूप वृक्ष होने से धीरे धीरे होता है। उस वीज से यह विश्वरूप वृक्ष निकला जिस के होने का उद्देश्य यह है कि अंत में इस में ऐसे उत्तम फल होवें जिस प्रत्येक में दूसरी सृष्टि के होने का वीज हो जो मनुष्यों के लिये परम सिद्धावस्था का प्राप्त करना है *। सब प्राणी इस संसार वृक्ष के भिन्न २ अंग हैं, अतएव प्रत्येक अंग को अपना २ नियत कर्म करना चाहिये और भी ऐसा कर्म करना चाहिये जिस में सम्पूर्ण की उन्नति हो जो धर्म कार्य्य है और कोई कार्य्य ऐसा कदापि नहीं करना चाहिए जिस से किसी एक अंग अथवा सम्पूर्ण को हानि हो जो अधर्म्म है, क्योंकि सम्पूर्ण की उन्नति से उस के अंश की भी उन्नति होती है। जैसे वृक्ष के एक अंग को हानि पहुंचाने से सम्पूर्ण वृक्ष की हानि होती है वैसेही यदि एक प्राणी दूसरे प्राणी की हानि करेगा तो उस से हानि करनेवाले की भी हानि हो जायगी क्योंकि दोनों एकही विश्ववृक्ष के भिन्न २ अंग हैं। जैसे वृक्ष के केवल एक अंग को जल से सिक्त करने पर भी उस अंग की वृद्धि उस जल द्वारा न होगी किन्तु वही जल यदि उस वृक्ष के मूल में दिया जायगा तो सम्पूर्ण वृक्ष को और उस के साथ उस के भिन्न २ सब अंगों की वृद्धि होगी, वैसे ही इस जगत में केवल अपने स्वार्थ के निमित्त यत्न करने से किसी की यथार्थ उन्नति नहीं हो सकती है, किन्तु केवल स्वार्थपरायण न होकर जो सृष्टिमात्र की

* देखो भक्तियोग पैरा १।

भलाई अर्थात परोपकार करने में प्रवृत्त होगा उसी से उसकी यथार्थ भलाई होगी, और जो स्वार्थ त्यागेगा उस के द्वारा किसी की भी हानि होना सम्भव नहीं है क्योंकि स्वार्थ ही के कारण कोई किसी को हानि करता है। धर्मरूपी जल से सींचे जाने से इस जगत रूपी वृक्ष की वृद्धि होती है, अतएव संसार में धर्म की वृद्धि और अधर्म का नाश करने निमित्त यत्न करना सबों का परम कर्तव्य है और इसी के द्वारा सबों का यथार्थ कल्याण होगा। अपनी कुछ हानि कर के भी दूसरे का उपकार करना, विशेष कर पारलौकिक उपकार, उत्तम धर्म है। लिखा है कि :—

यस्य वाङ्मनसी स्यातां सम्यक् प्रणिहिते सदा।
तपस्त्यागश्च योगश्च स वै परम माप्नुयात् ॥ ३४ ॥

महाभारत शान्ति पर्व अध्याय १८५।

जो वचन और मन से भले प्रकार और सदा दूसरे की भलाई करने में लगा रहता है और जो तपस्या, त्याग और योग युक्त रहता है वही परम पद की प्राप्ति करता है।

तुलाधार ने जाजली ऋषि से यों कहा है कि :—

वेदाहं जाजले! धर्मं सरहस्यं सनातनम्।
सर्वभूतहितं मैत्रं पुराणं यं जना विदुः ॥ ५ ॥

महाभारत शान्तिपर्व अध्याय २६१।

हे जाजली! मैं सनातन धर्म के गुप्त भेद को जानता हूं जो सब प्राणियों की भलाई करनी और सबों का मित्र बना रहना है; इसी को लोग पुराण कर के जानते हैं।

सर्वेषां यः सुहृन्नित्यं सर्वेषा ञ्च हितेरतः।
कर्मणा मनसा वाचा स धर्मं वेद जाजले!

महाभारत।

हे जाजली! जो सदा सबों का मित्र बना रहता है और मन, वचन और कर्म से जो सबों के हित करने में तत्पर रहता है वही धर्म को जानता है। लिखा है कि :—

चौ० । परहित लागि तजे जो देही ।
संतत संत प्रसंसहि तेही ॥
परहित बस जिन के मन माहीं ।
तिन कहं जग दुर्लभ कछु नाहीं ॥
क्षमासील जे पर उपकारी ।
ते द्विज प्रिय मोहि जथा खरारी ॥
बड़े सनेह लघुन पर करहीं ।
गिरि निज सिसिरन सदा तृन धरहीं ॥
जलधि अगाध मौलि वह फेनू ।
संतत धरनि धरत सिर रेनू ॥

गोस्वामी तुलसीदास कृत रामायण ।

और लिखा है कि :—

आलोच्य सर्व्वशास्त्राणि विचार्य्य च पुनः पुनः ।
पुण्यं परोपकाराय पापाय परपीडनम् ॥

सब शास्त्रों को बार २ पढ़ने और विचारने से यही सिद्धान्त निकलता है कि परोपकार करना पुण्य है और दूसरे को दुःख देना पाप है। जैसा दूसरे की भलाई करना परम धर्म है वैसा ही प्राणी मात्र को किसी प्रकार की हानि पहुंचानी महान अधर्म है है *। वेद का वाक्य है :—

अहिंसा परमो धर्मः ।

हिंसा न करना परम धर्म है। किसी को किसी प्रकार की हानि पहुंचानी, दुःख देना और हृदय दुखाना हिंसा है। अपने दुःख सुख के समान दूसरे का भी दुःख सुख जानना चाहिये और जो काम अपने को भला न बूझ पड़े वह दूसरे के साथ भी

* देखो कर्मयोग पैरा १६ और १७ और भक्तियोग पैरा १६ और १७ ।

केवल स्वार्थ निमित्त नहीं करना चाहिये। स्मरण रखना चाहिये कि :—

न भूतो न भविष्योऽस्ति न च धर्मोऽस्ति कश्चन ।
योऽभयःसर्वभूतानां स प्राप्नोत्यभयं पदम् ॥ १८ ॥

महाभारत शान्ति पर्व अध्याय २६१ ।

जो सबों को अभय दान देता है (किसी को हानि नहीं करता है) वह अभय पदवी को प्राप्त करता है और ऐसा धर्म न पूर्व काल में कोई हुआ और न आगे होगा ।

जीवितं यः स्वयं चेच्छेत् कथं सोऽन्यं प्रघातयेत्
यद्यदात्मनि चेच्छेत तत्परस्यापि चिन्तयेत् ॥ २१ ॥

महाभारत शान्ति पर्व अध्याय २५८ ।

जो आप जीना चाहता है वह दूसरे को कैसे घात करता है, जैसा अपने लिये इच्छा करे वैसा दूसरे के लिये भी करना चाहिये । क्योंकि :—

प्राणा यथात्मनोऽभीष्टा भूतानामपि ते तथा ।
आत्मौपम्येन भूतेषु दयां कुर्वन्ति साधवः ॥

हितोपदेश ।

प्राण जैसा अपने को प्रिय है वैसा दूसरे को भी प्रिय है, इस लिये साधु लोग अपने ऐसे दूसरे को भी जान के सबों पर दया करते हैं।

जो कुछ हानि हम लोगों को दूसरे के द्वारा होती है वह हम लोगों के आंतरिक द्वेषात्मक क्लेशकारी स्वभाव का प्रतिफल है. हम लोग दूसरे के शत्रु हैं अतएव वे भी हमलोगों के शत्रु होते हैं। हम लोग आखेट के सुख के लिये, पेट भरने के लिये तथा अन्यान्य व्यर्थ कार्य्यों के लिये संसार में प्राणियों का नाश करते हैं, अतएव वे भी हमलोगों की हानि करने में बाध्य होते हैं और उसी कारण हम लोगों को सर्पभय, व्याघ्रभय इत्यादि २ होते हैं। जो पुरुष किसी की किसी प्रकार की हानि करना नहीं चाहता और प्राणि-मात्र में सर्वात्मभाव मानकर उन पर प्रेम और दया रखता है

वह हिंस्र पशुयुक्त जंगल में अकेले क्यों न घूमे और व्याघ्रों के मान में क्यों न चलाजाय, सर्प पर उस का पग अनजान क्यों न पड़ जाय किन्तु उस को कोई हानि उन के द्वारा नहीं हो सकती। ईश्वर प्रेम स्वरूप है अतएव जो सर्वों के साथ सर्वात्म भाव मान प्रेम रखता है उस को ईश्वर के किसी अंश से भय नहीं हो सकता, यदि ऐसे पुरुष को कोई हानि किसी द्वारा हो तो समझना चाहिये कि वह उस के पूर्व जन्म के दुष्ट कर्म का ऋण था जो सध गया। मनु भगवान का वाक्य है :—

यद्ध्यायति यत्कुरुते धृतिं बध्नाति यत्र च।
तदवाप्नोत्ययत्नेन यो हिनस्ति न किञ्चन॥

मनुस्मृति अध्याय ५।

जो किसी की हिंसा नहीं करता अर्थात् किसी को कदापि कोई हानि नहीं करता और न दुःख देता वह जो ध्यान करता है, जो काम प्रारम्भ करता है और जो किसी गुप्त विषय के जानने के लिये मन को एकाग्र करता है वह सब में बिना विशेष यत्न के कृतकार्य्य होता है।

न जाति दृश्यते राजन्! गुणाः कल्याणकारकाः।
जीवितं यस्य धर्म्मार्थं परार्थं यस्य जीवितं।
अहोरात्रं चरेत्क्षान्तिं तं देवा ब्राह्मणं विदुः॥

महाभारतवनपर्व अजगरपर्वाध्यायपर्व।

युधिष्ठिर से वैशम्पायन महाराज कहते हैं कि—जाति नहीं देखी जाती है गुण ही कल्याणकारी है, जिस का जीना केवल धर्म के निमित्त है, जिस का जीना केवल परोपकार करने निमित्त है, दिन रात जो अच्छे कामों को करता है, उसे देवता लोग ब्राह्मण जानते हैं।

साधारण धर्म वह है जिस के अनुसरण करने से प्राणिमात्र की उन्नति होती है, जिस के साथ उस के करने वाले की भी उन्नति होती है किंतु उस के विरुद्ध चलने से प्राणिमात्र की हानि होती है अतएव कर्त्ता को उस से बड़ी हानि होती है, इस निमित्त

साधारण धर्म का अनुसरण करना सबों के लिये अवश्य कर्तव्य है। श्रीमनुभगवान ने साधारण धर्म का यों वर्णन किया है:—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं, शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
धी विंद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ९२॥

अध्याय ६।

धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रियनिग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध ये दश धर्म के लक्षण हैं॥

पहिला धर्म धृति है जिस का अर्थ धैर्य्य और संतोष है। दुःखदायी दशा में पड़ने पर भी उस से क्षुभित न होना और बिना शोकित हुए उस को सह लेना धैर्य्य है और ऐसी दशा में भी प्रसन्न ही रहना संतोष है। सुख दुःख दोनों नाशवान हैं और उन का आना कर्मानुसार होने के कारण अवश्यम्भावी हैं और किसी प्रकार साधारण लोगों से नहीं रुक सकता है और न उनके भोग के नियत समय के बीतने के पूर्व वे टल सकते हैं, अतएव धैर्य्य का अवलम्बन अवश्य कर्त्तव्य है। दुष्ट प्रारब्ध कर्म के फल दुःख रूप में कर्त्ता के पास आते हैं, जिस को धैर्य्य से भोगने से वह छुटकारा पाजाता है, अतएव अप्रिय अवस्था में पड़ने पर धैर्य्य रखना आवश्यक है। संसार के विषयों की जितनी प्राप्ति होती है उतना ही विशेष उन के पाने की इच्छा बढ़ती है और जब तक इच्छारूपी तृष्णा बनी रहती तब तक शांति नहीं मिलती, और भी लाभ अलाभ प्रारब्ध कर्मानुसार है, अतएव यथालाभ में संतुष्ट रह संतोष का धारण अवश्य करना चाहिये। संतोष के अभाव के कारण लोग अधर्म करते हैं जो किसी विषय की प्राप्ति निमित्त किया जाता है अतएव संतोष धर्म का मूल है। संतोष नहीं रहने से चित्त चंचल और उद्विग्न रहता है और चंचल और उद्विग्न मन अशान्ति का कारण है और ईश्वरसुख हो नहीं सकता। तृष्णा को त्याग कर संतोष का अवलम्बन करने से आनन्द की प्राप्ति होती है। और—

सन्तोषामृततृप्तानां यत्सुखं शान्तचेतसाम्।
कुतस्तद्धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम्॥

संतोषरूपी अमृत से तृप्त और शान्त चित्त वाले पुरुषों को जो सुख होता है वह सुख धन के लोभियों को जो इधर उधर दौड़ा करते हैं कैसे प्राप्त हो सकता है। श्री पतञ्जलि भगवान का वाक्य है।

संतोषादनुत्तमसुखलाभः ॥

पातञ्जल योगसूत्र ।

संतोष से अत्युत्तम सुख की प्राप्ति होती है। जैसे :—

सर्पाः पिबन्ति पवनं नच दुर्बलास्ते शुष्कैस्तृणै र्वनगजा बलिनो भवन्ति। कन्दैः फलैर्मुनिवरा गमयन्ति कालं संतोष एव पुरुषस्य परं निधानम् ॥

सांप वायु पी के जीता है किन्तु दुर्बल नहीं होता, वन का हाथी सूखी घास खाने से बलिष्ठ बना रहता है, मुनिगण कंद और फल को खाके समय बिताते हैं, अतएव संतोष ही पुरुष का उत्तम धन है। क्योंकि :—

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोड़शीं कलाम् ॥

महाभारत शान्तिपर्व अध्याय १७४।

संसार में कामना पूर्ण होने से जो सुख होता है और जो स्वर्गादि लोकों का उत्तम सुख है वह सुख तृष्णा के नाश होने से जो सुख होता है उस के सोलहवें अंश के तुल्य भी नहीं है।

दूसरा धर्म क्षमा है।

सत्यपि सामर्थ्ये अपकारसहनं क्षमा।

यदि कोई हानि करे और उस हानि के बदला लेने की सामर्थ्य रहते भी उस का बदला न लेकर सहन करना क्षमा है। यदि कोई किसी के साथ द्वेष करे और वह भी द्वेष के बदले उस के साथ द्वेष करे तो दोनों के द्वेषों का प्रभाव इकट्ठा हो के पुष्ट हो जायगा और उस से दोनों की हानि होगी इतनाही नहीं; किन्तु उस से दूसरों की भी हानि होगी *। किन्तु यदि एक ओर से

* कर्म प्रकरण देखो।

द्वेष के बदले दूसरी ओर से द्वेष न किया जाय क्षमा की जाय तो उस द्वेष का दुष्ट प्रभाव जाता रहेगा और यदि द्वेष के बदले प्रेम किया जायगा तो उस से ऐसा परिवर्तन होगा कि द्वेष करने वाले का द्वेष करने का स्वभाव जाता रहेगा और द्वेषकारी होने के बदले वह प्रेम करने वाले का उपकार करने में तत्पर होगा। मनु भगवान का वचन है :—

अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कञ्चन।
न चेमं देहमाश्रित्य वैरं कुर्वीत केनचित्॥ ४७॥
क्रुध्यन्तं न प्रतिक्रुध्येदाक्रुष्टःकुशलं वदेत्।
सप्तद्वारावकीर्णां च न वाचमनृतां वदेत्॥

मनुस्मृति अध्याय ६।

दूसरे की कही हुई कठोर बातों को सहन करना चाहिये, किसी का अपमान न करना चाहिये, इस नश्वर देह का आश्रय लेकर किसी से वैर न रखना चाहिये॥ ४७॥ क्रोध करनेवाले के ऊपर क्रोध न करना चाहिये, दूसरा कोई दुर्वाच्य कहे तो उसको आशीर्वाद देना चाहिये, और चक्षु आदि पांचबुद्धींद्रियं और मन तथा बुद्धि इन सातों कर के निकली वाणी से असत्य नहीं बोलना चाहिये। और भी कहा है:—योनात्युक्तः प्राह रूक्षं प्रियंवा योवा हतो न प्रतिहन्ति धैर्य्यात्। पापञ्चयोनेच्छति तस्य हन्तु स्तस्येह देवाः स्पृहयन्ति नित्यम् १७ भारत शान्तिधर्म अ० २६६ कोई दूसरे से निन्दित होने पर प्रिय अथवा अप्रिय वाक्य नहीं प्रयोग करे अथवा ताड़ित होने पर धैर्य्य से सहले और ताड़ना न करे और हननकर्ता को पाप होवे यह भी इच्छा न करे' ऐसे लोग को देव गण नित्य चाह करते हैं।

महात्मा कबीर का वचन है कि—

जो तों को कांटा बुवे, ताहि बोय तूं फूल।

और हंस ने साध्य को ऐसा कहा है कि—

आक्रुश्यमानो न वदामि किञ्चित् क्षमाम्यहं

ताड्यमानश्च नित्यम् । श्रेष्ठं ह्येतद्यत् क्षमामाहुरार्य्याः सत्यं तथैवार्ज्जवमानृशंस्यम् ॥

महाभारत शान्तिपर्व अध्याय २९९ ।

गाली देने पर भी मैं कुछ नहीं उत्तर देता हूं और प्रति दिन ताड़ित होने पर भी मैं क्षमा ही करता हूं, क्योंकि आर्य्य लोग क्षमा को श्रेष्ठ कहते हैं, और भी सत्य, कोमलता और दयालुता को ।

तुलाधार ने जाजली को यों कहा—

यो हन्याद्यश्च मां स्तौति तत्रापि शृणु जाजले ।
समौ तावपि मे स्यातां नहिमेऽस्ति प्रियाऽप्रियम् ॥

महाभारत शान्तिपर्व अध्याय २६१ ।

हे जाजली ! सुनो, जो मुझ को मारता है और जो मुझ को स्तुति करता है दोनों में मैं समान ही रहता हूं, मुझ को न कोई प्रिय है और न अप्रिय है । औरः—

यो वदेदिह सत्यानि गुरुं सन्तोषयेत च
हिंसितश्च न हिंसेत तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥
नक्रध्येन्न प्रहृष्येच्च मानितोऽमानितश्च यः ।
सर्व्वे भूतेष्वभयदस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः ॥

महाभारत ।

जो सदा सत्य बोलते हैं, गुरुलोग को संतुष्ट रखते हैं और कोई हानि करै तौभी हानि के बदले हानि नहीं करते, ऐसे को देवता लोग ब्राह्मण कहते हैं ॥ जो अपमानित होने से भी क्रोध नहीं करता और सम्मान किये जाने पर भी हर्षित नहीं होता है ऐसे को देवता ब्राह्मण कहते हैं ॥ अतएव यह क्षमा बहुत उत्तम और आवश्यक धर्म है और इसके अभ्याससे इस लोक और परलोक में अथवा व्यवहार और परमार्थ दोनों में कल्याण और सुख हैं ।

तीसरा धर्म दम है जिसका अर्थ मन को दुष्ट भावना के चिंतन करने से, कुत्सित विषयवासना की लालसा रखने से और दुष्ट संकल्प के करने से रोकना है ।

यजुर्वेद के ब्राह्मण का वचन है किः—

यन्मनसा ध्यायति तद् वाचा वदति यद् वाचा वदति तत् कर्मणा करोति यत्कर्मणा करोति तद भिसंपद्यते ॥

जैसा मन में ध्यान करता वैसा बोलता है, जैसा बोलता है वैसा कर्म करता है और जैसा कर्म करता है वैसा फल पाता है।

शुक्रनीति का वचन है किः—

मनसा चिन्तयन् पापं कर्मणा नाभिरोचयेत् ।
स प्राप्नोति फलं तस्येत्येवं धर्म्मविदो विदुः ॥

मन में पाप करने की चिंता करने पर यद्यपि उस चिंतन के अनुसार कर्म्म न किया जाय तौ भी वह उस पाप का फल पाता है।

प्रत्येक कर्म किये जाने के पहिले उस की इच्छा मन में होती है अतएव जिस के चित्त में मलीन वासना नहीं रहेगी और दुष्ट भावना के सोचने में जो प्रवृत्त न रहेगा उस के द्वारा कोई दुष्ट कर्म हो नहीं सकता, अतएव चित्त को शुद्ध और वश में रखना अत्यन्तावश्यक है ॥

मानसं सर्वभूतेषु वर्त्तते वै शुभाशुभम् ।
अशुभेभ्यः सदाऽऽक्षिप्य शुभेष्वेवावतारयेत् ॥

महाभारत शान्तिपर्व अध्याय ३०९ ।

सब लोगों के मन में शुभ और अशुभ दोनों प्रकार की भावनाएं रहती हैं किन्तु मन को अशुभ भावना से हटा कर शुभ में लगाना चाहिये ॥ मनुष्य मन के ही कारण मनुष्य हुआ और मन मलिन वासना में फंसने से बंधन का कारण होता है और मन ही बुरी वासना से छूट कर पवित्र और शान्त होने पर मोक्ष का कारण होता है, अतएव मन की शुद्धि और वश में करना अत्यन्तावश्यक है।

चौथा धर्म अस्तेय है जिस का अर्थ यह है कि अन्याय से किसी की कोई वस्तु न लेनी चाहिये। किसी को किसी दूसरे को एक सेर देना है किंतु तौल में कसर कर अथवा अन्य किसी रीति से पन्द्रह छटांक दे के सेर भर का विश्वास करा दिया तो उस से एक छटांक की चोरी (स्तेय) हुई। अन्याय से जो धनी लोग निर्धन से कुछ ले लेते हैं जिस का लेना युक्त नहीं है वह भी अस्तेय है जो अधर्म है। घूस, रुशवत और तहरीर इत्यादि लेना भी स्तेय है। लिखा है कि:—

मागृधः कस्य स्विद्धनम् ॥ १ ॥

ईशावास्योपनिषत्।

किसी की वस्तु अन्याय से मत लो। और

न हर्त्तव्यं परधन मिति धर्मः सनातनः ॥ १२ ॥

महाभारत शान्तिपर्व अध्याय २५८।

दूसरे का धन अन्याय से नहीं लेना यही सनातनधर्म है॥

धर्म के पथ में अस्तेय धर्म भी मुख्य है और इस के सूक्ष्म अंश का भी प्रतिपालन अवश्य कर्त्तव्य है। पांचवां धर्म शौच है जिस का अर्थ पवित्रता है॥

अद्भिर्गात्राणि शुद्ध्यन्ति मनः सत्येन शुद्ध्यति।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धि र्ज्ञानेन शुद्ध्यति॥

मनुस्मृति अध्याय ५।

जल से शरीर शुद्ध होता है, मन सत्य बोलने से शुद्ध होता है, विद्या और तपस्या द्वारा इन्द्रिय और कामात्मक मन शुद्ध होते हैं और ज्ञान द्वारा बुद्धि शुद्ध होती है। लिखा है कि—

मनःशौचं कर्मशौचं कुलशौचं च भारत।
शरीरशौचं वाक्शौचं शौचं पञ्चविधं स्मृतम्॥

मन पवित्र रखना, क्रिया पवित्र रखना, कुल पवित्र रखना, शरीर पवित्र रखना और वचन पवित्र रखना, यह पांच प्रकार की पवित्रता है।

ब्रह्मण्यात्मार्पणं यत्तत् शौचमान्तरिकं स्मृतम् ।

महानिर्वाण तन्त्र ।

ब्रह्म में आत्मा को अर्पण करना आन्तरिक शौच है ।

मृदां भारसहस्रैस्तु कोटिकुम्भजलैस्तथा ।

कृतशौचोऽविशुद्धात्मा स चाण्डाल इति स्मृतः ॥

वृहन्नारदीय पुराण अध्याय ३१ ।

दुष्टचित्त जन यदि हजार भार मट्टी और कोटि जल के कलशों से शौच करें तौभी वह चाण्डाल ही के तुल्य हैं ।

बाह्य और आन्तरिक दोनों शौच करना चाहिये । यदि बाहर खूब सुथरा, चिकना और धोआ हुआ है किन्तु भीतर मन मैला है तो बाहरी शुद्धता किसी काम की नहीं है । बाह्यशौच के निमित्त स्नान, आचमन, मार्जनादि कर्म करना आवश्यक है । शास्त्र में शौच के विशेष वर्णन हैं और भोजनादि में शुद्धाशुद्ध का विचार और भी स्पर्शास्पर्श शौच के अन्तर्गत हैं । यह शौच धर्म भी आवश्यक है क्योंकि शरीर अपवित्र होने से मन भी अपवित्र होजाता है; क्योंकि दोनों में घनिष्ट सम्बध है । यदि शौच धर्म का पूरा पालन किया जाय तो शरीर स्वस्थ रहेगा और संक्रामक व्याधियों से लोग बचे रहेंगे ।

छठां धर्म इन्द्रियनिग्रह है । इन्द्रियों को अपने वश में रखना, उनको निन्दित विषयभोग की ओर नहीं जाने देना और सदा उनको कर्त्तव्यपालन में प्रवृत्त रखना इन्द्रियनिग्रह है । मनुष्य अधर्म किसी न किसी इन्द्रियजन्य सुखप्राप्ति निमित्त करता है अतएव जब तक इन्द्रिय वश न होंगे तब तक अधर्माचरण रुक नहीं सकता । मनुभगवान का वाक्य है कि :—

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम् ।

संनियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति ॥९३

मनुस्मृति अध्याय २ ।

इन्द्रियों के दुष्ट विषयों में लगने से निःसंदेह दृष्ट अदृष्ट दोष को प्राप्त होता है किन्तु उन्हीं इन्द्रियों को भलिभांति वश में करने से

सिद्धि की प्राप्ति होती है । सब इन्द्रियों के वश करने की चेष्टा करनी चाहिये ; क्योंकि एक भी अवश रहने से अनर्थ का कारण होता है । लिखा है कि :—

इन्द्रियाणां तु सर्वेषां यद्येकं क्षरतीन्द्रियम् ।
तेनास्य क्षरति प्रज्ञा दृतेः पादादिवोदकम् ॥ ९९ ॥

मनुस्मृति अध्याय २ ।

सब इन्द्रियों में से यदि एक इन्द्रिय भी विषयों में लग्न हो जाय तो उस के द्वारा भी बुद्धि नष्ट हो जाती है जैसे चर्म के जल-पात्र में छिद्र रहने से जल ।

इन्द्रियनिग्रह से यह तात्पर्य्य नहीं है कि इन्द्रियों से कोई काम न लिया जाय ; किंतु उन को ऐसा वश में कर लेना चाहिये कि वे कभी कलुषित विषय भोग में प्रयुक्त न कर सकें अथवा विषय भोग निमित्त दुष्ट कर्म न करवा सकें, किंतु इन्द्रियों को उत्तम, आवश्यक और कर्तव्य कर्म के करने में प्रयुक्त करना चाहिये । क्योंकिः—

इन्द्रियार्थेषु सर्वेषु न प्रसज्येत कामतः ।
अतिप्रसक्तिं चैतेषां मनसा संनिवर्त्तयेत् ॥ १६ ॥

मनुस्मृति अध्याय २ ।

भोग कामना की इच्छा से इन्द्रियों के विषयों में नहीं पड़ना चाहिये, यदि उस में कामासक्ति हो जाय तो मन को रोक के उस आसक्ति को त्यागना चाहिये । इन्द्रियजित का लक्षण है कि:—

श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नरः ।
न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रियः ॥९८॥

मनुस्मृति अध्याय ४ ।

स्तुति तथा निंदा सुन के, सुखद तथा दुःखद स्पर्श होने से, सुरूप तथा कुरूप को देख के, सुस्वादु तथा कुस्वादु भोजन कर के और सुगंध तथा दुर्गंध घ्राण कर के जो न हर्षित होता और न ग्लानि करता (दोनों में समान रहता) वही जितेन्द्रिय है ।

यस्मै प्राज्ञाः कथयन्ते मनुष्याः,
प्रज्ञामूलं हीन्द्रियाणां प्रसादः।
मुह्यन्ति शोचन्ति तथेन्द्रियाणि,
प्रज्ञालाभो नास्ति मूढेन्द्रियस्य ॥ ११ ॥

महाभारत शान्तिपर्व अध्याय २८७।

जिन को मनुष्य ज्ञानी कहते हैं सो (ज्ञानी का) ज्ञान इन्द्रिय के वश करने से होता है और जिसने इन्द्रिय वश नहीं किया और इन्द्रियों के विषयों की प्राप्ति की लालसा रखता है और उस से क्षुभित होता है उस को ज्ञान का लाभ नहीं होता *। ऋषभ ने पुत्र के प्रति कहा है कि:—

नायं देहो देहभाजां नृलोके कष्टान् कामानर्हते विड्भुजां ये ॥ १ ॥

श्रीमद्भागवत स्कन्ध ५ अध्याय ५।

मनुष्यलोक में जन्मग्रहण करके जिन मनुष्यों ने शरीर प्राप्त किया है उन को इस देह से दुःखदायी विषयों का भोग करना कर्तव्य नहीं है, क्योंकि विषयों का भोग विष्ठाभोजी शूकर आदि को भी मिलता है †।

इन्द्रियनिग्रह मनुष्यजीवन का मुख्य कर्तव्य है, इन शत्रु रूपी इन्द्रियों को बिना दमन किए आत्मोन्नति के मार्ग में मनुष्य अग्रसर

* इन्द्रिय जब कभी विषयभोग की ओर झुके तो उस में हठात् प्रवृत्त नहीं होना चाहिये किन्तु ठहर जाना चाहिए और उसके अंतिम परिणाम के विचार करने में प्रवृत्त होजाना चाहिये और ठहरने और विचार में प्रवृत्त होने से प्रबलता कम हो जायगी क्योंकि इन्द्रियां प्रकृति के कार्य होने के कारण नश्वर हैं और ठहर कर विचार द्वारा उस विषय की चाह को दूर करना कठिन नहीं है, इस प्रकार इन्द्रिय को रोकने से इन्द्रिय की प्रबलता जाती रहेगी, किन्तु इन्द्रिय को विषय की ओर जाने से नहीं रोकने से इन्द्रिय प्रबल होते हैं।

† इन्द्रियों के विषयभोग में फंसे रहना पशुधर्म है, जो मनुष्य के लिये अयोग्य है, मनुष्य को आंतरिक मानसिक आनन्द की प्राप्ति की ओर चित्त को विशेष लगाना चाहिये जो आनन्द आत्मज्ञान कर्त्तव्यपालन और भक्तिसाधन द्वारा प्राप्त होता है जो पशु आदि नीचे वर्ग को कदापि प्राप्त नहीं हो सकता क्योंकि उन को इस की प्राप्ति की योग्यता ही नहीं है। अतः जो मनुष्य विषय भोग में रत है वह यथार्थ मनुष्य नहीं है पशुतुल्य है।

हो नहीं सकता। इन्द्रियों के निग्रह विशेष अध्यवसाय से होता है। भोगासक्त इन्द्रिय को परम शत्रु जानने से और उनके कामात्मक विषय भोग में दोषदृष्टि की निरन्तर भावना करने से और उनसे निवृत्ति को परम श्रेयस्कर मानने से और उनके भागात्मक प्रवृत्ति को दृढ़ संकल्प द्वारा रोकने से और सच्चिदानन्दरूपी परमात्मा में तादात्म्य भाव रखने से और इन्द्रिय दमन के लिए ईश्वर से उपयुक्त सामर्थ्य पाने की प्रार्थना करने से इन्द्रियनिग्रह सम्भव है।

सातवां धर्म धी अर्थात् उत्तम बुद्धि है जिससे कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ज्ञान होताहै। यह धीशक्ति सत्शास्त्र के अनुशीलन करने से, उनके सिद्धांत पर बारम्बार विचार करने से, अपने और दूसरे के अनुभव के परिणाम को हृदयंगम करने से और इन के द्वारा ज्ञान लाभ करने से प्राप्त होती है और यह भला बुरा समझने की कसौटी है।

आठवां धर्म विद्या है जिस का अर्थ ईश्वरसम्बन्धी ज्ञान अर्थात् ब्रह्मविद्या की प्राप्ति करनी है जिस को प्राप्ति से दुःखों का नाश हो जाता है। इस विद्या द्वारा अंतर्दृष्टि खुल जाती है।

नवां धर्म सत्य है जिस का अर्थ यह है कि जो जैसा होय उस को वैसाही यथार्थ २ कहना, सोचना और करना कदापि अन्यथा नहीं।

उपनिषद् का वचन है कि:—

नहि सत्यात्परो धर्मो नानृतात्पातकं परम्।
नहि सत्यात्परं ज्ञानं तस्मात्सत्यं समाचरेत्॥

सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं है, झूठ से बढ़कर कोई पाप नहीं है और सत्य से बढ़कर कोई ज्ञान नहीं है, अतएव सत्य का अभ्यास करना चाहिए।

सत्यं भूतहितं प्रोक्तं नायथार्थाभिभाषणम्।

याज्ञवल्क्य संहिता।

प्राणियों का हित करना सत्य है और अयथार्थ नहीं बोलना भी सत्य है। और

ब्रह्म सत्यं तपः सत्यं सत्यञ्चैव प्रजापतिः।
सत्याद् भूतानि जातानि सत्यं भूतमयं जगत्॥

महाभारत, अनुगीता अध्याय ३५ श्लोक ३४

ब्रह्म सत्य है, तपस्या सत्य है, प्रजापति सत्य हैं, सत्य से भूतों की उत्पत्ति हुई है (अतएव) जगत सत्यमय है ।

मनुभगवान का वचन है कि:—

वाच्यर्था नियताःसर्वे वाङ्मूला वाग्विनिःसृताः ।
तास्तु यः स्तेनयेद्वाचं स सर्वस्तेयकृन्नरः ॥ २५६ ॥

मनुस्मृति अध्याय ४ ।

सब अर्थ शब्दों ही में वाच्यभाव से नियत हैं और शब्दों का मूल वाणी है क्योंकि सब बातें शब्दों ही से जानी जाती हैं, इस से वाणी से निकली कही जाती हैं, अतएव जो उस वाणी को चुराता है अर्थात् अन्यथा कहता है वह मनुष्य सबभांति चोरी करनेवाला होता है अथवा उसे सब वस्तु के चोरी करने का दोष होता है । लिखा है कि:—

सत्यमेव व्रतं यस्य दया दीनेषु सर्व्वथा ।
कामक्रोधौ वशे यस्य तेन लोकत्रयं जितम् ॥

महानिर्वाणतन्त्र ।

जो सत्य के अभ्यास में दृढ़ है, सदा दुखियों पर दया रखता है और काम क्रोध जिसके वश में हैं उसने तीनों लोक को मानो जीत लिया । और

समूलो वा एष परिशुष्यति योऽनृतमभिवदति ।

प्रश्नोपनिषद् छठां प्रश्न ।

जो असत्य भाषण करता है वह समूल और सम्पूर्ण रूप से सूख जाता है अर्थात् नाश हो जाता है । और

अश्वमेधसहस्राणि सत्यं च तुलया धृतम् ।
तुलयित्वा तु पश्यामि सत्यमेवातिरिच्यते* ॥

वाल्मीकीय रामायण ।

---

* भारत शान्तिपर्व अध्याय १६२ श्लोक २६ में भी यही है और उस अध्याय में लिखा है कि केवल सत्य के अभ्यास से तेरह सद्गुण प्राप्त होते हैं ।

हज़ार अश्वमेध यज्ञ को तराज़ू की एक ओर और सत्य को दूसरी ओर रख के तौलने से देखता हूं तो सत्य ही का पलरा भारी होता है। और

सत्यमेव जयति नानृतम् ।

उपनिषद् ।

सत्यही की जय होती है, झूठ की नहीं। गोस्वामि तुलसीदास का वचन है कि:—

चौ०। धर्म्म न दूसर सत्य समाना।
आगम निगम पुरान बखाना॥

रामचरितमानस ।

महात्मा कबीर का वचन है:—

दोहा।

सांच बरोबर तप नहीं, झूठ बरोबर पाप।
जाके हृदया सांच हैं, ताके हृदया आप॥
सांचे श्राप न लागई, सांचे काल न खाय।
सांचे को सांचा मिले, सांचे मांहि समाय॥

भगवान पतञ्जलि मुनि का वाक्य है कि:—

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ।

योगसूत्र ।

सत्य में दृढ़ होने से जो क्रिया करता है वह अवश्य सफल होता है अर्थात् जो कहता वह अवश्य होता है और जो काम प्रारम्भ करता है उस में इच्छित फल प्राप्त होता है।

दसवां धर्म अक्रोध अर्थात् क्रोध नहीं करना है। क्रोध विचार और बुद्धि को इस प्रकार दबा देता है कि जो न करने योग्य है उसको करवा देता है अतएव क्रोध अधर्म का मूल है। श्रीकृष्ण महाराज ने काम, क्रोध और लोभ को नरक के तीन द्वार बताये हैं।

क्रोधमूलो मनस्तापः क्रोधः संसारसाधनम्।
धर्म्मक्षयकरः क्रोधस्तस्मात्तं परिवर्ज्जयेत्॥ ५३॥

बृहन्नारदीय पुराण अध्याय ३२।

मन के ताप का क्रोध मूल है, क्रोध से संसारचक्र में पड़ता है और क्रोध धर्म का नाश करनेवाला है, अतएव क्रोध को त्यागना चाहिये।

क्रोध मनुष्य का परम शत्रु है, अतएव लोगों को समझना चाहिए कि इस क्रोध शत्रु के प्रभाव में पड़कर जो कुछ किए जाएंगे वे सब महान् अनिष्टकारी कार्य्य होंगे। अतएव हम लोगों का कर्त्तव्य है कि प्रथम तो इस क्रोधरूपी परम शत्रु को अपने भीतर प्रगट नहीं होने दें जो "क्षमा" और निरहंकार रूपी शस्त्र से सुसज्जित रहने से होगा और दूसरे यदि वह कदापि प्रगट भी होजाय तो उसको शत्रु समझ उसके आदेशों को कदापि नहीं मानें और विचार में प्रवृत्त होजायँ और सद्बुद्धि का आवाहन कर उनकी शरण उपयुक्त परामर्श देने के लिए होजायँ। ऐसा करने से क्रोध के दुष्ट परिणाम से बच सकते हैं। और भीः—

अहिंसा सत्यमक्रोधः शौचमिन्द्रियनिग्रहः।
दानं दया दमः शान्तिः सर्वेषां धर्मसाधनम्॥

अहिंसा, सत्य, अक्रोध, शौच, इन्द्रियनिग्रह, दान, दया, दम और शान्ति ये सबों के लिये धर्म हैं। दान असहाय और असमर्थ को विशेषकर देना चाहिये। मनुमहाराज का वचन है—

सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते।

ईश्वर का ज्ञान जिस से हो ऐसा विद्यादान देना सब दानों में श्रेष्ठ है। धर्मोपदेश धर्मप्रचार विद्यादान के अन्तर्गत है।

नाश्रमः कारणं धर्मे क्रियमाणो भवेद्धि सः।
अतो यदात्मनोऽपथ्यं परेषां न तदाचरेत्॥

याज्ञवल्क्यस्मृति।

किसी धर्म के आचरण में कोई आश्रम कारण नहीं है क्योंकि करने से सब आश्रमों में धर्म होता ही है, इसलिये जो बातें अपने को भली न लगे वह दूसरे को न करे।

धर्म का विरुद्ध कर्म अधर्म है, ।

नास्तिक्यं वेदनिन्दां च देवतानां च कुत्सनम्।
द्वेषं दम्भं च मानं च क्रोधं तैक्ष्ण्यं च वर्जयेत्॥६३॥

मनुस्मृति अध्याय ४।

धर्म, कर्म और परलोक को न मानना, वेद की निंदा, देवताकी निंदा, द्वेष, दम्भ, अभिमान, क्रोध और क्रूरता न करे। लिखा है कि:—

न्यायागतधनस्तत्वज्ञाननिष्ठो ऽतिथिप्रियः।
श्राद्धकृत्सत्यवादी च गृहस्थो ऽपि हि मुच्यते॥

याज्ञवल्क्य स्मृति।

जिस ने धर्म से धन कमाया हो, जो तत्त्वज्ञान में निष्ठा रखता हो, अतिथिसेवी हो, श्राद्ध करनेवाला और सत्यवादी हो तो वह गृहस्थ भी मुक्त होता है।

आज कल प्रायः अधिकांश लोग मनुकथित उपर्युक्त दशधर्मों पर विशेष लक्ष्य नहीं रखते और उनकी प्राप्ति को अपना मुख्य लक्ष्य नहीं बनाते और यही कारण आजकल लोगोंमें धर्म के ह्रास का है। ये १० धर्म ही यथार्थ धर्म हैं जिनकी प्राप्ति से सब प्राप्त होजाती है और जिनके बिना अन्य सब साधन और अभ्यास और भजन व्यर्थ हैं। चूंकि मनुष्य मात्र के लिए ए स्वयंसिद्ध स्वाभाविक धर्म हैं, अतएव निर्विवाद हैं,। किसी धर्म अथवा सम्प्रदाय को इन धर्मों के आचरण की आवश्यकता में कोई शंका नहीं है और न हो सकती है, बल्कि मनुष्यमात्र को साधारण बुद्धिभी स्वतः इनको आवश्यक समझती है। कोई ऐसा व्यक्ति नहीं है जो सत्य, अस्तेय आदि सद्गुणों को खराब मानता हो, यद्यपि आचरण में उनके विरुद्ध भी चलता हो। घोर असत्यवादी भी असत्य को खराब समझता है और असत्यवादी कहे जाने पर अप्रसन्न होता है। ए धर्म ऐसे हैं जिन का प्रमाण केवल किसी धर्मग्रन्थ अथवा

व्यक्तिविशेष के आदेश पर निर्भर नहीं है किन्तु मनुष्यमात्र की बुद्धि इनकी साक्षी है और इनका अनुमोदन करती है, और इस कारण ए परममान्य हैं। मनुष्य के लिए ए धर्म स्वाभाविक होने के कारण इनका आचरण करना मनुष्य का परम कर्तव्य है और इसी लिए इस के समझने की स्वाभाविक बुद्धि मनुष्य में है। प्रत्येक मनुष्य की आंतरिक बुद्धि इसको कहती है कि सत्य बोलना धर्म और झूठ बोलना पाप है और इसके मानने के लिए कोई प्रमाण की आवश्यकता नहीं है।

सब प्राणियों में एक आत्मा का वास होना यही इन धर्मों का आधार है और इस सिद्धांत से ए धर्म स्वयंसिद्ध होजाते हैं। यदि दूसरे भी अपने समान आत्मा ही हैं और सब एक ही परमात्मा के अंश हैं और उस दृष्टि से सबों के साथ आत्मिक एकता है तो असत्य आदि द्वारा दूसरे की हानि करनी मानो अपनी हानि करनी है और भी सर्वात्मा के विरुद्ध कर्म है।

आजकल धर्माभिमानी लोग भी इन धर्मों के आचरण को परमावश्यक नहीं मान इनकी प्राप्ति के लिए विशेष यत्न नहीं कर उपधर्म की ओर लक्ष्य रखते हैं जिसके कारण धर्मभाव उनमें आविर्भाव नहीं होता और यथार्थ अभ्युदय से वंचित रहते हैं जो यथार्थ धर्म के आचरण से ही होता है और उपधर्म से कदापि होने का नहीं। ए धर्म ऐसे हैं जिनको मुख्य मानने से संसार भर के मनुष्य में एक धर्म की स्थापना होसकती है और धर्म विद्वेष दूर हो-सकता है।

आचारः परमो धर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त्त एव च ।
तस्मादस्मिन्सदायुक्तो नित्यं स्यादात्मवान्द्विजः ॥१०८॥

मनुस्मृति अध्याय १।

श्रुति स्मृति में कहा हुआ आचार परम धर्म है, अतएव धर्म-निष्ठ ब्राह्मण को सदा आचारयुक्त रहना चाहिये। क्योंकि—

न सीदन्नपि धर्मेण मनोऽधर्मे निवेशयेत् ।
अधार्मिकाणां पापानामाशु पश्यन्विपर्ययम् ॥१७१॥
नाधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव ।
शनैरावर्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति ॥१७२॥

यदि नात्मनि पुत्रेषु न चेत्पुत्रेषु नप्तृषु ।
न त्वेव तु कृतोऽधर्मः कर्तुर्भवति निष्फलः ॥१७३॥
अधर्मेणैधते तावत्ततो भद्राणि पश्यति ।
ततः सपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति ॥१७४॥

मनुस्मृति अ० ४

धर्म करने से क्लेश पाने पर भी मन को अधर्माचरण में प्रवृत्त नहीं करना चाहिये ऐसा देखने से कि अधर्मियों का उन के पाप के कारण शीघ्र नाश हो जाता है ॥७१॥ जैसे पृथ्वी में बीज बोने से शीघ्र ही उस में फल नहीं होता वैसे ही संसार में अधर्म किये जाने पर भी शीघ्र फल नहीं देता, किंतु धीरे २ जब उस के फल के होने का समय आता है तो कर्ता को मूल से उखाड़ के नाश कर देता है ॥७२॥ अधर्म करने का फल उसके करनेवाले को (इस संसार में ही) यदि न हुआ तो उस के पुत्र को होगा यदि उस को भी नहीं हुआ तो प्रपौत्र को होगा, किन्तु किया हुआ अधर्म कदापि बिना फल दिये न रहेगा ॥७३॥ अधर्म से प्रारम्भ में कुछ उन्नति करता है, तब अभिलषित वस्तु भी प्राप्त करता है, तत्पश्चात् अपने से निर्बल शत्रुओं को भी जीतता है किंतु अंत में मूलसहित नाश हो जाता है ॥७४॥

लिखा है किः—

एक एव सुहृद्धर्म्मो निधनेऽप्यनुयाति यः ।
शरीरेण समं नाशं सर्व्वमन्यद्धि गच्छति ॥
धर्म्मं शनैः सञ्चिनुयात् वल्मीकमिव पुत्तिका ।
परलोकसहायार्थं सर्व्वभूतान्यपीड़यन् ॥२३८॥
नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठति ।
न पुत्र दारा न ज्ञातिधर्म्मस्तिष्ठति केवलः ॥२३९॥

एकः प्रजायते जन्तुरेक एव प्रलीयते ।
एकोऽनुभुङ्क्ते सुकृतमेकएव च दुष्कृतम् ॥२४०॥

मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्टसमं क्षितौ ।
विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति ॥२४१॥
तस्माद्धर्मं सहायार्थं नित्यं सञ्चिनुयाच्छनैः ।
धर्मेण हि सहायेन तमस्तरति दुस्तरम् ॥२४२॥

मनुस्मृ॰ वि अध्याय ४ ।

धर्म ही केवल मनुष्य का एकमात्र मित्र है, क्योंकि मरने पर वही मृतव्यक्ति के साथ जाता है, और दूसरी सब वस्तु शरीर के साथ नाश हो जाती हैं। चींटी जैसे मिट्टी का ढेर प्रस्तुत करती है उसी प्रकार किसी प्राणी को दुःख न दे के परलोक में सहायता पाने के निमित्त थोड़ा थोड़ा करके भी धर्म इकट्ठा करना चाहिये ॥ २३८ ॥ पिता, माता, स्त्री, पुत्र, और जाति के लोग इन में कोई भी परलोक में सहायता नहीं करते, वहां केवल एक धर्म ही सहायता करता है ॥ २३९ ॥ प्राणी अकेला ही जन्म लेता है, अकेलाही मरता है और अकेलाही अपने किये हुए पाप के फल को भोगता है ॥२४०॥ जब बान्धवगण मृत शरीर को काठ और ढेले की भांति पृथ्वीतल में छोड़ के मुंह फेर के घर की ओर चलते हैं उस समय केवल एक धर्म ही मृतव्यक्ति को साथ देता है ॥२४१॥ धर्म की सहायता से मनुष्य दुस्तर नरकादि दुःख से छुटकारा पाता है, अतएव प्रतिदिन थोड़ा २ करके भी परलोक में सहायता पाने के निमित्त धर्म का संग्रह करना चाहिये ॥२४२॥

सबों को सब अवस्था में धर्माचरण करना चाहिये—

अजरामरवत् प्राज्ञो विद्यामर्थं च चिन्तयेत् ।
गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत् ॥

बुद्धिमान अपने को अजर अमर जान कर विद्या की प्राप्तिके निमित्त यत्न करे अर्थात् कभी उस की प्राप्ति का यत्न न छोड़े,

और मृत्यु ने केश पकड़ लिया है ऐसा जान धर्म का आचरण करे अर्थात् उस में तनिक भी विलम्ब न करे । क्योंकि—

न धर्मकालः पुरुषस्य निश्चितो
न चापि मृत्युः पुरुषं प्रतीक्षते ।
सदा हि धर्मस्य क्रियैव शोभना
यदा नरो मृत्युमुखेऽभिवर्त्तते ॥१८॥

महाभारत शान्तिपर्व अध्याय २९८ ।

मनुष्य के धर्म करने का कोई नियत समय नहीं है और मृत्यु भी मनुष्य की इच्छा को नहीं मानती अर्थात् जब आना होता है तब आ जाती है, अतएव सदा धर्म करने में प्रवृत्त रहना उत्तम है क्योंकि मनुष्य सदा मृत्यु के मुख में पड़ा हुआ है ।

अद्यैव कुरु यच्छ्रेयो मा त्वां कालोऽत्यगादयम् ।
अकृतेष्वेव कार्य्येषु मृत्युर्वै सम्प्रकर्षति ॥१४॥
श्वःकार्य्यमद्य कुर्वीत पूर्वाह्णे चापराह्णिकम्
नहि प्रतीक्षते मृत्युः कृतमस्य न वा ऽकृतम् ॥१५॥
कोहि जानाति कस्याद्य मृत्युकालो भविष्यति ।
युवैव धर्मशीलः स्यादनित्यं खलु जीवितम् ॥१६॥

महाभारत शान्तिपर्व अध्याय १७५ ।

जो कल्याणकारी कर्म है उस को अभी करो, तुम्हारा समय व्यर्थ न बीते, किसी कार्य्य के समाप्ति होने के पूर्व मृत्यु आजाती है ॥१४॥ जो काम सवेरे करना हो उस को अभी करना चाहिये, अपराह्ण समय के काम को पूर्वाह्ण ही में करना चाहिये, क्योंकि कौन काम इस ने किया और कौन काम नहीं किया इसको मृत्यु प्रतीक्षा नहीं करती ॥१५॥ कौन जानता है कि किस का इस समय मृत्युकाल आ जायगा, अतएव युवावस्था ही में धर्माचरण करना चाहिये, क्योंकि जीवन अनित्य है ॥१६॥

कर्म ।

जो कुछ हम लोग शरीर से हरकत अर्थात् क्रिया करते हैं, मन से संकल्प करते हैं, चित्त से सोचते हैं, बुद्धि द्वारा निश्चय करते हैं, अंतःकरण से भावना करते हैं, और मुख से बोलते हैं उन सब को और उन के फल को कर्म कहते हैं। जैसा कर्म किया जाता है उस से तादृश फल निकलता है अर्थात् अच्छे कर्म का अच्छा फल होता है और दुष्ट कर्म का दुष्ट फल होता है। मनुभगवान का वाक्य है:—

शुभाशुभफलं कर्म मनोवाग्देहसंभवम् ।
कर्मजा गतयो नृणामुत्तमाधममध्यमाः ॥ ३ ॥

मनुस्मृति अध्याय १२।

शरीर, मन और वचन से जो अच्छा अथवा बुरा कर्म मनुष्य करता है उस के ही अनुसार उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ गति प्राप्त करता है।

तस्येह त्रिविधस्यापि त्र्यधिष्ठानस्य देहिनः ।
दशलक्षणयुक्तस्य मनो विद्यात्प्रवर्तकम् ॥४॥

मनुस्मृति अध्याय १२।

देहधारी जीव के तन मन और वचन के आश्रित उत्तम, मध्यम तथा अधम कर्मों का प्रवर्त्तक मन कोही जानो। वे तीनों प्रकार के अधम कर्म नीचे लिखे दश लक्षणों से युक्त हैं।

परद्रव्येष्वभिध्यानं मनसानिष्टचिन्तनम् ।
वितथाभिनिवेशश्च त्रिविधं कर्म मानसम् ॥५॥
पारुष्यमनृतं चैव पैशुन्यं चापि सर्वशः ।
असंबद्धप्रलापश्च वाङ्मयं स्याच्चतुर्विधम्॥६॥
अदत्तानामुपादानं हिंसा चैवाविधानतः ।
परदारोपसेवा च शारीरं त्रिविधं स्मृतम् ॥७॥

मनुस्मृति अध्याय १२।

अन्याय से दूसरे के धन को किस प्रकार लेंगे ऐसी चिंता, किसी का द्रोह सोचना और ऐसा निश्चय रखना कि परलोक कुछ नहीं है और शरीर ही आत्मा है ये तीन मन के अशुभ कर्म हैं ।५। गाली देना, झूठ बोलना, किसी की अनुपस्थिति में उस की निंदा करनी और अनावश्यक बातों को बोलना ये चार प्रकार के अशुभ वाचक कर्म हैं । ६ । अन्याय से दूसरे की वस्तु का हरण करना, व्यर्थ किसी को हिंसा करनी और दूसरे की स्त्री के संग भोग करना ये तीन प्रकार के अशुभ शारीरिक कर्म हैं ॥७॥

जो कुछ मनुष्य करता है, सोचता है, विचारता है, संकल्प करता है भावना करता है और ध्यान करता है इन का प्रभाव चित्त पर पड़ता है और उस से चित्त चित्रित (चित्र बनने की भांति) और रंजित हो जाता है जो शरीरत्यागपर्य्यन्त ज्यों का त्यों बना रहता और नाश नहीं होता । जैसी २ भावना मन में आती है उस द्वारा भिन्न २ प्रकार से चित्त चित्रित होताजाता है और मानसिक चित्र चित्तमें अंकित होते जाते हैं । किसी प्रबल भावना के चिंतन करने से और उसके द्वारा मानसिक चित्र के बनने के समय भुवर्लोक के नीचे के भागों की प्राकृतिक अणु कंपायमान होते हैं और इस कंप के कारण एक चित्र अथवा आकार वहां बन जाता है, जैसाकि वायु के आघात से जलमें कंप होकर बुदबुदा आदि बनते हैं, और उस आकार अथवा चित्र में उक्त लोक के एक क्षुद्र देव आके प्रवेश करता है जिस के बाद उसको भुवर्लौकिक मानसिक मूर्ति अथवा चित्र कहते हैं । जिस प्रकार की भावना के कारण वह आकार बनता है उसी भावना के समान स्वभाववाले क्षुद्र देव आके उस में प्रवेश करता है । यदि भावना तमोगुण के कारण होगा तो उससे बने आकार में तमोगुणी देव आके प्रवेश करेंगे, रजोगुणी भावना के आकार में रजोगणी देव और सात्विक में सत्वगुणी देव आके बास लेंगे । यदि कोई क्रोध को चित्त में आने देगा तो उस से जो आकार अथवा चित्र भुवर्लोक के नीचे के भाग में बनेगा उसमें ऐसा क्षुद्रदेव आके प्रवेश करेगा जिसका स्वभाव दूसरे को हानि करने का है । यदि कोई विषयभोग करने की भावना चित्त में लावेगा तो उस से बने आकार में रजोगुणी देव जिसमें विषय-भोग की इच्छा प्रबल है आके प्रवेश करेगा । और ऐसाही कोई

परोपकारी भावना को चित्त में लाने से उस से जो आकार बनेगा उस में ऐसा कोई सत्वगुणी देव आ के वास करेंगे जिन का स्वभाव दूसरे के उपकार करने का है। जैसे स्थूल शरीर द्वारा जीव स्थूल जगत में अपना कामकाज कर सकता है जो बिना स्थूल शरीर के हो नहीं सकता, वैसे ही ये क्षुद्र देवगण को भुवर्लोक के नीचे के भाग की प्रकृति का बना हुआ आकार जो मनुष्य की मानसिक भावना द्वारा बनता है शरीर की भांति मिल जाता है, और उसके प्राप्त करने से ये मनुष्य के सूक्ष्म शरीर पर चोट कर सकते हैं, उस पर अपने स्वभाव का प्रभाव डाल सकते हैं और उस के द्वारा उस से अपने स्वभाव के अनुकूल क्रिया करवा सकते हैं जिस से उनको स्वतः सुख मिलता है। इस भुवर्लौकिक मानसिक मूर्ति की आयु उस भावना की तीव्रता पर निर्भर रहती है जिस के कारण वह उत्पन्न होती है, जो भावना विशेष तीव्रता और मनोयोग से सोची गई हो और अनेक समय तक चित्त में रही हो ऐसी भावना से जो भुवर्लौकिक मूर्ति बनेगी वह अधिक काल तक रहेगी, किंतु भावना द्वारा उस में दी हुई शक्ति जब सब नष्ट हो जायगी तो वह मूर्ति नष्ट हो जायगी। जो साधारण भावना चित्त में उठती हैं और जिस की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता, उस से जो भुवर्लौकिक मूर्ति बनती है वह शीघ्र नाश हो जाती है। भुवर्लौकिक मूर्ति इस प्रकार शक्तिशून्य होने पर नाश हो जाती है किन्तु मानसिक चित्र जो उस का कारण है वह उस (भुवर्लौकिक मूर्ति) के नाश होने पर भी नाश नहीं होता, यह (मानसिक चित्र) चित्त में चित्रित होने के कारण अन्तष्करण में बना रहता है। सब जन्तुओं में अधिकसमय तक रहने की इच्छा स्वाभाविक है, उसी अनुसार भुवर्लौकिक मूर्ति भी अधिक समय तक रहने की इच्छा रखती है जिस के निमित्त वह अपने कर्ता पर ऐसा प्रभाव डालती है जिस में वह फिर बारबार उसी प्रकार की भावना के सोचने में प्रवृत्त हो, क्योंकि वैसी भावना के फिर सोचे जाने से वह भुवर्लौकिक मूर्ति पुष्ट होती है और उस में विशेष शक्ति आती है जिसके कारण उस की आयु बढ़ती जाती है। यदि कोई दुष्ट भुवर्लौकिक मानसिक मूर्ति, जिस दुष्ट भावना से बनी हो उसके बार २ विशेष मनोयोग

से सोचे जाने पर, अत्यन्त पुष्ट हो जायगी तो वह उस मनुष्य को उस प्रकार की दुष्ट भावना के सोचने में और तदनुसार क्रिया के करने में बाध्य करेगी, और अंततः फिर ऐसा होगा कि वह मनुष्य उस कर्म का बुरा फल चख के यह समझेगा भी कि उस कर्म को करना उस के निमित्त हानिकारक है और उस को वह कर्म कदापि नहीं करना चाहिये, तथापि वह उस कर्म का करना छोड़ नहीं सकेगा, क्योंकि भुवर्लौकिक दुष्ट मानसिक मूर्ति जो प्रबल होगई वह उस को उक्त दुष्ट कर्म करने के लिये बाध्य करेगी और तब वह अपने को असहाय और असमर्थ पावेगा। और इसी प्रकार प्रबल दुष्ट स्वभाव बन जाता है। यही कारण है कि किसी दुष्ट कर्म के प्रथमबार करने में तो रुकावट मालूम पड़ती है किन्तु कई बार करने पर फिर उसमें कोई रुकावट नहीं मालूम पड़ती, बरन विशेष प्रवृत्ति उस ओर खींचती है और कभी २ विशेष प्रयोजन बिना भी हठात् किया जाता है। किन्तु यदि वह विशेष यत्नवान् होगा और उस दुष्ट भावना और दुष्ट कर्म के रोकने की इच्छा और चेष्टा में कृतकार्य्य न होने पर भी यत्नको नहीं त्यागेगा और जहांतक हो सकेगा वहा तक उस दुष्ट भावना को चित्त में नहीं आने देने की चेष्टा को करता ही जायगा जिस के कारण उक्त भावना की उत्पत्ति में कमी अवश्य होगी। और भी उस दुष्ट भावना के विरुद्ध उत्तम भावना के सोचने में प्रवृत्त होगा तब वह भुवर्लौकिक मूर्ति नयी दुष्ट भावना के उत्पन्न न होने के कारण पुष्ट न होकर धीरे २ क्षीण होती जायगी और अंततः नाश हो जायगी। क्योंकि प्रबल दुष्ट भुवर्लौकिक मूर्ति का नाश करना कठिन है, अतएव कदापि बार २ दुष्ट भावना को सोच के उसको प्रबल नहीं करना चाहिये। ऐसे ही उत्तम भावना के सोचने में प्रवृत्त होने से उत्तम भुवर्लौकिक मानसिक मूर्ति बनती है जो यदि उस भावना के बार बार सोच ने से और तद्वत् कर्म करने से पुष्ट होजाय तो फिर उसी भावना और कर्म की ओर उस पुरुष को रुचि स्वभावतः जाती है।

भुवर्लौकिक मानसिक मूर्ति अन्य प्रकार से भी पुष्ट होती है, वह यह है कि जैसी भुवर्लौकिक मानसिक मूर्ति होती है उसी प्रकार की और समान स्वभाव वाली जो अन्य भुवर्लौकिक मानसिक मूर्तियां दूसरों द्वारा बनाई हुई रहती हैं उन को वह समानता के

कारण आकर्षित करती है और उन के साथ युक्त होकर विशेष प्रबला होजाती है जिस का प्रभाव उन के कर्त्ता पर पड़ता है और तब वे हठात् तदनुसार क्रिया थोड़ा अथवा अधिक करबैठते हैं। इसी प्रकार उत्तम भुवर्लौकिक मानसिक मूर्ति अन्य उत्तम मानसिक मूर्तियों को आकर्षण करती है जिस से कर्त्ता के उत्तम स्वभावकी वृद्धि और होती है और उस के कारण उत्तम कर्म के करने में वे विशेष प्रवृत्त होते हैं, और वैसेही दुष्ट मानसिक मूर्ति अन्य दुष्ट मूर्तियों से युक्त हो कर्त्ता का दुष्ट स्वभाव बढ़ाती है और दुष्ट कर्म के करने में प्रवृत्त करती है। जो दुष्ट भावना को चित्त में नहीं आने देते उनको दुष्ट भुवर्लौकिक मानसिक मूर्ति से कुछ हानि नहीं होसकती, क्योंकि समान से वह आकर्षित होती है और विरुद्ध से दूर फेंकी जाती है। किसी पुरुष की भुवर्लौकिक मानसिक मूर्ति जैसे दूसरी समान मानसिक मूर्तियों को आकर्षित करती है, वैसेही वह अपने समान दूसरी मूर्तियों से आकर्षित हो उन मूर्तियों के कर्त्ता पर अपना अच्छा अथवा बुरा प्रभाव डालती है जिस के निमित्त उस आकर्षित मूर्ति का कर्त्ता उस के द्वारा जो कर्म दूसरों से सम्पादित हुआ उसके निमित्त उत्तरदायी होता है। यथार्थ में प्रत्येक भावना जो कोई सोचता है उस का प्रभाव किंचित सबों पर पड़ता है क्योंकि सब एक आत्मसूत्र में ग्रथित हैं किंतु किसी २ पर विशेष रूप से और किसी पर नाम मात्र का पड़ता है। यदि "किसी का उपकार हो" ऐसी भावना की जाय तो उस के द्वारा उस इच्छित पुरुष का किंचित उपकार होना अवश्य सम्भव है किंतु उस संकल्प से बनी हुई भुवर्लौकिक मानसिक मूर्ति को उपकार करने की शक्ति उस के कर्त्ता को मनोयोगशक्ति और आंतरिक योग्यता पर निर्भर रहेगी। * किसी

* यदि कोई शक्तिमान पुरुष अत्यन्त शक्तिमती भुवर्लौकिक मानसिक मूर्ति बनावेगा तो वह उस के कर्त्ता के स्थूल्य शरीर त्यागने पर भी अनेक समय तक रह सकती है। किसी कामना को रख के मंत्र जपते जपते भी भुवर्लौकिक मानसिक मूर्ति बनती है जो शक्तिमान होनेपर साधक के इच्छित कार्य्य के सम्पादन में प्रवृत्त होती है। कोई २ मंत्र इस प्रकार बनाया जाता है कि बनानेवाला जिसको शक्तिमान पुरुष होना चाहिये अत्यन्त मनोयोग से कुछ समय तक भावना करता रहता है कि जो इस मंत्र को धारण करेगा उस को अमुक फल का लाभ होना चाहिये, ऐसा करके वह एक भुवर्लौकिक मानसिक मूर्ति प्रस्तुत करता है और

भावना के द्वारा मानसिक मूर्ति के बनने पर एक चित्र उस का इस भूताकाश में भी बनता है, केवल भावना ही का नहीं, किंतु जैसे फोटोग्राफ् यंत्र के सामने जो कोई वस्तु आती है वह उस में तत्काल चित्रित हो जाती है, उसी प्रकार जो कुछ प्राणीमात्र करते हैं, सोचते हैं, बोलते हैं, भावना करते हैं और इच्छा करते हैं वे सब और उनके परिणाम आकाश में भी चित्रित होते हैं जिसका नाश कल्प के अंत पर्यन्त नहीं होता। यही चित्रगुप्त का खाता है जिसमें सब कर्मों के चित्र गुप्तभाव से अंकित रहते हैं।

पहिले कह चुके हैं कि जो कुछ सोचा जाता है उस का प्रभाव चित्त पर पड़ता है जिसको मानसिक चित्र कहते हैं और उन में से एक भी शरीर रहने तक नाश नहीं होता, यद्यपि भुवर्लौकिक मानसिक मूर्ति जो उन से बनती है नाश हो जाती है।

मरने के बाद साधारण श्रेणी का जीव पहिले भुवर्लोक जाता है और वहां सूक्ष्म शरीर में रहता है जो भुवर्लोक की प्रकृति का बना हुआ है और इन्द्रियों की वासना का मुख्य स्थान है। इस भुवर्लोक में सात अन्तरविभाग हैं। जिस जीव को संसार में रहने के समय इन्द्रियों के विषयभोग की वासना अधिक थी और जो विशेष कर उसी की प्राप्ति में यत्नवान रहता था, उसके सूक्ष्म शरीर में भुवर्लोक के नीचे के भाग के अणु का विशेष भाग रहेगा और वह मरने के बाद भुवर्लोक के नीचे के भाग में उस भाग के अणु की अधिकता उसमें रहने के कारण अपने को पावेगा और वहां उस के उन दुष्ट भावनाओं और क्षुद्र संकल्पों का स्फुरण होगा जिन को उसने जीते में सोचा था, और स्फुरण होने पर उन्हीं भावनाओं की चिन्ता करने में प्रवृत्त होगा, किन्तु स्थूल शरीर के कारण उनवासनाओं की पूर्ति वह नहीं कर सकेगा जिसके कारण वह दुःख अर्थात् यातना पावेगा। इसका परिणाम यह होगा कि उन का संस्कार उसके चित्त में और भी भुवर्लोक के नीचे

उसको अपनी शक्ति से शक्तिमती करता है जिसका यही तात्पर्य होता है कि जो उस यंत्र को धारण करे उस को निश्चत फल प्राप्त कराने की चेष्टा करे। किन्तु जब २ उस मूर्ति को अपने कार्य्य में प्रवृत्त होना पड़ता है तब २ उसकी शक्ति थोड़ी २ करके नाश होती जाती है और जब कुछ शक्ति न रहने के कारण वह स्वतः नाश होजाती तब वे उस यंत्र में प्रभाव नहीं रहता।

ाग में बीजरूप से रहेगा और जब दूसरे जन्म के लेने के लिये वह जीव स्वर्लोक से फिर भुवर्लोक में आवेगा तो फिर उस बुरे संस्कार का उसमे स्फुरण होगा और तब वह वहां उस संस्कार के समान स्वभाव के भुवर्लोक के अणुओं को आकर्षित करेगा और उन्हीं से उसका नया सूक्ष्म शरीर प्रस्तुत होगा और उसमें वह संस्कार विषयवासना, दुष्ट स्वभाव इत्यादि रूप में दूसरे जन्म में प्रकाश होगा, जिस के कारण उस मे स्वभावतः दुष्ट कर्म करने की विशेष प्रवृत्ति होगी। जिस पुरुष के इन्द्रिय अपने वश में थे और दुष्ट विषयवासना जिस में न थी, वह मरने के बाद अपने को भुवर्लोक के ऊपर के उत्तम विभाग में पावेगा, किन्तु जो निर्लेप थे और जिस में किंचित भी कोई स्वार्थसम्बन्धी सांसारिक वासना न थी, उस की स्थिति भुवर्लोक में न हो के वह सीधे उस के ऊपर के लोक स्वर्ग मे चला जायगा। साधारण श्रेणी का जीव जिस में उत्तम वासना और दुष्ट वासना दोनों रहती हैं वह भुवर्लोक में रह कर उस से छुटकारा पाकर स्वर्लोक में जाता है * और भुवर्लोक में जिन क्षुद्र, दुष्ट और साधारण भावनाओं के मानसिक चित्रों का संस्कार उस के चित्त में पड़ा था वह संस्कार स्वर्लोक में जाने पर अप्रकाश भाव से उस के अन्तष्करण के बाह्यभाग में रहता है, † क्योंकि स्वर्लोक में उत्तम भावना के मानसिक चित्र को छोड़ कर दुष्ट भावना के चित्र जा नहीं सकते

---

* सभी मनुष्य भुवर्लोक के बाद किंचित काल के लिये भी स्वर्लोक में अवश्य जाते हैं, किंतु नीचे श्रेणी के जीव स्वर्लोक में सोये हुए की भांति रहते और उनको वहां कुछ विशेष अनुभव नहीं होता।

† केवल उत्तम भावना से कारणशरीर की वृद्धि होती है और उसी का संस्कार उस में सदा रहने के लिये पड़ता है। किन्तु दुष्ट भावना का संस्कार उसके भीतर प्रवेश नहीं करसकता। जब जीव स्वर्लोक में जाता है तब भी बुरा संस्कार उसमें संलग्न अवश्य रहता है किन्तु वह कदापि कारणशरीर में संलग्न नहीं हो सकता। प्रत्येक जन्म के अंत होने पर स्थूल और सूक्ष्म शरीर नाश होजाते हैं केवल कारणशरीर नाश न होकर सदा बना रहता है। क्योंकि केवल उत्तम भावना का ही संस्कार कारणशरीर में पड़ता है, अतएव प्रत्येक जन्म में से केवल उत्तम भावना रूपी फल ही कारण शरीर को प्राप्त होता है और सिवाय उन के अन्य सब अशुभ संस्कार कारणशरीर में नहीं प्रवेश करने के कारण व्यर्थ हो जाते हैं और सिवाय हानि के उनसे कुछ लाभ नहीं।

और वहां जो २ उत्तम भावनायें सोची गई थीं केवल उन्हीं का स्फुरण होता है दुष्ट भावना का कदापि नहीं ।

स्वर्गलोक में जाने पर जीव की सोची हुई उत्तम भावनाओं के जो मानसिक चित्र बने रहते हैं उन का एक २ कर के स्फुरण होता है और किसी एक के स्फुरण होतेही वह वहां प्रत्यक्ष होजाता है, अर्थात् उस भावना के अनुसार वह काम करने में प्रवृत्त होता है और तब उसका संस्कार उस जीव में पड़ता है। जैसा कि किसी को यदि इस संसार में रहने के समय शास्त्रज्ञ पण्डित होने की तीव्र लालसा हो, किंतु यत्न करने पर भी पूर्ण नहीं हो तो उस के स्वर्ग में जाने पर इस अपूर्ण इच्छा से बनाहुआ मानसिक चित्र उस के सामने आवेगा और प्रत्यक्ष होजायगा अर्थात् वह अपने को वहां शास्त्रज्ञ पण्डित पावेगा जिस के कारण आगामीजन्म में शास्त्रज्ञ पण्डित होने की योग्यता का संस्कार मूल रूपसे उसमें पड़जायगा और दूसरे जन्म में वह अवश्य शास्त्रज्ञ पण्डित होगा। योग-वशिष्ठ में भी लिखा हुआ है कि मरने के बाद पूर्व के संकल्प सब प्रत्यक्ष होके भासने लगते हैं। रात्रि में भोजन करके सोने पर जैसे भोजन किये हुए पदार्थ को मनुष्य पचाता है जो पच कर शरीर की पुष्टि के लिए उसका एक भाग होजाता है, वैसेही स्वर्लोक में मनुष्य अपने उत्तम भावना से बनेहुए मानसिक चित्र रूप मानसिक भोजन को अनुभव और अभिनय करके परिपक्व करता है और संस्काररूपी सार उन में से निकाल के उससे अन्तष्करण अथवा कारणशरीर की वृद्धि करता है। शास्त्र में स्वर्गलोक में भोगने की जो बात कथित है उस भोग का एक तात्पर्य्य यही है। और भी वह जीव नाना प्रकार के अपने किये हुए कर्मों का सुखद और दुःखद फल जो उसने जीवन में पाये हैं उन पर विचार करके उससे सारग्रहण करता और सचेत और सावधान होता है और इसका संस्कार भी उस में पड़ता है जिसके कारण उसके बाद के जन्मों में उसको उस दुःखद फल देनेवाले कर्मों की ओर स्वभावतः निवृत्ति रहती है और सुखद फल देने वाले कर्मों को ओर स्वभावतः प्रवृत्ति होती है। इस संस्कार के कारण एक जन्म की वासना और इच्छा उसके बाद के जन्म में योग्यता होती है और वैसेही बार २ की

साधी हुई भावना दूसरे जन्म में स्वभाव होके प्रकट होती है। मनुष्य की आन्तरिक योग्यता जैसा कि विचार शक्ति, विद्या प्राप्त करने की शक्ति, उत्तम और उच्च स्वभाव, बुद्धि की तीक्ष्णता, धर्मप्रवीणता इत्यादि सद्गुण पूर्वजन्मकी उत्तम भावनाओं के परिणाम हैं, वैसेही क्षुद्रता, इन्द्रियों के दुष्ट विषयों में आसक्ति, अविवेकता, स्वार्थपरायणता, धर्मविमुखता क्रोध, लोभ इत्यादि २ असद्गुण पूर्वजन्म की दुष्ट भावना के परिणाम हैं। सद्गुण आन्तरिक योग्यता होने के कारण अन्तष्करण का एक भाग होजाता है. अतएव जो सद्गुण एकबार प्राप्त होता वह फिर खोया नहीं जासकता। क्योंकि यथार्थ आनन्द आंतरिक सद्गुणप्राप्ति ही से मनुष्य को होता है और उसी से मनुष्य की यथार्थ उन्नति होती है, अतएव सद्गुण प्राप्त करने की विशेष चेष्टा करनी चाहिये जिस के निमित्त उत्तम भावना करने, भक्तिभाव रखने शुद्ध संकल्प रखने, विवेक बढ़ाने इत्यादि २ में विशेष संलग्न रहना चाहिए और इनमें विशेष प्रवृत्ति करनी चाहिए।

किसी जीव का जब जन्म लेने का समय आता है तो कर्म-देवता लोग उस जीव के कर्म्मों को जो आकाश में चित्रित रहते हैं और जो चित्रगुप्त का खाता है उस में देख के उसी के अनुसार उस जीव के निमित्त छायाशरीर प्रस्तुत करते हैं और जैसा देश, जैसी जाति, जैसा वंश और जैसे मातापिता के घर में जन्म लेने से उस को अपने किये हुए कर्मों के फल भोगने का ठीक २ अवसर मिलेगा, वैसेही जन्म उस को दिया जाता है और ऐसा निश्चय करने पर उपयुक्त माता के गर्भ में वह छायाशरीर प्रवेश कराया जाता है, और उस के सांचे पर स्थूल शरीर बनता है। यदि कर्मदेवता लोग ऐसा निश्चय करेंगे कि कर्मानुसार किसी जीव को १० वर्ष की उमर में ही अंधा हो जाना चाहिये अथवा १८ वर्ष में उस को अमुक व्याधि होनी चाहिये जिस को अमुक अवधि तक रहनी चाहिये तो वे उस जीव के ऐसे गर्भ में जन्मदेंगे जहां मातापिता द्वारा उसका वीज उस के शरीर में आवेगा और छाया-शरीर का ऐसा नेत्र बनावेंगे कि स्थूलशरीर का भी नेत्र उसी अनुसार होने के कारण ठीक १० वें वर्ष मे वह अंधा हो जायगा, और भी छायाशरीर में अठारवें वर्ष में आनेवाली व्याधि का बीज

इस परिमाण से रख देंगे कि ठीक उसी समय में वह व्याधि प्रगट होगी और उतनीही अवधि तक रहेगी ।

भावना, और भाव संकल्पादि के कारण जैसी आन्तरिक योग्यता होती है उसी प्रकार वाहरी सामान अर्थात धन, रूप, मकान, कुटुम्ब परिवार, हाथी, घोड़ा इत्यादि २ पूर्व जन्म के शारीरिक कर्मानुसार मिलते हैं । पूर्व जन्म में यदि किसी मनुष्य ने दुःखियों को अन्न, वस्त्र, औषध इत्यादि दे के सुख दिया, और धर्मशाला, तड़ाग, कूआं, सड़क इत्यादि बनवा के सर्व साधारण को सुखी किया हो तो दूसरे जन्म में अवश्य सुख देनेवाली अवस्था में उस का जन्म होगा और दूसरों के सुखी करने के कारण उस को भी अवश्य सुख मिलेगा। यदि कोई परोपकारी काम जैसा कि चिकित्सालय, धर्म्मशाला इत्यादि के बनवाने में स्वार्थ की दृष्टि से (जैसा कि यश पाना, सरकार से उपाधिपाना, इत्यादि २) प्रवृत्त हुआ होगा और उत्तम भावनाओं के उस में अभाव रहेगा तो दूसरे जन्म में वह धनी अवश्य होगा और सुख के सामान तो ऐसे पुरुष को अवश्य मिलेंगे किंतु आंतरिक योग्यता और सद्गुण उस मे न होंगे, वह मन्द बुद्धि होगा, स्वार्थी होगा; और स्वार्थपरायण और धन से मदांध होके यदि उस जन्म में दुखियों की दीनदशा देख उन पर दया न करेगा (जैसा कि प्रायः ऐसे लोगों की दशा होती है) और उन की सहायता न करेगा, तो उस के बाद के जन्म में वह दरिद्र होगा और तब वह जानेगा कि दुःख क्या है जिसका ज्ञान होने पर वह दुःखियों पर दया करना सीखेगा । यदि कोई किसी उत्तम मानसिक कर्म में (यथा उत्तम २ ईश्वरसम्बन्धी भावनाओं का सोचना) सदा प्रवृत्त रहता है, किंतु शरीर से किसी का उपकार नहीं करता, अर्थात् किसी प्रकार शारीरिक सुख दूसरों को भोजन, वस्त्र, रोग विमोचन आदि कर्म द्वारा नहीं दिया तो ऐसा पुरुष दूसरे जन्म में आंतरिक योग्यता तो बहुत ऊंची श्रेणी का पावेगा और ज्ञानवान पण्डित होगा किन्तु वाह्यसामान में उसे कमी रहेगी । किंतु ऐसा दरिद्र पण्डित भी उस स्वार्थी और मन्दबुद्धि धनी से बहुत ही उत्तम है, क्योंकि उस धनी का स्वार्थपरायण होने के कारण उस के बाद का जन्म बुरा होगा अर्थात् वह दरिद्र होगा किंतु निर्धन पण्डित अपनी आंतरिक श्रेष्ठ योग्यता और सद्गुण के कारण प्रत्येक जन्म में यथार्थ उन्नति करता

जायगा और ईश्वर मुख होता जायगा और अंत में ईश्वरप्राप्ति करेगा। और भी स्वार्थी धनी सद्गुणविहीन होने के कारण यथार्थ आंतरिक आनन्द को प्राप्त न करसकेगा, किंतु निर्धन पण्डित आंतरिक योग्यता और सद्गुण से विभूषित होने के कारण सदा प्रसन्न रहेगा और आनन्द लाभ करेगा, जो आनन्द विषयी को कदापि नहीं मिल सकता। अतएव लोगों को आंतरिक योग्यता और सद्गुण प्राप्त करने का विशेष यत्न करना चाहिये क्योंकि यही परम धर्म है और इसी से लोगों का यथार्थ कल्याण है।

मनुष्यके मस्तकको चारो ओर सूक्ष्म तेज रहता है और उसमें लोगों की भावनाओं का प्रभाव पड़ता है और नियत प्रकार की भावना से नियत प्रकार का रंग उस में उत्पन्न होता है। जो लोग भीतर से मलिन हैं और जिन का चित्त दुष्ट कर्मों के करने में प्रवृत्त रहता है वे ऊपर से कैसाही स्वच्छ और सुंदर क्यों न रहें और अपने को धर्मात्मा प्रसिद्ध करने का कितनाही यत्न क्यों न करें, किंतु सूक्ष्मदर्शी योगी की सूक्ष्मदृष्टिके आगे उनके सब दोष प्रगट रहते हैं, वे उनके मस्तक के पार्श्ववर्ती तेज के रंगों को देख के उन के सब चरित्र और स्वभाव समझ जाते हैं।

ऊपर कथित सिद्धांत से यह भलीभांति प्रगट है कि मानसिक भावना का बड़ा प्रबल प्रभाव है और यह प्रभाव मनुष्य को इस जन्म से लेकर और भी मरने के बाद लोकान्तर तक और भी अगामी जन्म तक चलाजाता है और मनुष्य की यथार्थ उन्नति और अवनति मानसिक भावना पर ही विशेष कर के निर्भर हैं और भी यह कि कोई मानसिक भावना व्यर्थ नहीं हो जाती, उसका प्रभाव अवश्य और विशेष होता है। यही कारण है कि शम और दम आदि को ऋषियों ने बड़े आवश्यक बताये हैं। हमलोग अपनी मानसिक भावना द्वारा अपनी हो हानि लाभ नहीं करते किंतु उससे दूसरों की भो हानिलाभ होते हैं, अतएव मानसिक भावना, संकल्प और वृत्तिके उत्पन्न करने में हमलोगोंको सदा और निरंतर सावधान रहना चाहिए अर्थात् कदापि कोई दुःसंकल्प, कुत्सित भावना और दुश्चिन्ता अंतःकरण में नहीं आने देना चाहिए और यदि आवे तो शीघ्र उनके विरुद्ध शुद्ध भावना द्वारा उनका दमन करना चाहिए और सदा निरन्तर पवित्र भावना, मंगल-कामना, शुभचिन्ता,

कल्याणकारी संकल्प और ईश्वर में तन्मयता आदि का अभ्यास करते रहना चाहिये ।

कर्म तीन प्रकार का है, १ संचित २ प्रारब्ध ३ क्रियमाण । अनेक जन्मों के किये हुए जो कर्म इकट्ठे रहते हैं उन को संचित कर्म कहते हैं और उनका एक भाग जिस को किसी एक जन्म में भोगना पड़ता है उसको प्रारब्ध कर्म कहते हैं, और प्रतिजन्म में जो नूतन कर्म मनुष्य करता है, जो उस के बाद के जन्म में संचित अथवा प्रारब्ध कर्म होजाता है वह क्रियमाण कर्म है, जिसके द्वारा कर्म की वृद्धि होती है । प्रारब्ध कर्म भोगने ही से नाश होता है और उस का आना कदापि रुक नहीं सकता अर्थात् प्रारब्धकर्मानुसार इस जन्म में जिस को जैसी अवस्था में रहना है, जितना धन सम्पत्ति उस के पास होना है और जितनी वस्तु उसे प्राप्त करनी है उतनी अवश्य होगी और उस में न्यूनाधिक नहीं हो सकता । वर्तमान हमलोगों के हाथ में नहीं है, अर्थात् यह प्रारब्ध कर्मानुसार ही रहेगा किंतु भविष्य अर्थात् परजन्म की दशा हमलोगों के हाथ में है । जैसे बीतेहुए जन्म का क्रियमाण कर्म ही प्रारब्ध होके उस के बाद के जन्म की अवस्था का कारण होता है, वैसेही इस जन्म का क्रियमाण कर्म ही आगामी जन्म में प्रारब्ध कर्म होगा, अतएव भविष्यत लोगों के हाथ में है, प्रारब्ध कर्म की परिधि में पड़के इस जन्म में जैसा कर्म करेगा तदनुसार ही उस की अवस्था अगामी जन्म में होगी । आगामी जन्ममें वह जैसा होना चाहता हो वैसा कर्म अभी उस को करना चाहिये और तब वह वैसा अवश्य होगा । किन्तु इस नियम को न जान प्रायः लोग क्रियमाण कर्म द्वारा अपनी भविष्यत की अवस्था के बनने का यत्न न करके क्रियमाण को केवल वर्तमान अवस्था की उन्नति करने में लगाते हैं अर्थात् इस जन्म की वर्तमान अवस्था से संतुष्ट न हो विशेष धनी और सुखी होने के यत्न में प्रवृत्त होते हैं, अर्थात् क्रियमाण कर्म को वर्तमान अवस्था की ही उन्नति के यत्न में लगाते हैं और भविष्यत उन्नति के विषय में कहते हैं कि " प्रारब्ध में होगा तो धर्म करेंगे, प्रारब्ध स्वतः करवादेगा", किन्तु परिणाम इस का यह होता है कि क्रियमाण कर्म जिस के द्वारा हमलोग अपनी भविष्यत् उन्नति कर सकते हैं वह व्यर्थ होजाता है, क्यों कि उस को वर्तमान जन्म की अवस्था की उन्नति में लगाते हैं जो प्रारब्ध-

कर्मानुसार होने के कारण क्रियमाण से सुधर नहीं सकती, किंतु उस क्रियमाण कर्म द्वारा जो भविष्यत की अवस्था उत्तम बन सकती है वह नहीं कीजाती। अतएव हमलोगों के पुरुषार्थ और अध्यवसाय ठीक मार्ग के अनुसरण नहीं करने के कारण निष्फल होजाते हैं। हमलोगों को चाहिए कि प्रारब्धकर्म के फल को धैर्य से भोगें, आवश्यक पुरुषार्थ अवश्य करें और कर्तव्यपालन में शिथिलता न करें किन्तु विशेष चेष्टा भविष्यत की उन्नति के लिए शुभ कर्म और भावना द्वारा करें। इसी प्रकार यदि हमलोग पूरी दृढ़ता से समझेंगे कि शुभकर्म से ही शुभ फल मिलेंगे, दुष्कर्म के फल अवश्य दुष्ट ही होंगे, सुखद कदापि नहीं, तो हमलोग अवश्य शुभकर्म काही अनुसरण करेंगे और दुष्कर्म से कोसोंभागेंगे। चूंकि हमलोग कर्म पर विश्वास नहीं करते, परलोक और परजन्मकी परवाह नहीं करते, कर्म के फलको अटल नहीं मानते, इसी कारण हमलोग मोहमें फंसे हैं और धर्म के बदले अधर्म में रत रहते हैं। अतएव यह आवश्यक है कि हमलोग कर्म और कर्म के फल के अटल होने पर दृढ़ विश्वास रक्खें और व्यवहार में इस को कदापि न भूलें। प्रत्येक कर्म को उस कर्म के फल के परिणाम रूपी कसौटी पर जाँचलें और तब यदि भविष्यत में भी वह उत्तम फल देने वाला मालूम पड़े तो करें नहीं तो कदापि न करें। कर्म को कदापि केवल उसके तात्कालिक फल जो यथार्थ में क्षणिक और स्वल्प होता है उसी के कारण न करना चाहिए किन्तु उसके भविष्यत के परिणाम पर अच्छी तरह विचार कर करना चाहिए। यदि ऐसा मालूम हो कि किसी कर्म के फल तत्काल में किसी प्रकार सुखद और लाभप्रद होगा किन्तु भविष्य में उस सुख अथवा लाभ से कईगुणा अधिक दुःख और हानि होगी जिनका प्रभाव विशेष व्यापी होगा; तो ऐसे कर्म को कदापिनहीं करना चाहिए। यदि किसी कर्म से तत्काल में सौ रुपए लाभ हों किन्तु कुछ दिनों के बाद एक हजार एकसौ उसके कारण दुःखके साथ देनापड़े तो बुद्धिमान ऐसे कर्म को कदापि नहीं करेगा। किन्तु हमलोग अधर्म कर्म के करने से तत्काल में कुछ लाभ पाने के लोभ में पड़ कर उसको करडालते हैं और भविष्यत में जो उससे बहुत बड़ी हानि होगी उसकी परवाह नहीं करते किन्तु ऐसा व्यवहार परम मूर्खता और अज्ञानता का परिणाम है जिसका त्याग अवश्य करना चाहिए। बुद्धिमान वही

है जो किसी कार्य्य के भविष्यत परिणाम को समझ कर ही कार्य्य करता है और तत्काल के लाभालाभ को बहुत गौण समझता है।

जो कुछ कर्म किये जाते हैं वे व्यर्थ नहीं होते, कर्त्ता को उन का फल अवश्य भोगना पड़ता है। जैसा कर्म कियाजाता वैसा फल मिलता है, जिस फल के पाने का कर्म किया नहीं गया वह फल मिल नहीं सकता। ऐसा कुछ भी नहीं किसी को हो सकता जो कि उस के किये हुए कर्म का फल न हो, अतएव अवश्य होने वाला न हो ऐसा जान के लोगों को सदा संतुष्ट और निर्भय रहना चाहिये *। लिखा है कि:—

यथा छायातपौ नित्यं सुसम्बद्धौ निरन्तरम्।
तथा कर्म च कर्त्ता च सम्बद्धावात्मकर्मभिः ॥७५॥

महाभारत अनुशासन पर्व अध्याय १।

यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम्।
तथा पूर्वकृतं कर्म कर्त्तारमनुगच्छति ॥१६॥

महाभारत शान्तिपर्व अध्याय १८१।

न नश्यति कृतं कर्म सदा पञ्चेन्द्रियैरिह।
ते ह्यस्य साक्षिणो नित्यं षष्ठ आत्मा तथैव च ॥७॥

महाभारत अनुशासन पर्व अध्याय ७।

जैसे छाया और घाम सदा एक दूसरे के साथ रहता है उसी तरह से कर्म और उस का कर्त्ता कर्म कियेजाने के कारण एक दूसरे

* कोई किसी प्रकार की हानि अथवा दुःख को नहीं पाना चाहता, किन्तु दुष्ट कर्म जिस के कारण हानि और दुःख होते हैं उस को बेधड़क करता है और करते समय आगामी परिणाम का विचार नहीं करता जो अविवेकता है। जीव जब दुष्ट कर्म का दुःखद फल पाता है तब उस को खेद होता है और उस के कारण उस दुष्ट कर्म को जिस का फल उस ने भुगता है फिर नहीं करता, जिसका ज्ञान संस्काररूपसे चित्त में रहता है, यद्यपि विषयासक्त मन को पूर्व जन्मों की घटनाओं की तरह यह भी स्मरण नहीं रहता किन्तु अन्तर के जीवात्मा को इनसब का ज्ञान बना रहता है। अतएव दुष्ट कर्म का दुःखदफल जो दियाजाता है यह जीव को उपकार ही करता है इस कारण दुःख आने पर भी भीतर से प्रसन्न ही रहना चाहिये।

के साथ बंधा रहता है ॥ ७५ ॥ जैसे सहस्रों गौओं में भी बाछा अपनी माता ही के निकट चला जाता है वैसेही पूर्वजन्मकृत कर्म कर्ताकेही निकट आता है ॥ १६ ॥ इस जन्म में पंचेन्द्रिय द्वारा सतत किए हुए कर्म का फल कभी नाश नहीं होता, पंचेन्द्रिय और छठा आत्मा सर्वदा उस के साक्षी होते हैं। और

नाभुक्तं चीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि ।
अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाऽशुभम् ॥३९॥
शुभाशुभं च यत्कर्म विना भोगान्न च चयः ।
भोगेन शुद्धिमाप्नोति ततोमुक्तिर्भवेन्नृणाम् ॥४०॥

ब्रह्मवैवर्त, कृष्णजन्म खण्ड, उत्तरार्द्ध अध्याय ८४ ।

बिना भोगे कर्मसौ कोटि कल्प के बीतने पर भी नहीं नाश होता, किये हुए शुभ और अशुभ कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ता है ॥ ३९ ॥ शुभ और अशुभ कर्म बिना भोगे नाश नहीं होते, उन को भोग के पवित्र होता और तब मनुष्य की मुक्ति होती है। कर्म का फल सबों को होता है। लिखा है कि:—

पूर्वदेहकृतं कर्म शुभं वा यदि वाऽशुभम् ।
प्राज्ञो मूढस्तथा शूरः भजते यादृशं कृतम् ॥४६॥

महाभारत शान्तिपर्व अध्याय १७४ ।

पूर्वजन्म में जैसा शुभ और अशुभ कर्म किया हुआ रहता है वैसेही फल विद्वान, मूढ़ और शूर पाता है। क्योंकि

शुभेन कर्मणा सौख्यं दुःखं पापेन कर्मणा ।
कृतं फलति सर्वत्र नाकृतं भुज्यते क्वचित् ॥१०॥

महाभारत अनुशासन पर्व अध्याय ६ ।

कर्मणा जायते जन्तुः कर्मणैव प्रलीयते ।
सुखं दुःखं भयं क्षेमं कर्मणैवाभिपद्यते ॥१३॥

भागवत पुराण स्कन्ध १० अध्याय २४ ।

शुभ कर्म से सुख मिलना है और पाप कर्म के करने से दुःख होता है, सर्वत्र मनुष्य कियेहुए का ही फल पाता है और जो नहीं किया उस का फल कदापि कोई नहीं भोगता । कर्म से जन्तु की उत्पत्ति होती है और उसी से लय भी होता है और कर्म ही द्वारा सुख, दुःख, भय और कुशल प्राप्त होते हैं ॥३१॥ और

येन येन शरीरेण यद्यत् कर्म करोति यः ।
तेन तेन शरीरेण तत्तत् फलमुपाश्नते ॥४ ॥

महाभारत अनुशासन पर्व अध्याय ७ ।

जिस शरीर से जो कर्म करता है उसी शरीर से उस कर्म का फल पाता है । गोस्वामी तुलसीदास जी ने लिखा है कि—

चौपाई ।

कर्म प्रधान विश्व करि राखा ।
जो जस करै सो तस फल चाखा ॥
मेटि जाय नहिं रामरजाई ।
कठिन कर्म गति कछु न बसाई ॥
जनम मरन सब दुख सुख भोगा ।
हानि लाभ प्रिय मिलन बियोगा ॥
काल कर्म बस होंहिं गुसांईं ।
बरबस राति-दिवस की नाईं ॥
शुभ अरु अशुभ कर्म अनुहारी ।
ईश देइ फल हृदय बिचारी ॥
करै जो कर्म पाव फल सोई ।
निगम नीति अस कह सब कोई ॥

कौन काहु दुख सुख कर दाता।
निज कृत कर्म भोग सब भ्राता॥

[मानसरामायण।

काल भी कर्मानुसार ही लोगों को फल देता है। क्योंकि गौतमी के पुत्र के सर्प से दंशित होकर मृत्यु पाने पर काल ने कहा कि:—

अकरोधदयं कर्म तन्नोऽर्जुनक चोदकम्।
विनाशहेतुर्नान्योऽस्य बध्यतेऽयं स्वकर्मणा॥७१॥

महाभारत अनुशासनपर्व अध्याय १।

जैसा कर्म इस ने किया था वही अर्जुन नामक इस सर्प को प्रेरणा करके कटवाया, इस बालक के विनाश का हेतु दूसरा कोई नहीं है अपने कर्म ही से यह बाधित होता है। और भी लिखा है कि:—

सुखं दुःखं भयं शोकं जरां मृत्युं च जन्म च।
सर्वे कर्मानुरोधेन कालएव करोति च।

ब्रह्मवैवर्त कृष्णजन्मखण्ड उत्तरार्द्ध अध्याय ६०।

सुख, दुख, भय, शोक, बुढ़ापा और मरण इन सब को कर्म के अनुसार ही काल भेजता है। और

न नष्टं दुष्कृतं कर्म सुकृतेन च कर्मणा।
न नष्टं सुकृतं कर्म कृतेन दुष्कृतेन च॥४१॥

ब्रह्मवैवर्त पुराण कृष्णजन्मखण्ड अध्याय ८४।

दुष्टकर्म शुभ कर्मके करने से नाश नहीं होते और शुभ कर्म भी दुष्ट कर्म के करने से नाश नहीं होते अर्थात् शुभ अशुभ दोनों कर्म के फल भोगने पड़ते हैं; आपस में मुजरा दोनों में नहीं होता।

योगवशिष्ट के अनेक स्थलों में लिखा है कि पूर्व जन्म का अपना कियाहुआ कर्म ही दैव है और मत्स्यपुराण के १६५ अध्याय में भी लिखा है कि पूर्वजन्मों के कियेहुए कर्मों के संस्कार और परिणाम को दैव कहते है, अतएव पुरुषार्थ अर्थात् क्रियमाण कर्म से सब कुछ काल पाके मिलसकता है। ऐसा समझना कि

"प्रारब्ध में होगा तो स्वतः ज्ञानी अथवा भक्त होजाऊंगा, अपने करने से कुछ न होगा" और इसी पर भरोसा रख उस के निमित्त यत्न नहीं करना अविवेकता है, विना यत्न किए और केवल प्रारब्ध के भरोसे पर रहे कोई वैसा कदापि न होगा।

अकृत्वा मानुषं कर्म यो दैव मनुवर्त्तते ।
वृथा श्राम्यति सम्प्राप्य पतिं क्लीवमिवाङ्गना ॥२०॥
कृतः पुरुषकारस्तु दैवमेवानुवर्त्तते ।
न दैवमकृते किञ्चित् कस्यचिद्दातुमर्हति ॥२२॥

महाभारत अनुशासन पर्व अध्याय ६ ।

जो मनुष्य पुरुषार्थ न करके केवल दैव पर भरोसा रखता है वह व्यर्थ परिश्रम करता है, जैसे नपुंसक पुरुष को पाकर स्त्रियों का परिश्रम वृथा है।

पुरुषार्थ करने ही पर उस के अनुसार दैव फल देता है किन्तु पुरुषार्थ नहीं करने पर किसी को दैव कुछ नहीं दे सकता।

जो एक जन्म में अपनी योग्यता और अवसर को कर्तव्यपालन और परोपकारी काम के करनेमें और ईश्वर की तुष्टि में लगाता है उसको दूसरे जन्म में उस से विशेष योग्यता और अवसर उन कामों के करने के लिये मिलते हैं, किन्तु जिसने अपने अवसर को व्यर्थ जाने दिया अर्थात् जिस उत्तम और उपकारी कर्म के करने योग्य वह था उन को नहीं किया तो दूसरे जन्म में ऐसा होगा कि उन कर्मों के करने की तीव्र लालसा तो उस में रहेगी किन्तु उनके करने की योग्यता वह अपने में नहीं पावेगा जिस के कारण अत्यंत दुःखित होगा। और भी वह पुरुष जिसको अपने किसी आश्रित का पालन पोषण करना कर्त्तव्य था किन्तु उसको उसने नहीं किया और पालन पोषण करनेके बदले उसको हानि की, तो दूसरे जन्म में वही जिसकी हानि उसने की उसका एक मात्र पुत्रहोके जन्म लेगा और युवा होने के पहिले मरके उस को पुत्रशोक दे कर्म का बदला सधावेगा। एक जन्म में जिस को हम लोग व्यर्थ घृणा करते, हानि करते और शत्रु समझते हैं, वही प्रायः दूसरे जन्म में

अन्य कोई सम्बन्धी होके जन्म लेता है जिस के साथ सदा विरोध ही बना रहता है और उसके द्वारा दुःख भोगना पड़ता है।

पूर्ण सिद्ध और योगी लोग प्रायः प्रारब्ध कर्मके वेग को कम कर दे सकते हैं जो उन के अपने प्रारब्ध कर्म के ज्ञान हो जाने के कारण होता है। यदि ऐसे योगी को जान पड़ेगा कि पूर्वजन्म में जो उन ने अमुक श्रेणी के पशुओं को दुःख दिया था उसका फल अमुक समय में अमुक रूप में आवेगा तो उसके बहुत पूर्व ही से ऐसा कर्म करना प्रारम्भ करेंगे जिससे उन पशुओं को सुख मिलेगा जिसके कारण आनेवाले प्रारब्ध कर्म की कठिनाई बहुत कम हो जायगी, ऐसे ही वह अन्य दुष्ट प्रारब्ध कर्म के विरुद्ध उपयुक्त उत्तम कर्म कर के उसको किंचित् ह्रास कर देंगे।

आज कल जन साधारण में कर्म और अवश्यम्भावी कर्म के फल पर ठीक विश्वास नहीं है। लोग दृढ़ निश्चय करके यह नहीं समझते कि कर्म अनिवार्य्य है और कर्म्म करने पर उसका फल अवश्य भोगना पड़ेगा और लोग यह भी नहीं समझते कि उनकी वर्त्तमान अच्छी अथवा बुरी अवस्था अपने किए हुए पूर्व-कर्म का फल है। यदि कर्म पर विश्वास किसी प्रकार सिद्धान्त की भांति हो भी तथापि लोग उक्त विश्वासको व्यवहार में एकदम भूल जाते हैं और कार्य्यमें परिणत नहीं करते और इसके अनुसार कार्य्य नहीं करना चाहते, जिसके कारण वे धोखा खाते हैं और बुरे कर्म के कारण बड़े २ क्लेश पाते हैं और तब पछताते हैं जो व्यर्थ है। यदि लोगों को ठीक ठीक यह दृढ़ विश्वास व्यवहार में रहे कि किसी दुष्ट कर्म का अनिष्ट फल उनको अवश्य भोगना पड़ेगा जो उस कर्म के करने से जो क्षणिक और स्वल्प सुख मीलने की आशा उनका है उसको मात्रा से अनेक गुणा अधिक उस दुःख फल को मात्रा होगी, तो वे कदापि उस दुष्ट कर्म को नहीं करेंगे। कौन ऐसा है कि जिसको यदि यह ठीक मालूम रहे कि आज किसी से दश रुपए कर्जा लेने पर और उस रुपए की सामग्री से सुख उठाने पर भी एक सप्ताहके बाद उसको दश रुपये के बदले एक सौ रुपए देने होंगे और उनके देनेकी सामर्थ्य उसमें न रहनेसे दासवृत्ति अनेक समय तक करके उस ऋण का उसको परिशोधन करना होगा तोभी वह ऐसी

अवस्थाको समझ दश रुपये कर्जा लेवे ? कोई नहीं किन्तु ठीक ऐसाही काम हम लोग प्रतिदिन कर रहे हैं । क्षणिक सुखके लिये इन्द्रिय के दुष्टविषयभोग रूपी कर्जा प्रकृतिके रज औ तम गुण से हम लोग लेते हैं जो शीघ्र समाप्त हो जाता है, फिर उसके बदले में सूद दर-सूद लगा के हम लोगों को उस कर्ज का अनेक क्लेशों को भोग कर चुकाना पड़ता है और अनिच्छित होने पर भी उस विषय भोग का दासत्व स्वीकार करना पड़ता है और उक्त दासत्व की अवस्थामें स्वास्थ सुख, शान्ति, धर्म, तेज, बल, विद्या ज्ञान आदि जो आन्तरिक बपौती पूंजी है और जो आनन्द और शान्ति का देने वाला और कल्याण करने वाला है उनको स्वाहा कर दिवालिया हो जाना पड़ता है ।

यदि किसी कर्मसे तत्काल में कुछ क्लेश भी सहना पड़े किन्तु भविष्यत में वह सुखद हो और वह सुख दीर्घ काल तक रहने वाला हो तो उस कर्म को अवश्य करना चाहिए । इसी प्रकार श्री मद्भगवद्गीता में सात्विक, राजसिक और तामसिक सुख के वर्णन हैं जिन में राजसिक तामसिक सुख त्याज हैं और केवल सात्विक ग्राह्य हैं । लिखा है कि:—

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम् ।
तत्सुखं सात्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिःप्रसादजम् ॥ ३७ ॥
विषयेंद्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसस्मृतम् ॥ ३८ ॥
यदग्रेचानुबंधेच सुखं मोहनमात्मनः ।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥ ३९ ॥
(अ० १८)

जो भोगकाल में विष के समान दुःखकर है किन्तु परिणाम में अमृत तुल्य है, ऐसा सुख जो आत्मा में बुद्धिकी स्थिति होने से मिलता है, वह सात्त्विक सुख है । जो सुख इन्द्रिय के विषय के संयोग से प्राप्त होता है और भोगकाल में अमृत के समान सुखद है, किन्तु परिणाम में विषके समान दुःखद है वह राजसिक सुख है । जो सुख प्रारम्भ और अन्त दोनों कालों में मोहका करने वाला है और निद्रा आलस्य और प्रमाद (अज्ञान) से उत्पन्न है वह तामसिक सुख है । हमलोगोंको चाहिये कि तामस और राजस

भाई, पुत्र अथवा ऐसा ही सुखको त्याग कर सात्विक सुख की प्राप्ति में यत्नवान और प्रवृत्त रहें। बुरे कर्म का अन्ततः अवश्य बुरा परिणाम होगा और भी दुःखद होगा इस पर लोग विचार और विश्वास नहीं करते इसी लिये दुष्ट कर्म के करनेमें प्रवृत्त होते हैं।

दुष्ट कर्म के दुःख और क्लेश रूपी फल इसीलिए दिएजाते हैं कि जीव दुःख पाकर सचेत होजाय और उस दुःख के अनुभव को प्राप्त कर उसका कारण दुष्ट कर्म और उससे होनेवाले कारण दुष्ट कर्म के बुरे परिणाम को समझजाय और उसके करने में फिर उसकी प्रवृत्ति न हो किन्तु आन्तरिक घृणा उत्पन्न हो जाय, और प्रारम्भ में ऐसी घृणा आवश्यक है। अतएव जो हमलोग बुरे कर्म के फलस्वरूप दुःख और क्लेश भोगते हैं उनसे यथार्थ में बड़ा लाभ होता है और वे उपकार ही करते हैं, और उनके दुःखों के आनेका उद्देश्य यही है कि हमलोग उनके कार्य्य कारण के सम्बन्ध पर अच्छी तरह विचार करें और उससे ज्ञान को प्राप्त कर हृदयंगम करें और बुरे कर्म के फिर न करने की दृढ़ प्रतिज्ञा करें और इसको सदा स्मरण रक्खें और कार्य्य में परिणत करें। पृष्ठ ४१ में जो ब्रह्मवैवर्त के वचन हैं कि कर्म के फलको भोगने से पवित्रता होती है उसका यही तात्पर्य्य है। जो कोई ऐसा विवेक और विचार नहीं करता और उसके अभाव के कारण दुष्ट कर्म के करने से नहीं रुकता वह बार २ अधिक से अधिक दुःख पातारहता है जिससे उसका छुटकारा बिना अपने कुत्सित स्वभाव के बदले नहीं होगा। सभी कोई दुःख आनेपर अधीर और व्यग्र हो जाते हैं और बडी कातरता दिखलाते हैं, अनेक प्रकार की सहायता उससे छूटने के लिए चाहते हैं और उपाय भी करते हैं और उनकी दुरवस्था को देखकर दूसरों को भी दया आती है, किन्तु शोक की बात है कि अधिकांश लोग आजकल यह नहीं समझते कि उनके दुःख और क्लेशके यथार्थ कारण उनके ही किए दुष्ट कर्म हैं, अन्य कुछ नहीं, और उनका आना तभी बन्द होगा जबकि वे दुष्ट कर्म के करने से निवृत्त होंगे। आजकल यथार्थ में अधिकांश लोग कर्मफल के सिद्धांत को व्यवहार में एकदम भूलेहुए हैं और अनेक दुःख झेलने पर भी दुष्ट कर्म से निवृत्ति का भाव उनके चित्त में नहीं आता है किन्तु वे बाह्य कर्म (अनुष्ठान आदि) द्वारा उसकी

निवृत्ति की चेष्टा करते हैं जो निष्फल है। दुःख के आने का उद्देश्य जीव को पाप कर्म से निवृत्त करना है और जबतक ऐसी निवृत्ति का भाव अंतर में नहीं आवेगा, तबतक दुष्टकर्म भी होते ही रहेंगे और उसके दुःखरूपी फल भी अवश्य आते ही रहेंगे। कितने ऐसे भी हैं जो दुःख के आने पर किंचित सचेत होजाते हैं और उस समय पापकर्म के न करने को प्रतिज्ञा भी करते हैं किन्तु दुःख के चलेजाने पर उस प्रतिज्ञा पर दृढ़ नहीं रहते और फिर पूर्ववत् दुष्ट कर्म को करने लगते हैं। ऐसे लोगों को बड़े वेग से क्लेश और दुःख आते हैं और जबतक उनकी आंख न खुलती तबतक आते रहते हैं। हमलोग इस बड़ी अदूरदर्शिता और अज्ञान के कारण निरन्तर दुःख के सागर में पड़े रहते हैं और क्लेश पर क्लेश झेलते रहते हैं। दुःख पाने पर जिस दुष्ट कर्म के कारण दुःख हुआ उसका ज्ञान अंतरात्मा के भीतर अंकित हो जाता है, और इसी का नाम और "संस्कार" है और जिस पापकर्म के दुष्ट फल का ज्ञान और अनुभव उसमें संस्काररूप से अंकित होगया उसके करने में उसकी प्रवृत्ति कदापि नहीं होती है। यही कारण है कि दो व्यक्ति एक परिवार और समान शिक्षा और संगत में होने पर पूर्व संस्कारके अनुसार भिन्न २ रुचि रखते हैं क्योंकि यद्यपि स्थूल शरीर के अभिमानी " विश्व " नाम का जीवात्मा को पूर्वजन्म की घटनाओं की स्मृति नहीं रहती है, क्योंकि स्थूल शरीर प्रत्येक जन्म में बदलता है किन्तु उनके ज्ञान कारणशरीरके अभिमानी जिसका नाम "प्राज्ञ" है उसको रहता है और उक्त ज्ञान का " संस्कार " रूप में ज्ञान स्थूलशरीर के अभिमानी को भी बना रहता है। वक्तव्य यह है कि लोगोंका कल्याण इसमें है कि वे समझ जायं कि कर्म के फल को अवश्य भोगना होगा, बुरे कर्म के फल बुरे होंगे और उत्तम कर्म के उत्तम होंगे और बुरे कर्म के करने में जो किंचित तत्काल में लाभ अथवा सुख मिलने की सम्भावना भी मालूम पड़े तौभी उस कर्म को नहीं करना चाहिए, प्रथमतः यह जान कि यदि प्रारब्धानुसार उक्त लाभ अथवा सुख मिलने होंगे तो उक्तबुरे कर्म के न करने पर भी वे कभी न कभी साक्षात् अथवा प्रकारान्तर से मिलजायंगे और यदि न मिलनेवाले होंगे तो उक्त बुरे कर्म के करने पर भी उनकी प्राप्ति न होगी और यदि ऐसा भी मानलियाजाय कि उक्त बुरे कर्म द्वारा उक्त लाभ अवश्य मिलेंगे तथापि सांसारिक

लाभ को नाशवान समझ और किसी सांसारिक लाभ से यथार्थ सुख कदापि नहीं मिलसकता है और जो तात्कालिक सुख दीख-पड़ता है वह भ्रम के कारण सुख मालुम पड़ता है, किन्तु यथार्थ में सुख नहीं दुःखद है ऐसा समझ कर उक्त कर्म को नहीं करना चाहिए और भी यह समझ कि भविष्यत में इस के बुरे फल जो भोगने पड़ेंगे वे अत्यन्तकठिन और दुःसह होंगे अतएव बुरे कर्म के नहीं करने से ही यथार्थ लाभ है। यदि कभी दुःख आन पड़े तो उसके आने पर व्यर्थ मनस्ताप करने और दैव को अन्यायी समझने के बदले उससे लाभ उठाने का यत्न करना चाहिए जो दुःख के आनेका यथार्थ उद्देश्य है। दुःख आने पर समझना चाहिए कि यह मेरे पूर्वकृत दुष्ट कर्म का फल है जिसको कदापि नहीं करना चाहता था किन्तु अज्ञानवश और परिणाम को नहीं विचार के किया गया और अब उसके लिए शुद्ध हृदय से पश्चात्ताप करना चाहिए और दुःख को धैर्य्य से सहकर दृढ़ प्रतिज्ञा करनी चाहिए कि भविष्यत में कदापि दुष्ट कर्म का आच-रण नहीं करेंगे और सदा धर्म और न्याय में स्थित रहेंगे और किसीको किसी प्रकारकी हानि न करेंगे अथवा इन्द्रियोंकी बहका-वटमें न पड़ेंगे। यदि दुःख आने पर दुःखको अपने दुष्ट कर्म का फल मान उससे ज्ञान प्राप्त करें और अपने दोषों की जांच कर उनको समूल नष्ट करने का यत्न करें और दुष्ट कर्म के करने से आंतरिक घृणा पैदा करें तो बहुत बड़ा लाभ होगा और फिर किसी दुःख के आने की सम्भावना न रहेगी, क्योंकि उनके कारण दुष्ट कर्मके करने से निवृत्ति होजायगी। अतएव दुःखके आनेपर धैर्य्य के साथ उसको भोगना चाहिए और घबड़ाने के बदले बल्कि प्रसन्न रहना चाहिए यह समझ कि उक्त दुःख उपकार करने के लिए आया है, उसके भोगने पर अंतरात्मा को ज्ञान हो जायगा जिससे फिर वह दुष्कर्म नहीं करेगा और भविष्य में दुःख आने की सम्भावना न रहेगी किन्तु ज्ञान के कारण सुख मिलेगा। सबोंका यह आंतरिक स्वभाव है कि आनन्द की चाह करना और दुःख से निवृत्त रहना किन्तु शोक है कि कर्म के तत्व का व्यवहार में ख्याल न रख जिससे दुःख मिलेगा वही कर्म करते हैं और सुखदायी कर्म का त्याग करते हैं और आश्चर्य्य यह कि ऐसा करने पर

भी चाह सुख ही की रहती है दुःख की नहीं। यह अज्ञान और अदूरदर्शिता का परिणाम है। कहावत ठीक है "रोपे पेड़ बबूल का आम कहां से होय"। हम लोगों को चाहिए कि कर्म के तत्व को समझ दुष्टभाव चित्त में न आने दें और दुष्ट कर्मको कदापि न करें और शुभ कर्म के सम्पादन में सदा यत्नवान रहें।

नाना प्रकार की स्वार्थ कामना, विषयवासना इत्यादिके कारण कर्म की अत्यन्त वृद्धि होती है, जिस के कारण अनेक जन्म धारण करना पड़ता है, अतएव दुष्ट वासनाओं को चित्त में कदापि प्रवेश नहीं करने देना चाहिये। कर्म के फन्दे से मनुष्य कैसे छूट सकता है इसका वर्णन आगे किया जायगा। ॥ शुभम् ॥

द्वितीय भाग।

कर्मयोग।

कर्मयोग का उद्देश्य शरीर, इन्द्रिय और उनकी भोगेच्छा और स्वार्थभाव अर्थात् अपनेमें प्रकृति के तामसिक और राजसिक गुणों को वश करना है। सकाम कर्म जिस को मनुष्य प्रकृति के गुणों से प्रेरित हो कर करता है बंधन का कारण है, अतएव कर्म के बंधन से मुक्त होने के लिये प्रकृति के गुणों के फंदे से बाहर होना आवश्यक है। श्रीमद्भगवद्गीता का वचन है—

प्रकृतिं पुरुषञ्चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ॥ १९ ॥
कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥ २० ॥
पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान्गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥ २१ ॥

अध्याय १३।

प्रकृति और पुरुष इन दोनों को अनादि जानो, जितने विकार और गुण हैं उन को प्रकृति से निकले हुए जानो ॥ १९ ॥ कारण और कार्य्य के होने में हेतु प्रकृति है और पुरुष सुख दुःख के भोगने में कारण है अर्थात् प्रकृति द्वारा कर्म होता है किंतु पुरुष उसमें आसक्ति रखने से उस का फल सुख दुःख भोगता है ॥ २० ॥ पुरुष प्रकृति में फंस के प्रकृति के गुणों को भोगता है और प्रकृति के ही गुणों से वश होके (यह पुरुष) उत्तम और अधम योनि में जन्म लेता है ॥ २१ ॥

ऊपर कहे हुए श्रीकृष्ण महाराज के वचन से अच्छी तरह विदित होता है कि प्रकृति के गुण ही कर्म के हेतु हैं, जिनके कारण जीव को सब दुःख जन्म मरणादि सांसारिक क्लेश होते हैं। प्रकृति कैसे बंधन करती है उस का वर्णन गीता में इस प्रकार है:—

सत्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः ।
निबध्नन्ति महाबाहो ! देहे देहिनमव्ययम् ॥ ५ ॥
तत्र सत्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम् ।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ ! ॥ ६ ॥
रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम् ।
तन्निबध्नाति कौन्तेय ! कर्म्मसङ्गेन देहिनम् ॥ ७ ॥
तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ! ॥ ८ ॥

अध्याय १४।

हे महाबाहो ! प्रकृतिसे निकलेहुए जो सत्व, रज तम गुण हैं, वे सनातन जीव को बंधन करते हैं ॥५॥ हे अनघ ! उन में से सत्व गुण निर्मल होने के कारण प्रकाशक है और शान्त (बिना उपद्रव का) है ; यह सुख और ज्ञान के संग से अर्थात् सुख और ज्ञान में आसक्ति उत्पन्न कर जीव को बांधता है ॥६॥ हे कौन्तेय ! रजोगुण-को सकल कामनाओं का मूल और तृष्णा और विषयों के संग की इच्छा उत्पन्न करनेवाला जानो, यह जीव से (सकाम) कर्म्म कराकर उसे बांधता है ॥ ७ ॥ हे भारत ! तमोगुण को अज्ञान से उत्पन्न हुआ जानो ; यह प्रमाद, आलस्य और निद्रा द्वारा सब शरीरधारियों को मोह अर्थात् भ्रांति में बांधता है ॥८॥ जीव प्रकृति के गुणों के वश में होके और उन के संग के कारण उन के द्वारा प्रेरित होकर किये गए कर्म्मों को अपना किया समझता और उन को अपने में अध्यारोप करता है, और अपने यथार्थ स्वरूप को भूल कर गुणों की लहर के चक्कर में पड़ के इधर उधर वैसेही दौड़ता फिरता है जैसा बिना कर्णधार की नौका समुद्र में वायु के कारण इधर

उभर सकर जाती है। जब तक जीव प्रकृतिकृत अज्ञान का किंचित् भी नाश नहीं करता, प्रकृति के विषयों की वासना और आसक्ति को नहीं त्यागता और अपने को प्रकृति के कार्य्यों अर्थात् शरीरादिकों से पृथक् जान के उन में राग द्वेष करना नहीं छोड़ता, तब तक वह योग के ऊंचे मार्ग में चलने का अधिकारी नहीं होता। अतएव प्रारम्भ में गुणों को वश में लाके उनको ऐसा उपयोगी और शुद्ध बनाना चाहिये, जिस में वे बंधन के कारण न हो कर जीवात्मा की ऊर्ध्वगति में सहायता करें, यही कर्मयोग का उद्देश्य है।

तीन गुण सत्व, रजस और तमस के विषम होने पर उन की भिन्न २ मिलावट से यह सम्पूर्ण दृश्य बना है, अतएव दृश्य की आसक्ति रूप बंधन से छूटने के लिये और स्वतंत्र होने के लिये साधक को इन गुणों को अपने में साम्यावस्था में लाने का और उनको वश में करने का यत्न करना चाहिये। किन्तु कोई थोड़े काल में न तो गुणों को वश कर ले सकता है और न उन की आसक्ति से मुक्त हो सकता है। बालक युवा का काम नहीं कर सकता और करने की चेष्टा करने से केवल अपनी हानि ही करेगा। अतएव धीरे २ और थोड़ा २ कर के एक एक गुण को क्रमशः पराभव (वश) करने की चेष्टा करनी चाहिये। एक गुण के द्वारा दूसरे गुण का पराभव करना चाहिये, क्योंकि लोहा लोहा ही से कटता है। तमोगुण का स्वभाव आलस्य, मोह, सुस्ती, असावधानी और अज्ञानता इत्यादि को उत्पन्न करना है। तमोगुण द्वारा भी साधक अपना उपकार कर सकता है। तमोगुण के आलस्यादि स्वभावोंको अविहित कार्य्य और पापाचरण के सम्बन्ध उपयोग करने से अर्थात् आलस्य के कारण उन को न करने से और उत्तमाचरण में विरुद्ध चलने से अर्थात् आलस्य के रहते भी आलस्य को न मान और अतिक्रम कर के उत्तम कर्म करने से आन्तरिक बल प्राप्त होता है और आत्मशक्ति का प्रकाश होता है जिस से आत्मनिग्रह होता है। पहलवान लोग मुद्गर आदि भारी पदार्थों के उठाने की चेष्टा कर के शारीरिक बल प्राप्त करते हैं, क्योंकि किसी रुकावट के विरुद्ध चेष्टा करने से ही शक्ति बढ़ती है और इस कारण शरीर बलवान होता है। इसी प्रकार तमोगुण के आलस्यादि स्वभावों के विरुद्ध रजोगुण को अवलम्बन

करके कर्म्मों के करनेसे जीव आन्तरिक बल प्राप्त करता और तमोगुणका पराभव करता है। शरीर और इन्द्रिय भी प्रकृति के गुणों के कार्य्य होने के कारण गुणों के वश होने से वशीभूत हो जाते हैं।

योग का उद्देश्य ऐकात्म्य करना है अर्थात् व्यष्टि (जीव) का समष्टि (विश्वरूप) के साथ एकत्व होना है। किन्तु कर्म्म ऐसी एकता का विरुद्ध सूचक है। नानात्व के कारण ही साधारण कर्म होते हैं। जब कोई मनुष्य अपने से अन्य सबों को पृथक् और भी वाञ्छनीय समझता है, तब उस में अप्राप्त की प्राप्ति करने की इच्छा होती है और इच्छा पूर्ण करने के लिये शुभ वा अशुभ कर्म करता है और स्वार्थ रूपी डोरी से वह कर्त्ता स्वयं अपने को उस कर्म के साथ बांध लेता है जिस के कारण उस का फल उस को भोगना पड़ता है। अच्छा और खराब दोनों प्रकार के कर्म्म बंधन करते हैं, क्योंकि उन के अच्छे और खराब फल भोगने के लिये जीव को जन्म लेना पड़ता है। अतएव साधारण दृष्टि से कर्म से जिस का मूल नानात्व है योग (एकता) का होना असम्भव बोध होता है, किंतु कर्मयोग के उपदेष्टाओं ने इस असम्भव को सम्भव कर दिया है जिन के उपदेशानुसार चलने से कर्म करते भी कर्मफल के बंधन में साधक नहीं पड़ सकता है और योग प्राप्त कर सकता है—इन सबों का वर्णन आगे किया जायगा। यदि कोई ऐसा समझे कि कर्म ही बंधन का कारण है अतएव कर्म को नहीं करने ही से मुक्ति की प्राप्ति होगी सो ठीक नहीं। इस विषयमें गीता में भगवान का ऐसा वचन है—

न कर्म्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ॥ ४ ॥
नहि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्म्मकृत।
कार्य्यते ह्यवशः कर्म्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ ५ ॥
नियतं कुरु कर्म्म त्वं कर्म्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्म्मणः ॥ ८ ॥

नहि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्म्माण्यशेषतः ॥ ११ ॥

अध्याय १८।

मनुष्य कर्म के न करने से कर्म के बंधन से छुटकारा नहीं पाता और केवल (कर्म के) त्याग से भी सिद्धि को प्राप्त नहीं करता ॥४॥ कोई एक क्षण भी कर्म किये बिना नहीं रह सकता (क्योंकि चित्त में नाना वासनाओं का आना, इच्छा उत्पन्न होना और वृत्तियों का स्फुरण होना भी कर्म है) प्रकृति के गुणों के कारण प्रत्येक को बलात् कर्म करना ही पड़ता है ॥ ५ ॥ विहित कर्तव्य कर्म को करो, क्योंकि कर्म न करने से कर्म करना अच्छा है; बिना कर्म किये जीवनयात्रा का निर्वाह नहीं हो सकता ॥ ८ ॥ शरीरधारी कर्मों का करना पूर्ण रूप से छोड़ नहीं सकते। श्रीभगवान के इन युक्तिपूरित वचनों से यह सिद्ध होता है कि कर्म करना आवश्यक है, एकदम कर्म का त्याग नहीं हो सकता और केवल कर्म-त्याग से भी मुक्ति नहीं मिल सकती।

कर्म करते हुए भी साधक जिस कर्मयोग द्वारा कर्म के फल रूपी बंधन से छुटेगा उस का उपदेश श्रीकृष्ण भगवान ने कुरुक्षेत्र युद्ध के बीच अर्जुन को किया जो राजपुत्र थे, योद्धा थे और जिन को संसार में रहना था, राज्य करना था और अन्य सांसारिक कार्य्यों को सम्पादन करना था। श्रीकृष्ण भगवान ने विशेष कर गृहस्थों को उपदेश किया और शिष्य बनाया जैसा कि अक्रूर, ऊद्धव आदि को और ऐसा करके यही दिखलाया कि संसार में रहके भी साधक किस तरह योग कर सकता है और योग द्वारा प्रकृति के गुणों को पराभव करके त्रिगुणात्मिका माया से पार हो सकता है और परमात्मा के साथ एकता प्राप्त कर सकता है। इस विषय में श्रीकृष्ण भगवान का ऐसा उपदेश है:--

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।

कर्म्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः ॥२०॥

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।

शारीरं केवलं कर्म्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम् ॥२१॥

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वंद्वातीतो विमत्सरः ।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबद्धयते ॥२२॥

भगवद्गीता अध्याय ४ ।

जो कर्म के फल में आसक्ति छोड़ सब काल में तृप्त रहता और किसी के आश्रित नहीं रहता ऐसा मनुष्य यद्यपि कर्म में प्रवृत्त रहता है तथापि यथार्थमें वह कुछ नहीं करता ॥ २० ॥ इच्छारहित, मन और शरीरको वश कियेहुए, सब पदार्थों में आसक्ति न रख के केवल शरीर द्वारा जो कर्म करता है वह पाप का भागी नहीं होता है ॥ २१ ॥ जो कुछ मिले उसी में संतुष्ट, शीत उष्ण आदि द्वंद्व पदार्थों के क्लेश को न माननेहारा, मत्सर से रहित और अर्थ की सिद्धि और असिद्धि में एक सा रहनेवाला ऐसा पुरुष कर्म करते भी बंधन में नहीं फंसता ॥ २२ ॥

श्रीभगवान के इन वाक्यों का तात्पर्य्य यह है कि कर्म के फल में आसक्ति और इच्छा छोड़ के, अर्थात् अमुक कर्म से अमुक फल होगा इसलिये उसको करना चाहिये और अमुक कर्म अमुक प्रकार से सम्पन्न हो कर अमुक फल देगा तो अच्छा होगा और नहीं फल देने से शोक का विषय होगा ऐसा न सोच कर केवल कर्म मात्र करना और जो उसका फल अच्छा या बुरा हो उस से तात्पर्य नहीं रखना और कर्म सफल हो अथवा विफल हो इन दोनों को तुल्य समझना और दोनों अवस्थाओं में चित्त की वृत्ति समान रखना अर्थात् सफलके लिये न हर्ष करना और विफल के लिये न शोक करना, इस प्रकार कर्म करने से वह कर्म बन्धन का कारण नहीं होता। किन्तु बिना किसी उद्देश्य के कर्म करना सम्भव नहीं है, अतएव कर्मयोग किस उद्देश्य के साथ करना चाहिये? क्योंकि स्वार्थ कामना रख के कर्म करना बंधन का कारण है। इसका भी उत्तर श्रीकृष्ण भगवान ने गीता में दिया है कि—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।
स संन्यासी च योगी च न निरग्नि र्न चाक्रियः ॥१॥

अध्याय ६ ।

जो कर्म के फल पर आश्रय न रख के केवल कर्त्तव्य जान कर्मों को करता है वही संन्यासी और योगी है किन्तु जिसने केवल अग्निहोत्रादि कर्मों को त्याग दिया है वह संन्यासी नहीं है।

ब्रह्मण्याधाय कर्म्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेभ्यो पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥ १० ॥

अध्याय ५

जो आसक्ति त्याग के और सब कर्मों को ईश्वर में अर्पण करते हुए कर्म करता है वह जल से कमलपत्र की नांई पाप से लिप्त नहीं होता।

यज्ञार्थात्कर्म्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्म्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय! मुक्तसङ्गः समाचर ॥ ९ ॥

अध्याय ३।

यज्ञ के अर्थ जो कर्म किये जाते हैं उन के अतिरिक्त कर्म से इस संसार के लोगों का बंधन होता है, अतएव हे कौन्तेय! यज्ञ के अर्थ अर्थात् परमेश्वर के निमित्त आसक्ति त्याग के कर्म करो।

जीव कैसे धीरे २ स्वार्थनिमित्त कर्म करते २ निष्कामभाव को प्राप्त करता है और ऊपर कहेहुए श्लोकों में जो श्रीभगवान ने फल को त्याग कर केवल कर्त्तव्य जान कर्म करने और यज्ञ की भांति कर्म करने का उपदेश दिया है उनका क्या तात्पर्य्य है और उन में क्या भेद है इस का सविस्तर वर्णन नीचे किया जाता है। जंगली आदि लोग जो "बालक जीव" के समान हैं वे शारीरिक अभाव और आवश्यकता की पूर्ति और भी सुख के लिए ही कर्म करते हैं, भूख लगती है इसलिये अन्न को (जिस से भूख जाती है) उत्पन्न करने के लिये कर्म करते हैं, शरीर को ठंढ से बचाने के लिये कपड़ा प्राप्त करने का कर्म करते हैं, प्यास लगने से जलकी प्राप्तिनिमित्त कर्म करते हैं इत्यादि २। भूख, प्यास, शीत, घाम आदि का अनुभव होना जो दैहिक स्वभाव है यदि न होता तो इस श्रेणी के जीव (जंगली आदि) कुछ भी कर्म नहीं करते। इस श्रेणी के जीव और पशु में थोड़ा ही अन्तर है। आलस्य के कारण कोई कर्म

नहीं करना तमोगुण का स्वभाव है। वह तमोगुण कर्म करने से घटता है। पत्थर आदि स्थावर से मनुष्य और पशु इसलिये उच्च हैं कि उन (मनुष्य और पशु) में रजोगुण प्रकट है जिस के कारण वे कर्म कर सकते हैं, चल फिर सकते हैं और पत्थर आदि स्थावर में केवल घोर तमोगुण होने से और रजोगुण का प्रादुर्भाव न होने से वे जड़ हैं, चल फिर नहीं सकते हैं। अतएव बालकसमान जीवों के लिये शारीरिक चाह और स्वभाव (भूख प्यास आदि) का होना बहुत आवश्यक हुआ। क्योंकि इन्हीं के कारण तमोगुण के आलस्य स्वभाव के विरुद्ध उन को कर्म करना पड़ा, नहीं तो तमोगुण में लिप्त रहकर ये जीव कोई कर्म नहीं करते और स्थावर की भांति जड़समान हो जाते *। इस लिये रजोगुण जिसका स्वभाव कामना उत्पन्न करना और उस की पूर्ति के निमित्त कर्म करवाना है उस की वृद्धि कराकर तमोगुण घटाया जाता है। इन बालक जीवों से (जंगली मनुष्य आदि) जिन को पामर जीव कहते हैं जो थोड़े बढ़े हुए जीव हैं वे इंद्रियविषयसे मिलनेवाले सुख के निमित्त कर्म करते हैं। पहली श्रेणी के जीव की अवस्था में रहने के समय इन जीवों को नाना प्रकार के विषयों से संसर्ग हुआ और संसर्ग के कारण समयान्तर में उन में आसक्ति होगई, तब से ये जीव आसक्ति के कारण उन विषयों की प्राप्ति के अर्थ नाना प्रकार के कर्म करते हैं, अतएव उन को विषयी जीव कहते हैं। इस श्रेणी के जीव केवल शरीररक्षा ही के लिये भोजन का पदार्थ संग्रह करेंगे ऐसा नहीं, किंतु भोजन के आवश्यक पदार्थ के रहते भी जो स्वादिष्ट वस्तु हैं और जिन के खाने से सुख लाभ होता है उन वस्तुओं की प्राप्ति के लिये कर्म करेंगे, इसी प्रकार ऐसे २ पदार्थ देखने के लिये जिन से नेत्र को सुख हो, ऐसी वस्तु सूंघने के लिये जिन से नासिका का सुख हो, और ऐसेही करणादि इन्द्रियों के सुख देनेवाले विषयों की प्राप्ति के लिये यत्न करेंगे। इस श्रेणी के विषयी जीव जब इन्द्रियों के विषयभोग में लिप्त हो जाते हैं तो ऐसा देखा जाता है कि जितना ही अधिक विषयों का भोग करते हैं उतनाही अधिक उनकी तृष्णा बढ़ती है जो तृष्णा कितना ही अधिक विषय भोग करने से

* पशु का खाद्य ऐसा है जो उन को बिना विशेष प्रयत्न किये मिलता है अतएव पशु में तमोगुण अत्यन्त अधिक है, उस से कम तमोगुण जंगली लोगों में है जिन को भोजनादि पदार्थों की प्राप्तिनिमित्त यत्न करना पड़ता है

तृप्ति नहीं होती और तृप्ति न होने के कारण जीव को शांति और आनन्द नहीं मिलते जिस के बिना वह सदा दुखी ही बना रहता है और तब शान्ति के पाने के उपायों को खोजता है * ।

जीव का स्वरूप सत चित आनन्द होने के कारण आनन्दकी प्राप्तिको चाह जीवका स्वाभाविक गुण है, अतएव यह चाह सबों में पाई जाती है और जबतक जीव को अपने स्वरूप का ज्ञान और उसमें स्थिति न होगी और उस द्वारा यथार्थ आनन्द नहीं प्राप्त करेगा, तबतक उसकी खोज में वह इधर उधर भटकता फिरेगा। आनन्द की चाह ही जीवको विषयभोग में पड़नेके लिए वाध्य करती है और उसमें आनन्द के बदले दुःख पा उससे वह निवृत्त होता है।

और भी ऐसा होता है कि जीव जिस भोग के पदार्थ को अनेक कष्ट के अनन्तर प्राप्त करता है वह पदार्थ थोड़ेही समय के पश्चात् नाश हो जाता है और रहते हुए भी किंचित समय के पश्चात् पहले की भांति सुख नहीं देता. और किसी वस्तु की प्राप्ति से एक काल में जैसा सुख मिलता वैसा सुख दूसरे काल में उसी वस्तु से चित्त की दशा दूसरे प्रकार की होने के कारण नहीं मिलता, इन अनुभवों को विचारने से वह समयान्तर में समझता है कि सांसारिक वस्तुएं जो त्रिगुणात्मक और जड़ हैं उन में आनन्द नहीं है, आनन्द इन से पृथक केवल आत्मा में है। किसी विषय की प्राप्ति से जो क्षणिक

---

* जैसे अग्नि में घी के देने से अग्नि विशेष प्रज्वलित होती है वैसे ही तृष्णा भोग से बढ़ती ही जाती है कदापि पूर्ण नहीं होती। लिखा है कि—

निःस्वोह्येकशतं शती दशशतं लक्षं सहस्राधिपो, लक्षेशः क्षितिपालतां क्षितिपतिश्चक्रेश्वरत्वं पुनः। चक्रेशः पुनरिन्द्रतां सुरपति र्ब्रह्मास्पदं वाञ्छति, ब्रह्मा विष्णुपदं पुनः पुनरहो! आशावधिं को गतः ?॥

शिह्लन मिश्र कृत शान्तिशतक।

दरिद्र पुरुष पहले सौ रुपये पाने की इच्छा करता है, और फिर सौ पाने से एक हजार की इच्छा, एक हजार पाने से एक लाख की, एक लाख के पश्चात् पृथ्वीपति होने की इच्छा होती है, पृथ्वीपति को चक्रेश्वर होने की इच्छा होती है, चक्रेश्वरको इन्द्र होने की इच्छा. इन्द्रको ब्रह्मा होने की, ब्रह्मा को विष्णु होने की इच्छा होती है, फिर भी ऐसेही इच्छा आगे २ बढ़ती है। अहा ! आशा को कौन अतिक्रम कर सकता है।

सुख प्राप्त होता है वह सुख उस विषय में से नहीं आता, किंतु वह अंतरस्थ जीवात्मा में से प्रगट होता है जो इच्छित विषय की प्राप्ति होने के कारण चित्त को उस में किंचित् समय के लिये एकाग्र हो जाने से प्राप्त होता है और एकाग्रता के नाश होने पर वह सुख भी जातारहता है। यदि सुख विषय में होता तो किसी एक विषय की प्राप्ति जब जब होती तब तब सुख प्राप्त होना चाहिये था, सो नहीं होता है। जब किसी एक खास विषय की प्राप्ति से चित्त एकाग्र होता है तो सुख मिलता है और उसी विषय के दूसरे ऐसे समय में प्राप्त होने पर जब कि किसी कारण से चित्त उस के द्वारा एकाग्र न हुआ तो सुख नहीं मिलता है। स्वस्थ चित्त में जिस वस्तु के खाने से सुख मिलता है उसीको ज्वर लगने पर खाने से सुख नहीं बोध होता क्यों कि उस समय चित्त एकाग्र नहीं हो सकता है। किसी इच्छित पदार्थ के संयोग से चित्त की पूरी एकाग्रता होने से जीवात्माको अपने स्वरूप का आनन्द अनुभव होता है जो यद्यपि अंतर से आता है किंतु अज्ञानता के कारण उसको विषय से उत्पन्न समझता है। कुत्ते को सूखी हड्डी के खाने से और उस के संघर्ष से उसके मुंह से जो रुधिर निकलता है उसका आस्वादन कर जैसे वह उस को भ्रम से हड्डी से प्राप्त समझता है, उसी प्रकार हमलोग विषयजनित सुख के विषय में भ्रमकर रहे हैं। सांसारिक विषयभोग रूपी मृगतृष्णा की ओर चलते २ विषयी जीव रूपी मृग जब थक जाता है और आनन्द रूपी जल नहीं पाता तब वह विचार करने लगजाता है और विचारने से उसे ऊपर कही हुई बातों का ज्ञान होता है, और तब उस की आंखें खुलती हैं और वह निश्चय करता है कि सांसारिक पदार्थों में आनन्दनहीं है, बरन विषय की प्राप्ति क्षणिक एवं अयथार्थ सुख को देकर अन्त में सुख से कहीं अधिक दुःख देती है। इंद्रिय के विषयभोगों के अंत में जो दुःख होता है वह प्रसिद्ध है। अनुभव और विचार द्वारा सांसारिक विषयों के निःसारता को समझ विषयी जीव सांसारिक पदार्थों के भोग की इच्छा को छोड़ता है और तब से यहां के सुख के लिये नहीं किंतु स्वर्ग के सुख के लिये जिस का वर्णन शास्त्रद्वारा सुना है कर्म करना प्रारम्भ करता है। तब अर्थकामना के बदले स्वर्गकामना उस के कर्मों का उद्देश्य होता है

जिस को वह जीव शरीर त्यागने के पश्चात् पाने की इच्छा रखता है। शास्त्र में जो कर्मकांड की विधि है वह इसी श्रेणी के जीवों के लिये है जो "सकाम कर्मी" अथवा कर्मकांडी कहे जाते हैं। कर्मकांड के आदेशों के करने से जीव को अनेक उपकार होते हैं। स्वर्गप्राप्ति की लालच के कारण ऐसा जीव अनेक प्रकार के कर्मकांड की विधियों को करता है जिन को नियत समय पर नियत प्रकार से नियत सामग्री से उसे करना पड़ता है। उस नियत समय पर वह आलस्य के कारण उस कर्म के करने में अनिच्छुक भी हो तौभी नियत समय पर उस को उसे करना ही पड़ता है, जैसा कि शीतऋतु में भी प्रातःकाल स्नान शौचादि कर्म करके पूजापाठादि कर्मों के करने में प्रवृत्त होना पड़ता है* और ऐसा करने से आलस्य का पराभव † और तमोगुण का निरोध होता है। कर्म के करने में जो परिश्रम कियाजाता है, उस के लिए जो उपवासादिक करना पड़ता है और द्रव्यादि सामग्री जो व्ययकरना पड़ता है इन सब के कारण तमोगुणी भाव का पराभव तो अवश्यही होता है किन्तु सांसारिक विषयों में जो रजोगुणी आसक्ति है उसका भी बहुत कुछ ह्रास होता है। जिन पदार्थों से अबतक सांसारिक सुख मिलते थे उन से सांसारिक सुख न ले उन को देवताओं के कार्य्य में व्यवहार करना उत्तम कर्म है। और भी बुद्धि से जो कुछ करने को निश्चय किया गया उस संकल्प को अवश्य करने का स्वभाव प्राप्त होता है जिस से आन्तरिक बल बढ़ता और आत्मशक्ति की उन्नति होती है। सकाम कर्म करनेवाला जीव जब स्वर्ग में जाके अपने उत्तम कर्मों का फल पाता

---

* पूजा-पाठ सकाम और निष्काम दोनों भाव से किया जाता है।

† कार्तिक, माघ और वैशाखादि मासों में जो प्रातःस्नान की विधि है उस का एक उद्देश्य निद्रा को वश में करने के और आलस्यादि तमोगुण स्वभाव को पराभव करने के लिये है। कार्तिक और माघ में जाड़े के कारण और वैशाख में रात्रि छोटी होने से प्रातःकाल की निद्रा अतिप्रिय होने के कारण प्रातःकाल उठकर स्नानादि कर्म करने में अत्यन्त आलस्य जान पड़ता है, अतएव उस आलस्य के विरुद्ध कर्मकांड के वाक्यानुसार स्नानादि कर्म करने से शीघ्र आलस्य का पराभव होता है और निद्रा वश होती है जो परमावश्यक है, क्योंकि आलस्यरूप तमोगुण उत्तम कर्म के सम्पादन में भारी बाधा है, अतएव इस के पराभव से अनेक उपकार होते हैं।

है तो वहां उस को अपने से अधिक पुण्यवान को अपने से विशेष सुखी देख के खेद होता है और फिर स्वर्गसुख को भी जब नाशवान पाता है तो उस से भी उस का मन हटता है ।

तत्रापि च विशेषोऽस्ति दिवि नीचोच्चमध्यमाः ।

अनुगीता अध्याय १७ ।

स्वर्ग में भी नीच, ऊंच और मध्यम का भेद है ।

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं, क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति । एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ॥ २१ ॥

भगवद्गीता अध्याय ९ ।

वे विशाल स्वर्गलोक का उपभोग कर पुण्य के क्षीण होने पर मृत्युलोक को प्राप्त होते हैं, इस भांति कामाभिलाषी वेदत्रयी के मार्ग में चलनेवाले पुरुष गतागत अर्थात् इस लोक से स्वर्ग को और स्वर्ग से इस लोक को पाते हैं ।

तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयत एवमेवाऽमुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते ।

छान्दोग्योपनिषद ८—१—६

जैसे इस पृथ्वी पर जो कुछ चेष्टा से प्राप्त होता है वह नाश हो जाता है, वैसेही जो कुछ संसार में कर्मकांड के कर्मों के करने से दूसरे लोक (स्वर्गादि) में भोगने के लिये प्रस्तुत होता है वह भी नाश होजाता है ।

जब स्वर्ग के सुख में भी जीव यथार्थ आनन्द नहीं पाता, तब सब प्रकार की स्वार्थकामना को त्याग करता है ऐसा समझ के कि सब स्वार्थकामना अनर्थ का मूल है और स्वार्थपरायण होना सृष्टि के नियम के विरुद्ध है । तब से वह दूसरों के उपकार के लिये कर्म करना प्रारम्भ करता है जो अवश्य कर्तव्य है । भगवान का वाक्य है कि—

सक्ताः कर्म्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत ?।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥२५॥

भगवद्‌गीता ३।

हे अर्जुन! मूर्खजन कर्म के फल में आसक्त होकर जैसा कर्म करते हैं, वैसेही विवेकी जन को कर्म में आसक्त न होकर मनुष्य की भलाई के लिये कर्म करना चाहिये *।

परन्तु साधक को परोपकार निमित्त कर्म करने में भी किञ्चित स्वार्थ आजासक्ता है। यथा यदि वह एक बहुत बड़ा परोपकारी काम करने को तैयार हुआ हो और चाहे कि वह काम सफल होय तो ऐसी चाहना भी स्वार्थ है, क्योंकि वह ऐसी इच्छा रखने से अपने परिश्रम के फल को फलीभूत देख प्रसन्न होना चाहता है और यह भी हो सकता है कि वह अपने परोपकारी कर्म के लिये दूसरे का अपनेप्रति प्रेम और कृतज्ञता चाहता हो अथवा दूसरे लोग उस के काम को प्रशंसनीय मानें ऐसा चाहता हो, ऐसी सूक्ष्म कामनाओं के आने से उसमें स्वार्थ अवश्य आगया। और ऐसा भी होता है कि कोई २ उस के परोपकारी उद्देश्य को नहीं समझते और उस के काम और उस के उद्देश्य में दूषण लगाते हैं जिससे उसके चित्त में, अपने काम की प्रशंसा पाने की इच्छा रहने से, उस को दुःख होता है और ऐसी अवस्था में समझना चाहिए कि उस में स्वार्थ बना है। ऐसेही यदि कोई कार्य जिस के सम्पादन में वह स्वयं लगा हो वह उस से सिद्ध न होकर किसी दूसरे के द्वारा सिद्ध हो और वह उसे देख कुछ भी विषाद माने, तो समझना चाहिये कि उस में अद्यापि स्वार्थ बना है, क्योंकि निःस्वार्थ और निष्काम होने से उस की इच्छा केवल आवश्यक कार्य के सिद्ध होने की रहनी चाहिये और किस के द्वारा सिद्ध हुआ इस का कुछ भी विचार नहीं रहना चाहिये, स्वतः उस से हुआ अथवा अन्य द्वारा हुआ दोनों को उसे समान समझना चाहिये। यदि वह किसी व्यक्ति का उपकार करे और उस का

* इस श्लोक के भाष्य में "लोकसंग्रह" का अर्थ श्री रामानुजाचार्यने "लोक रक्षार्थ", हनुमान ने "धर्मोत्पादन" बलदेव ने "लोकहितार्थ", नीलकंठ ने "परानुग्रह" किये हैं अवश्य इसका अर्थ परोपकार स्पष्ट है।

उपकृत उस के लिए उस के प्रति कृतज्ञता नहीं दिखलावे और उस के कारण उस उपकृत के प्रति अधिक उपकार करने से मन हटे तो भी समझना चाहिये कि उस में स्वार्थ का कुछ अंश है। जो लोग ऐसे अज्ञानी हैं कि उपकार के बदले कृतज्ञता नहीं दिखलाते ऐसे जीवों के सुधारने के लिये विशेष यत्न करना चाहिये और उन पर उनकी अज्ञानता के कारण विशेष दया करनी चाहिये, न कि उन पर रुष्ट होना चाहिये। ऐसा समझ के साधक को इन सूक्ष्म अप्रकाश स्वार्थकामनाओं का भी त्याग करना चाहिये और अच्छी तरह खोज कर देखना चाहिये कि थोड़ा भी किसी प्रकार का स्वार्थ का भाग उस में न रहजाय।

ऊपर कही हुई बातों को विचार के साधक इन सूक्ष्म कामनाओं का भी त्याग करता है और तब से केवल कर्त्तव्य अर्थात् अपना धर्म समझ के कर्म करना प्रारम्भ करता है। ऐसा साधक काम के सफल होने पर भी और विफल होने पर भी, स्तुति में भी और निन्दा में भी, प्रेमप्रदर्शन में भी और द्वेष प्रदर्शन में भी, सुख में भी और दुःख में भी समान ही रहता है, तनिक भी विचलित नहीं होता। इस विषय में भगवान के श्रीमुख का वाक्य यों है—

कर्मनिर्हारमुद्दिश्य परस्मिन्वा तदर्पणम्।

यजेद्यष्टव्यमिति वा पृथग् भागः स सात्विकः १०

श्री मद्भागवत स्कं० ३ अ० २९

योगस्थः कुरु कर्म्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय!।

सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ४८

भगवद्गीता अध्याय २।

दुष्ट प्रारब्ध कर्म के क्षय के लिए अथवा भगवान में अर्पण करने के लिए अथवा अवश्य कर्त्तव्य समझ जो सेव्यसेवकभाव से ईश्वर की पूजा करता है वह सात्विक है। हे धनंजय! आसक्ति को त्याग कर सिद्धि और असिद्धि में समदृष्टि हो योग (भक्ति) युक्त कर्मों को करे, इस समदृष्टि को योग कहते हैं। ऐसा कर्मयोगी यदि राजभवन में रहता हो और उत्तम से उत्तम सुस्वादु पदार्थोंका

भोजन करता हो और इंद्रियों के नानाप्रकार के विषयों से घिरा हुआ हो तब भी वह तनिक भी क्षुभित नहीं होता और न उन में आसक्ति करता, वह उन विषयों में न राग करता और न द्वेष करता, * जब स्वतः मिलजाता तो द्वेष नहीं दिखलाता और नहीं रहने से पाने की इच्छा भी नहीं करता। यदि वह राजभवन से पर्णकुटी में भेज दियाजाय, उत्तम वस्त्रों के बदले जीर्णशीर्ण वस्त्र पहनाया जाय, सुस्वादु भोजन के बदले कुस्वादु भोजन कराया जाय तौ भी उसका मन समान ही रहता, दुःखित और क्षुभित नहीं होता और दोनों अवस्थाओं में समान प्रसन्न रहता। "चला गया" उस का विषाद नहीं और "प्राप्त हुआ" उस का हर्ष नहीं करता। अतएव ऊपर कही हुई दोनों विरुद्ध अवस्थाओं में समान रहने से और राग-द्वेषविमुक्त होने से वह सांसारिक विषयों में रहते भी उन में नहीं फंसता। गोपालतापनी उपनिषद् का वचन है—

योह वै कामेन कामान् कामयते सोऽकामी भवति।
यो ह वै त्वकामेन कामान् कामयते सोऽकामी भवति॥

जो कामनायुक्त होके काम्य वस्तु की इच्छा करता है वह कामी है और जो कामनाशून्य होके काम्य वस्तु को स्वीकार करता है वह अकामी है। ऐसे कर्मयोगी का कर्म यदि सफल होता तौभी वह उस में न अहंकार रखता और न स्वार्थ दिखलाता, और यदि सफल नहीं होता अथवा विगड़ जाता, तौभी उसको अच्छाही जानता, क्योंकि कर्म करने से उस को न उस के सफल होने में आसक्ति थी, अतएव न विफल होने की कोई पर्वाह थी। ऐसा कर्मयोगी संसार के हितकारी होने के कारण कोई ऐसा कर्म नहीं कर सकता है जिस से दूसरे की हानि हो अथवा ईश्वरीय नियम के विरुद्ध और अयुक्त हो।

पंच महायज्ञ गृहस्थों के लिये अवश्य कर्त्तव्य हैं जिन को कर्त्तव्य कर्म जान अवश्य करना चाहिये। पंच महायज्ञों के वर्णन में

---

* किसी पदार्थ से द्वेष (घृणा) करने से भी उसी कारण एक प्रकार का सम्बन्ध दोनों में हो जाता है और वह उस को उस में द्वेष रूपी रज्जु से बांधता है जैसा कि राग करने से भी होता है, अतएव राग द्वेष दोनों में से एक भी किसी के साथ नहीं रखना चाहिये।

प्रथम यज्ञ क्या है? उस का उद्देश्य क्या है? और इस की उत्पत्ति कैसे हुई? इन बातों का विचार करना आवश्यक है। ब्रह्म जो असीम है उसने सृष्टि की उत्पत्ति के निमित्त अपनी माया से युक्त हो के अपने आप को माया द्वारा सीमाबद्ध किया अर्थात् माया-रूपी अग्नि में अपने को आहुति प्रदान किया जिस यज्ञ से (अर्थात् दोनों के संयोग से) सृष्टिरूपी फल निकला। गोपालतापिनी उपनिषद् में लिखा है—

"स्वाहाऽऽश्रितो जगदेतत्सुरेताः।"

उस ने सुरेता हो कर के स्वाहा अर्थात् माया को आश्रय कर के जगत चलाया। इस में माया का आश्रय करना ब्रह्म के लिये अपने को स्वाहा अर्थात् यज्ञ करना बताया है क्योंकि अपरिच्छिन्न ब्रह्म स्वेच्छासे अपनी माया से अपने को बद्ध कर परिच्छिन्न बनाता है और यह उसके लिए यज्ञ अर्थात् त्याग है। यज्ञ में सर्वत्र यज्ञकर्त्ता दूसरों के लाभ के लिये अपनी क्षति करना अपना कर्त्तव्य मानता है। सो इस ब्रह्मयज्ञ से यह परिणाम हुआ कि एक ब्रह्मरूपी सूर्य्य से अनेक किरणरूपी जीव निकले और वे सब ब्रह्मानन्द (जो पहले केवल एक ब्रह्म ही को प्राप्त था, क्योंकि उसका आनन्द स्वरूप ही है) के भागी हुए किन्तु तौ भी ब्रह्म के आनन्द में कुछ भी कमी नहीं हुई। इसी प्रकार यज्ञ करनेवाले को बाहर की दृष्टि से तो क्षति करनी पड़ती है किन्तु यथार्थ में हानि नहीं होती है। सृष्टि के प्रारम्भ में प्रधान पुरुष के पश्चात् ब्रह्मा, प्रजापति, सप्तर्षि, पितृगण' कुमारगण आदि हुए और उन्होंने भी सृष्टि के नियमानुसार यज्ञ किया अर्थात् सृष्टि को भिन्न २ क्रम से प्रस्तार करने का और चलाने का श्रम अपने ऊपर लिया। पुरुषसूक्त का वचन है—

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये॥

सृष्टि की रचना करनेवाले प्रजापति आदि देवता और मरीचि आदि ऋषियों ने आदि यज्ञकर्त्ता ईश्वर को ही हविरूप मान कर प्रोक्षण आदि संस्कार किया और उसी से यज्ञ किया। यज्ञ ही से सृष्टि उत्पन्न हुई, यज्ञ ही से चलती है अतएव यज्ञ ही सृष्टि का नियम और यज्ञ ही उस में मुख्य धर्म हुआ।

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्म्माणि प्रथमान्यासन् ।

पुरुष सूक्त ।

(सृष्टि के प्रारम्भ में) देवता लोगों ने यज्ञद्वारा यज्ञपुरुष का पूजन किया (सृष्टि के उद्भव में सहायतारूप यज्ञ से यज्ञपुरुष को पूजा की) (अतएव) वह (यज्ञ) धर्म (सृष्टि में) प्रथम (मुख्य) हुआ । सृष्टि में जो कुछ उत्पन्न होते हैं वे किसी न किसी के यज्ञ करने से उत्पन्न होते हैं, बिना यज्ञ के कुछ भी उत्पन्न नहीं हो सकता, अतएव सृष्टि के प्राणियों के लिये यह नियम हुआ कि वे यज्ञ कर के आवश्यक पदार्थ पावें और यज्ञ ही से जीवों की ऊर्ध्वगति (उन्नति) होवे । गीता में इस यज्ञ का वर्णन इस प्रकार है—

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥१०॥
अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः ।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्म्मसमुद्भवः ॥१४॥
कर्म्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम् ।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥१५॥
एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ ! स जीवति ॥१६॥

अध्याय ३ ।

पूर्वकाल में प्रजापति ने प्रजाओं को यज्ञ के साथ (यज्ञ द्वारा) उत्पन्न करके ऐसा कहा "इस यज्ञ द्वारा तुम वृद्धि को प्राप्त करो, यह यज्ञ तुम्हारी कामनाओं का पूर्ण करनेवाला कामधेनुरूप होवे" ॥ १० ॥ अन्न से प्राणियों की उत्पत्ति होती है, मेघ से अन्न उत्पन्न होता है, यज्ञ से मेघ की उत्पत्ति होती है और कर्म से यज्ञ उत्पन्न

होता है ॥ १४ ॥ ब्रह्म (वेद) से कर्म की उत्पत्ति होती है और ब्रह्म अक्षर (अविनाशी) से निकलता है, इसलिये सर्व्वव्यापक (ईश्वर) यज्ञ में सर्वदा स्थित रहता है ॥ १५ ॥ जो इस चलते हुए चक्र के अनुसार नहीं चलता है (यज्ञ नहीं करता है) हे पार्थ ! वह पापात्मा इन्द्रियसुख में लिप्त हुआ व्यर्थ जीता है ॥ १६ ॥

पृथ्वी अपना रस देकर यज्ञ करती है तो वृक्षादि उद्भिज्ज होते हैं और वृद्धि पाते हैं, वृक्षादि अपनी २ शाखा-पत्र दे के यज्ञ करते हैं तो उन को खाके पशु जीते हैं और वृद्धि पाते हैं * और अन्न उत्पन्न करनेवाले उद्भिद् से मनुष्य जीते हैं, पशु अपने शरीर पर नानाप्रकार के दुःख उठाकर यज्ञ करते हैं तो मनुष्य के लिये भोजन का अन्न उत्पन्न होता है और अन्य आवश्यकतायें दूर होतीं हैं जैसा कि बैलों का हल में वहना, गौ भैंस बकरी का दूध देना, घोड़ा आदि को सवारी का काम देना इत्यादि । ऐसेही निम्नश्रेणी के मनुष्यों को अपने ऊपर दुःख उठाकर यज्ञ करने से ऊंचे दर्जे के लोगों के कार्य्य सिद्ध होते हैं जैसा कि कुली, मजदूरा, साईस, हलवाहा, चरवाहा, भृत्य इत्यादि द्वारा होते हैं । ऐसेही मनुष्य को देव, ऋषि, पितृ आदि के निमित्त जो मनुष्य से ऊंचे हैं स्वाहा अर्थात् अपनी क्षति करके भी यज्ञ करना धर्म है ।

उत्तम कर्म यथार्थ में यज्ञ ही है । सबकर्मों का यज्ञ की दृष्टि से करना चाहिये, कर्त्तव्य समझ कर करना चाहिये कि ऐसा करना युक्त है किंतु साधक को किसी काम (स्वार्थ) का उद्देश्य रख के कोई कर्म नहीं करना चाहिये । और इस निमित्त भी कर्म करना चाहिये कि मनुष्य उस के द्वारा सृष्टि के नियम के अनुकूल हो और ईश्वर सुख हो और समूह कर्म में जो उसका भाग है, अर्थात जिसको उसको करना अवश्य चाहिए उसकी पूर्ति हो, किंतु ऐसा कर्म विहित और सृष्टि के नियम के अनुसार जो उद्‌र्ध्वगति को

* वृक्ष पृथ्वी के रस से वृद्धि पाने के कारण मानो कृतज्ञ हो कर अपने पत्तों को फिर पृथ्वी ही में डालता है जिस से पृथ्वी की वृद्धि होती है, और पृथ्वी का कृष छाया भी करता है । पशु पक्षी वनस्पतियों को भक्षण करते हैं किन्तु विष्ठा करके पुनः उन को उत्पत्ति दूर दूर (पहाड़ों के शिखर आदि) तक करते हैं जहां साधारण प्रकार से उनका उत्पन्न होना कठिन था । ऐसे ही जो जिन से स्वतः सहायता पाते हैं उन की भलाई कृतज्ञ हो के कर देते हैं और अपने से ऊंचे के लिये अपने को स्वाहा तक करते हैं ।

और लेजानेवाला है होना चाहिये। अतएव यह यज्ञ ऐक्य का सूत्र है जिस स्वर्णमय सूत्र द्वारा सृष्टिमात्र के सम्पूर्ण प्राणी एक दूसरे के साथ बंधे हुए हैं। यज्ञरूपी पारस कर्म को बदलके ऐसा कर देता है कि उस से कामनारूपी बन्धन नाश होजाता है और कर्म का बंधन करने वाला गुण भी जाता रहता है और तब वह यज्ञकर्त्ता ईश्वर का एक कामकाजी होता है *।

पंच महायज्ञ भी उक्त प्रकार का यज्ञ है और अवश्य कर्त्तव्य है।

पञ्चयज्ञांस्तु यो मोहात् न करोति गृहाश्रमे।
तस्य नायं न च परो लोको भवति धर्म्मतः ॥७॥

महाभारत शान्तिपर्व अध्याय १४६।

जो गृहस्थाश्रम में रह के अज्ञानता से पंचयज्ञों का सम्पादन नहीं करता है उस को धर्म्मानुसार न इस लोक में और न परलोक में सुख मिलता है। पंच महायज्ञ ये हैं। १ ब्रह्मयज्ञ २ देवयज्ञ ३ पितृयज्ञ ४ नृयज्ञ ५ भूतयज्ञ। वेद शास्त्रादि सद्ग्रन्थों का पढ़ना, विचारना, उन के उपदेशानुसार चलना, उन को दूसरों को पढ़ाना और उन के विषयों का प्रचार करना और संध्यावंदनादि द्वारा गायत्री उपासना करनी और भी अन्य कर्मों को करना ब्रह्मयज्ञ है †। प्रत्येक मनुष्य को संध्योपासना करना अवश्यकर्त्तव्य है जिसके

---

* इस यज्ञ रूप यज्ञ में स्वार्थ, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सर, इन्द्रिय विषय भोगेच्छा इत्यादि जो पशु हैं उन को योगरूपी अग्नि में आहुति करना पड़ता है जिस से वे शुद्ध हो कर निकलते, स्वार्थ निःस्वार्थ, काम निष्काम क्रोधदया इत्यादि रूप में परिवर्तन हो कर निकलते हैं।

† ब्रह्मयज्ञ के करने से ऋषिऋण से मनुष्य मुक्त होता है जितनी विद्या, धर्म, कला, कौशल आदि शास्त्रों द्वारा हम लोग प्राप्त करते हैं वे ऋषियों के द्वारा जो उन के कर्त्ता हैं हम लोगों को मिले हैं (वेद के मंत्रों को भी ऋषियों ने प्रथम दिव्यदृष्टि द्वारा देखा) जिन की प्राप्ति बिना हम लोग ज्ञानशून्य हो जंगली लोगों के सदृश हो जाते, अतएव उन ऋषियों के हम लोग ऋणी बने हुए हैं। इतना ही नहीं, किंतु कल्प के प्रारम्भ में जब हम जीवगण बालक की भांति थे तब वे लोग हम लोगों के साथ रहे, विद्याओं की शिक्षा दी, उपयुक्त सामाजिक नियम मनुष्यों के लिये बनाये, जब कोई बड़ी भूल करने पर होते थे तो वे उसके करने से रोक कर उस के दुष्ट परिणाम से बचा लेते, लड़कों का हाथ पर जैसे उन के माता, पिता चलाते हैं वैसे ही मानो वे चलाते थे। अब जीवगण प्रौढ़ हुए

न करने से पातक होता है। ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य के लिए वैदिक संध्या है, किन्तु शूद्र के लिए भी तांत्रिक संध्या है। गायत्री की उपासना संध्योपासना में मुख्य है और इसी कारण सब से प्रथम द्विज को गायत्री की दीक्षा दी जाती है। गायत्री यथार्थ में क्या है और बिना इन की प्रसन्नता के परमेश्वर की प्राप्ति नहीं हो सकती यह ज्ञानयोग और भक्तियोग में वर्णन किया जायगा। सन्ध्योपासना से ज्ञान-भक्ति के मिलने के सिवाय स्वास्थ्य भी उत्तम होता है और आयुर्दा बढ़ती है। लिखा है।—"एतदक्षरमेताञ्च जपन् व्याहृति-पूर्विकाम्। सन्ध्ययोर्वेदविद्विप्रो वेदपुण्येन युज्यते ७८। ओङ्कार-पूर्विकास्तिस्रो महाव्याहृतयोऽव्ययाः। त्रिपदा चैव सावित्री विज्ञेयं ब्रह्मणो मुखम् ८१ न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम्। स शूद्रवद्बहिः कार्य्यःसर्वस्माद्द्विज कर्मणः १०३ मनु अ० २ यह प्रणव या व्याहृतियुक्त गायत्री को जो ब्राह्मण दोनो सन्ध्या में सावधान मन से जपता है उसे वेद के सब पुण्य मिलते हैं ७२ प्रणवयुक्त अव्यय ये तीन महाव्याहृति और त्रिपदा गायत्री को ब्रह्मप्राप्तिका एक ही उपाय जाने ८१ जो पुरुष प्रातः और सन्ध्याकाल में गायत्री की उपासना नहीं करता वह शूद्र की भांति सब द्विजकर्मो से बाहर किया जाता है १०३। होमादि कर्मों को करना देवयज्ञ है, तर्पणादि कर्म करना पितृयज्ञ है, गृह पर आये हुए अतिथि को भोजनादि से सम्मान करना मनुष्ययज्ञ है, और पशु-पक्षियों को भोजन के लिये अन्न देना भूतयज्ञ है। इन में ब्रह्मयज्ञ सबों से श्रेष्ठ है और चारो आश्रम वालों के लिये अवश्य कर्त्तव्य है। सन्यासी को भी धर्म, ज्ञान, योग और भक्ति के प्रचार के लिये अवश्य यत्न करना चाहिये, जैसा कि परिव्राजकप्रवर श्री शङ्कराचार्य्य महाराज और अन्यान्य संन्यासी महात्मा लोग करते थे। यजुर्वेद अध्याय २६ का वचन है—

अतएव वे लोग हट गये, अपने हाथ पर हम लोगों को छोड़ दिया है क्योंकि यदि अब तक वे हाथ धर के चलाते रहते तो हम लोगों की उन्नति नहीं होती। जब लड़का स्वतः चलने योग्य हुआ तब न चले और सयानों की गोद ही में रह के चलने की इच्छा करे, तो ऐसी चाहना और क्रिया अस्वाभाविक होगी और उस लड़के को फिर कभी चलना नहीं आवेगा, क्योंकि लड़का जब शिशु बालक से कुछ अधिक बढ़ता है तो स्वतः चलने की चेष्टा कर के और चेष्टा करने में गिर २ के चलने की शक्ति प्राप्त करता है। ऐसे ही हम लोगों की वर्त्तमान अवस्था है, अब हम लोगों को स्वतः चेष्टा करनी चाहिये। किन्तु अप्रकाश भाव से अब तक ऋषिगण हम लोगों की सहायता करते हैं, देख ? गुप्त विषय।

यथेमां वाचं कल्याणीमवदानि जनेभ्यः,
ब्रह्मराजन्याभ्यां शूद्राय चार्य्याय च स्वाय चरणाय ।
प्रियो देवानां दक्षिणायै दातुरिह भूयासमयं
मे कामं समृध्यताम् मुखमादो नमतु ॥

मैं तुम लोगों को जैसा वेदरूप कल्याण करनेवाले वाक्यों का उपदेश करता हूं वैसे ही तुम लोग भी मनुष्यमात्र को यह वेदरूप कल्याण करनेवाला वाक्यों का उपदेश करोगे। यह वेदरूप कल्याण करनेवाले वाक्य (उपदेश) तुम ब्राह्मण, क्षत्रिय, आर्य्य अर्थात् कृषिव्यवसायी वैश्य, शूद्र, भृत्य और चाण्डालादि को भी दान करना। मैं जिस तरह वेद का उपदेश कर के विद्वान, दाता और चरित्रवान पुरुषों का प्रिय हुआ हूं वैसे ही तुम लोग भी पक्षपात त्याग कर वेद श्रवण करके सबों के प्रिय होओ * ।

देव यज्ञ अर्थात् होम करना सृष्टि के लिये बहुत ही श्रेयस्कर है।

अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते ।
आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः ॥७६॥

मनुस्मृति अध्याय ३ ।

अग्नि में आहुति देने से वह सूर्य में जाता है सूर्य से वह रस रूप में वर्षा हो कर पृथ्वी पर गिरता है जिस वर्षा से अन्न होता है और अन्न से प्रजा के शरीर बनते और पाले जाते हैं। सृष्टि का प्रत्येक कार्य जैसा वर्षा होना, अन्न का उपजना इत्यादि देवगणों के द्वारा सम्पादित होते हैं और प्रत्येक देवगण के अधिष्ठाता एक विशेष देवता होते हैं। अग्नि स्थूल होम द्रव्य को सूक्ष्म धूम रूपी बना देती है और मंत्र द्वारा देवगण आकर्षित हो कर उस को भक्षण करते हैं जिस से वे तृप्त हो के अपने काम वर्षा बरसाना

---

* वेदवाक्य के उपदेश सबों को किये जाने से यह तात्पर्य नहीं है कि अनधिकारी शूद्र भी वेदपाठी बनाया जाय, किन्तु तात्पर्य्य यह है कि वेद में सब प्रकार के उपदेश सब प्रकार के जीवों के निमित्त हैं उन में जो उपदेश जिन के निमित्त और जिन के योग्य हो वह उन को उपदेश होना चाहिये।

आदि को ठीक से करते हैं अर्थात् होमादि कर्म द्वारा उत्तेजित किये जा कर अपने कर्मों के करने में प्रवृत्त होते हैं, अतएव यदि होमादि कर्म नहीं किये जायें तो वे ठीक समय में ठीक प्रकार अपना काम नहीं कर सकेंगे । लिखा है कि: —

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तुवः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ॥११॥
इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तान्नप्रदायेभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥१२॥

भगवद्गीता अध्याय ३ ।

इस (यज्ञ) द्वारा तुम देवताओं को तृप्त करो और देवता तुम को तृप्त करें, इस तरह एक दूसरे को तृप्त करते हुए परमकल्याण प्राप्त करोगे ॥ ११ ॥ यज्ञ से तृप्त हुए देवगण तुमलोगों को यथेष्ट सुख देवेंगे, उन देवों के दिये हुए अन्नादि उपभोग उन को न देकर जो आप ही भोगता है वह चोर है ॥ १२ ॥ अनावृष्टि का प्रधान कारण होमयज्ञ का नहीं किया जाना है, यदि लोग थोड़ा २ भी होम सविधि किया करें तो अनावृष्टि बहुत कुछ रुक जाय ।

यह प्रसिद्ध है कि वायु बुरे पदार्थों की दुर्गंधि से दूषित हो जाती है, वायु दूषित होने से जल भी दूषित होता है, और जल वायु दूषित होने से हैजा महामारी आदि रोग उत्पन्न होते हैं ॥ होम के सुगंधित और मंत्र द्वारा पवित्र धूम के स्पर्श से दूषित वायु शुद्ध होती है, अतएव यदि सब लोग होम किया करें तो हैजा महामारी आदि बीमारियों का होना बहुत कम हो जायगा । महामारी (प्लेग) आदि संक्रामक व्याधियाँ अवश्य बहुत कम हो जायँगी यदि सब लोग शुद्ध चित्त हो पूर्ण रीति से होमयज्ञ करना प्रारम्भ करें । हमलोगों के विष्ठा त्याग करने से, मूत्रत्याग से, थूक फेंकने से, चूल्ही इत्यादि की राख आदि के फेंके जाने से और नाना प्रकार के पशुओं के मल मूत्र आदि से संसार का वायु प्रत्यह दूषित किया जाता है जिस से संसार के प्राणी मात्र की हानि होती है, इस लिये

भी हम लोगों का यह परम कर्तव्य है कि प्रति दिन होम कर के निज कृत दूषित वायु को भी तो शुद्ध करें * यदि अधिक नहीं कर सकें। होम वैदिक अथवा तांत्रिक मंत्र से होना चाहिये अथवा गायत्री मंत्र में स्वाहा शब्द जोड़ के भी हो सकता है। और विशेष कुछ न हो तो किंचित् धूप घी तिल शर्करा जौ को भी एकत्र कर के मंत्र से अग्नि में हवन करना भी होम है जिसे सब कोई प्रतिदिन कर सकता है। इस होम के त्याग से भारतवर्ष की बड़ी हानि हुई है और इस के विशेष प्रचार होने से लोगों का बड़ा उपकार होगा, अतएव लोगों को इस का प्रचार करना चाहिए।

पितृ गणों के (जो देवताओं के समान कल्प के प्रारम्भ ही से सृष्टि के कार्य्य में नियुक्त हैं) अपनी छाया देनेसे और उनकी सहायता से हम लोगों के आदिम शरीर बने हैं, इस लिये हम

---

* पिप्पल वृक्ष के वायु से दूषित वायु शुद्ध होता है, अतएव उक्त वृक्ष संसार का परोपकारी है और उस में जल दे के उस की वृद्धि करने में उत्तम फल है। श्रीकृष्ण भगवान का गीता में वचन है—

"अश्वत्थः सर्व्ववृक्षाणां"

सब वृक्षों में पीपल वृक्ष मैं हूं। और भी लिखा है कि—

मूले ब्रह्मा त्वचा विष्णुः शाखा शङ्कर एवच।
पत्रे पत्रे सर्व्वदेवाः वृक्षराज! नमोस्तुते।

पिप्पल वृक्षके मूल में ब्रह्मा का, छाल में विष्णु का, डाल में शङ्कर का और पत्र २ में देवताओं का वास है अतएव हे वृक्षों के राजा पिप्पल! तुम को नमस्कार है।

अश्वत्थवृक्षहन्तारं त्राता कोऽपि न विद्यते।

माघ-माहात्म्य।

अश्वत्थ वृक्ष के काटने वाले को कोई बचाने वाला नहीं रहता है। इसी निमित्त पिप्पल वृक्ष अथवा उस की डालियों को काटना वर्ज्जित है। हाथी बहुत डील डौल के वायु का अधिक अंश दूषित करता है और दूषित वायु को शुद्ध करने वाले पीपल वृक्ष की पत्रयुक्त डालियां भी उस के भोजन के लिये काटी जाती हैं अतएव हाथी के मालिक को दोनों दोष (वायु को दूषित करने का और दूषित वायु के शुद्ध करने वाले पदार्थ के नाश करने का) हो सकते हैं। अन्य वृक्षों से भी संसार का उपकार होता है विशेष कर जलवर्षण में, अतएव उन का भी हाथी के भोजन निमित्त काटा जाना अच्छा नहीं है। हाथियों के रहने का नियत स्थान जंगल है क्योंकि जंगल छोड़ नगर में अन्य पशुओं की भांति हथिनियां बच्चे बियाती नहीं हैं। पूर्वकाल में केवल राजा लोग हाथी रखते थे, अन्य कोई नहीं।

लोग उन के और भी अपने पिता पितामहादि पूर्वजों के जिन के द्वारा स्थूल शरीर आदि मिलते हैं ऋणी बने हुए हैं, जिस को पितृयज्ञ अर्थात् श्राद्ध तर्पणादि कर के सधाना चाहिये। इनमें नित्यतर्पण मुख्य है। यह पितृयज्ञ भी सृष्टि में सार्वभौमिक भ्रातृभाव अर्थात् एकता का होना और प्रत्येक को समूह सृष्टि की भलाई करने के लिए यत्न करना परमावश्यक है यह सिद्ध करता है। तर्पण में ब्रह्मा से ले असुर, सर्प, वृक्ष, पक्षी इत्यादि सम्पूर्ण प्राणियों की तृप्ति के लिए तर्पण करना होता है। इस तर्पण की मूलभित्ति यह है कि सम्पूर्ण संसार आत्मा की दृष्टि से एक है, उस एक परमात्मा की ही विश्वमात्र विभूतिहै, और उनके अंश सर्वत्र सबों में विद्यमान हैं। जैसा कि किसी २ तड़ाग में जल के ऊपर हरिआली (कुम्भी आदि घास पात) इसप्रकार छाएरहते कि सम्पूर्ण जलाशय केवल हरा घास मालूम पड़ताहै, जल किंचित भी देखने में नहीं आता, किन्तु यदि उस में भीतर प्रवेश कर देखा जाय तो हरिआली केवल ऊपर के भाग में मालूमपड़ेगी और उसके बाद जल ही जल पायाजायगा। इसी प्रकार प्रत्येक प्राणी में ईश्वर का अंश विद्यमान है जो अविद्या और उस के कार्य्य रागद्वेष और स्वार्थ आदि रूपी हरिआली से वाह्य में आच्छादित रहने के कारण कुछ भी मालूम नहीं पड़ता किन्तु वह वहां वर्तमान अवश्य है और भी प्रकाशक है और कभी न कभी आवरण के हटनेपर अवश्य विशेष प्रगट होगा। अतएव सर्वात्म दृष्टि रख सबों को सबों के साथ प्रेम का वर्त्ताव रखना चाहिए, सबों की तृप्ति के लिए संकल्प करना चाहिए किसी के साथ द्वेष नहीं करना चाहिये और जो हानि पहुंचावे उसके प्रति भी द्वेष न कर उस का भी मंगल कामनाही करनी चाहिए। यही तर्पण का मुख्य तात्पर्य्य है जिसमें रक्षक, पोषक आदि के सिवाय राक्षस, सर्प आदि हिंसकों के लिए भी कल्याण कामना करना होता है। तर्पण में व्यवहृत शब्द "तृप्यन्ताम्" का अर्थ है कि तृप्ति पावें अर्थात् कल्याण हो। तर्पण का कार्य्य केवल जलप्रदान से ही नहीं होता है किन्तु यह एक विश्वमात्र के लिए कल्याणकारी भाव है, जिसका द्विजों को निरंतर सदा हृदय में रखना चाहिए और इसको अपने जीवन का मुख्योद्देश्य मान उसको कार्य्य में परिणत करना चाहिए। जहां कहीं कोई दुःख किसी में देखा जाय, तुरंत

उसकी नवृत्ति के लिए और उसके कल्याण के लिए मंगलप्रद कामना करनी चाहिए। मन की शक्ति बहुत बड़ी और प्रबल है, अतएव पवित्र, दृढ़ और निःस्वार्थ मानसिक मंगल और कल्याणमयी चिंता जो दूसरे के दुःख की निवृत्ति के लिए की जाय उसका प्रभाव अवश्य होगा और यह मानसिक क्रिया शारीरिक क्रिया से कई अधिक और विशेष प्रभावशाली है यदि शुद्ध और दृढ़भाव से प्रयोग कियाजाय। केवल निरंतर दूसरे की मंगलकामना करते रहने से भी हम लोग दूसरों का बड़ा उपकार कर सकते हैं और इस कार्य्य में सब कोई प्रवृत्त हो सकता है। अतएव तर्पण अर्थात् दूसरों की भलाई के लिए मंगलकामना करना अर्थात् अपने से बड़े, समान और छोटे, शत्रु, मित्र उदासीन सबों के लिए मंगलकामना करना प्रत्येक द्विज का कर्तव्य है। आजकल तर्पण करना केवल वाचनिक क्रिया हो गया है किन्तु यथार्थ में विश्वमात्र जो परमात्मा का वासस्थान है उस के साथ एकता स्थापन करने का यह कर्म है, क्योंकि तर्पण करना विश्वमात्र के प्राणियों को अपने से अपृथक् अपने आत्मा मान और उनका ऋणी अपने को मान उनकीमंगलकामना के लिए अपनी मानसिक शक्ति का उपयोग करना है जिसके लिए जल प्रदान केवल स्थूलरूपमें वाहक है। यथार्थ में यह संकल्प द्वारा मानसिक क्रिया है। मैं विष्णुपुराण से तर्पण के मंत्रों को यहां उद्धृत करता हूं जिनसे स्पष्ट प्रकट होगा कि तर्पण में कैसे बड़े उच्च परोपकार का भाव स्पष्ट है:—

इदञ्चापि जपेदम्बु दद्यादात्मेच्छया नृप।
उपकाराय भूतानां कृत देवादि तर्पणः॥
देवासुरास्तथा यक्षा नागा गन्धर्व राक्षसाः।
पिशाचा गुह्यकाः सिद्धाः कुष्माण्डास्तरवः खगाः ३२।
जलेचरा भूमिलया वाय्वाधाराश्च जन्तवः।
प्रीतिमेते प्रयान्त्वाशु मद्दत्तेनाम्बुनाखिलाः ३३।
नरकेषु समस्तेषु यातनासु च ये स्थिताः।
तेषामप्यायनायैतद् दीयते सलिलं मया।३४।
येऽबान्धवा बान्धवावा ये ऽन्यजन्मनि बान्धवाः।
ते सर्वे तृप्तिमायान्तु ये चास्मत्तोयकाङ्क्षिणः ३५।
यत्रक्वचन संस्थानां क्षुत्तृष्णो पहतात्मनाम्।
इदमप्य क्षयञ्चास्तु मयादत्तं तिलोदकम्।३६।

हे राजा ! देवता आदिक तर्पण करने के बाद अपनी इच्छाशक्ति का प्रयोग कर सब प्राणियोंके उपकार के लिए ऐसा कह कर जल प्रदान करे ३१ मेरे जल देनेसे सब प्राणीगण जैसा कि देव, असुर, यक्ष, नाग, गन्धर्व, राक्षस, पिशाच, गुह्यक, सिद्ध, कुष्माण्डादि वृक्ष, पक्षी, जलचर, भूमिके भीतर रहनेवाले, वायु आहार करने वाले जन्तुमात्र सुखी होवें ३२ । ३३ । सब नरकों में जो कष्ट में पड़े हुए हैं उनकी शान्तिके लिए मैं यह जल देता हूं ३४ जो मेरे भाई बन्धु हैं अथवा इतर हैं अथवा दूसरे जन्मोंके भाई-बन्धु हैं वे सब तृप्त हों जो मेरे जल प्रदान की आकांक्षा रखने वाले हैं ३५ जो कहीं भी हों किन्तु क्षुधा तृष्णासे पीड़ित हों उनके तृप्तिके लिए यह मेरा दिया हुआ तिलयुक्त जल अक्षय होवे ।

अतिथि अर्थात् अभ्यागत को पहले भोजन करा के पीछे अपने भोजन करना गृहस्थ का मुख्य धर्म है जिस को नृयज्ञ कहते हैं। जो अतिथिसेवा नहीं करते वह बड़े भारी पाप के भागी होते हैं। तैत्तिरीयोपनिषद् का आदेश है—

"अतिथिदेवो भव"

अतिथि को देवता जान सेवा करो ।

मातरं पितरं पुत्रं दारानतिथिसोदरान् ।
हित्वा गृही न भुञ्जीयात् प्राणैः कण्ठगतैरपि ॥३३॥

महानिर्वाणतंत्र अध्याय ८ ।

माता, पिता, पुत्र, स्त्री, अतिथि और सहोदर भाई इन को छोड़ के गृहस्थ प्राण कण्ठ में आने पर भी न खाय ।

अतिथिर्यस्य भग्नाशो गृहात्प्रतिनिवर्त्तते ।
स तस्मै दुष्कृतं दत्वा पुण्यमादाय गच्छति ॥ ३४ ॥

वृहन्नारदीयपुराण अध्याय २५ । ९ और
विष्णुपुराण अंश ३ अध्याय और ११ श्लो० १५ व ६६ ।

किसी के घर से जब अतिथि अर्थात् अभ्यागत बिना भोजन पाये निराश हो कर चला जाता है तब उस अतिथि का पाप उस गृहस्थ में जाता है और उस गृहस्थ का पुण्य वह अतिथि ले कर चला जाता है ।

न वै स्वयं तदश्नीयादतिथिं यन्न भोजयेत्।
धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वर्ग्यं चातिथिपूजनम् ॥१०६॥
देवानृषीन्मनुष्यांश्च पितॄन्गृह्याश्च देवताः।
पूजयित्वा ततः पश्चाद्गृहस्थः शेषभुग्भवेत् ॥११७॥
अघं स केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्मकारणात्।
यज्ञशिष्टाशनं ह्येतत्सतामन्नं विधीयते ॥ ११८ ॥

मनुस्मृति अध्याय ३।

जिस वस्तु को न अतिथि को खिलावे वह आप भी नहीं खावे, *अतिथि को सेवा करने से धन, यश, आयुर्दा और स्वर्ग* की प्राप्ति होती है ॥ १०६॥ देवता, ऋषि, मनुष्य, पितृ और घर के देवताओं को अन्नादि से प्रथम पूजा कर के पीछे गृहस्थ उन से बचे हुए अन्न को भोजन करे ॥ ११७ ॥ जो मनुष्य केवल अपने पेट भरने वास्ते अन्नपाक करता है वह केवल पाप ही भोजन करता है। यज्ञ कर के बचा हुआ अन्न सज्जनों के भोजन के योग्य है ॥ १८ ॥ प्रत्येक मनुष्य को दूसरे मनुष्यों की सहायता की अपेक्षा रहती है, और बिना दूसरे की सहायता के किसी का कोई काम सम्पन्न नहीं हो सकता, अतएव प्रत्येक मनुष्य मनुष्य मात्र का ऋणी है। इस निमित्त अभ्यागतों को अन्नादि से सत्कार करना, भूखे को खिलाना, नंगे को वस्त्र देना इत्यादि गृहस्थों का मुख्य धर्म है जिस के द्वारा मनुष्य-ऋण से मनुष्य उऋण होता है। भूखे को भोजन देना और अभ्यागत को आश्रय देना मानो मनुष्य मात्र की सेवा करनी है।

पशु पक्षियों को और भी अन्न हीन दीन असक्त जनों को अन्न देना भूतयज्ञ है। परमात्मा का अंश प्राणीमात्र में होने से केवल मनुष्यों ही का उपकार करना चाहिये ऐसा नहीं, किंतु पशु-पक्षियों को और दीन दुःखितों को भी सुखी करना चाहिये। यह भूतयज्ञ पञ्च महायज्ञ के अन्तर्गत है इस से ऐसा प्रकट होता है कि पशु पक्षियों और अन्य निःसहायों को अन्न दे के तृप्त करना और अभय करना हम लोग का कर्तव्य है, और उन के मांस से अपना मांस

बढ़ाना अथवा उनके साथ कुव्यवहार करना कदापि उचित नहीं है और ऐसा कर्म गर्हित है। पशुपक्षियों में भी हम लोगों की तरह परमात्मा के प्रकाश और वास रहने के कारण हम लोगों को उन को सुखी बनाना चाहिए और उनकी उन्नति में सहायता देनी चाहिये, जैसा बड़े योग्य भाई का धर्म छोटे असहाय भाई के प्रति है। जब तक मनुष्य भूतयज्ञ का पालन करता था और पशु पक्षियों की भलाई और उन्नति करने में सहायता करनी अपना कर्तव्य समझता था तब तक पशु पक्षी निर्वैर भाव से मनुष्य के मध्य में रहते थे और मनुष्यों को अपना सहायक समझते थे, किंतु जब से मनुष्य ने सहायता के बदले उन को अपने स्वार्थनिमित्त कष्ट देना और दुर्व्यवहार करना प्रारम्भ किया तब से वे मनुष्य से भय करते हैं और देख के भागते हैं। किंतु ऋषिगण जिन में अहिंसा गुण पूर्ण रूप से वर्तमान है उन से ये भय नहीं करते उन की जटाओं में पक्षी खोता लगाते और मृगा उन के शरीर में अपना शरीर रगड़ते।

प्रतिदिन द्विज को जैसे तर्पण द्वारा प्रायः अंतरिक्ष के प्राणियों की मंगलकामना करनी पड़ती है जिसकेलिए जल उपयुक्त वाहक है, इसी प्रकार प्रतिदिन अन्न द्वारा भी अंतरिक्ष और भी इस जगत के प्राणियों की तृप्ति करनी आवश्यक है किन्तु इसमें भी मानसिक भावना मुख्य है। यह विधि भोजन के पूर्व करनी पड़ती है जिस को बलि वैश्वदेव कहते हैं। इस विषय के निम्नलिखित विष्णुपुराण के वचन विचार करने से भलीभांति फिर यही सिद्ध होगा कि द्विज का जीवन केवल परोपकार के लिए है और यह परोपकार विश्वव्यापी ही नहीं किन्तु ब्रह्माण्डव्यापी होनाचाहिए:—

"विश्वे देवान् विश्वभूतानथो भूतपतीन् पितॄन्।
यक्षाणाञ्च समुद्दिश्य बलिं दद्यान्नरेश्वरः॥ ४७॥
ततोऽन्य दन्नमादाय भूमिभागे शुचौ बुधः।
दद्यादशेषभूतेभ्यः स्वेच्छया तत्समाहितः॥ ४८॥
देवा मनुष्याः पशवो वयांसि
सिद्धाः स यक्षोरग दैत्यसंघाः।
प्रेताः पिशाचास्तरवः समस्ताः
येचान्यमिच्छन्ति मया प्रदत्तम्॥ ४९॥

पिपीलिकाः कीट पतङ्ग काद्याः, बुभुक्षिताः कर्म निबन्धबद्धाः।
प्रयान्तु ते तृप्तिमिदं मयान्नं, तेभ्यो विसृष्टं सुखिनो भवन्तु। २०

येषां न माता न पिता न बन्धु नैंवान्नसिद्धि र्न तथान्नमस्ति।
तत्तृप्तयेऽन्नं भुविदत्तमेतत्, प्रयान्तु तृप्तिं मुदिता भवन्तु॥ ५१॥

भूतानि सर्वाणि तथान्नमेतत् अहञ्च विष्णु र्नयतोऽन्यदस्ति।
तस्मादहं भूतनिकायभूतम्, अन्नं प्रयच्छामि भवाय तेषाम्॥ ५२॥

चतुर्दशो भूतगणोय एष तत्र स्थिता येऽखिलभूतसंघाः।
तृप्त्यर्थमन्नं हि मया विसृष्टं, तेषामिदं ते मुदिता भवन्तु॥५३॥

इत्युच्चार्य्य नरो दद्यादन्नं श्रद्धासमन्वितः।
भुविभूतोपकाराय गृही सर्वाश्रयोयतः॥ ५४॥

श्वचण्डालविहङ्गानां भुविदद्यात्ततोनरः।
ये चान्ये पतिताः केचिदपात्रा भुविमानवाः॥ ५५॥

अंशः ३ अ० ११

हे राजा! विश्व के देवगण, विश्व के प्राणीमात्र, भूतों के नायक, पितृगण, यक्ष इन सभों को उद्देश्य कर भूतवलि देवे ४७ फिर और अन्न को लाके पवित्रता से भूमि पर रख के विधिपूर्वक अन्य प्राणियों को अपनी इच्छा से देवे ४८ फिर कहे कि देव, मनुष्य, पशु, पक्षी सिद्ध, पक्षवाला सर्प, दैत्य, प्रेत, पिशाच, वृक्ष इत्यादि और अन्य भी जो कोई मेरी वलि के पाने की इच्छा करते हैं उन को मैं देता हूँ। चींटी, कीट, मक्खी, आदि जो कर्मानुसार बद्ध होकर भूखे हैं वे मेरे दिए अन्न से तृप्त होवें और उस से वे सुखी होवें २० जिस को न माता है, न पिता है, न भाई है, न सिद्ध अन्न है और न अन्न है उनकी तृप्ति के लिये भूमि में दिए मेरे अन्न से वे तृप्ति पावें और सुखी हों २१ सब प्राणी और भी यह अन्न, और भी मैं ये सब विष्णु ही हैं क्योंकि उनके सिवाय और कुछ नहीं है अतएव सब प्राणियों की तृप्ति के लिए मैं अन्न देताहूँ। २२ चौदह लोकों में जो अखिल प्राणी समूह हैं उनकी तृप्ति के लिए मैं यह अन्न देताहूँ जिस से वे प्रसन्न होवें २३ ऐसा कह कर श्रद्धा से मनुष्य भूमि में

प्राणियों के उपकार के लिए अन्न देवे क्योंकि सब कोई गृही का आश्रय करते हैं २४ तब मनुष्य, नीच, चाण्डाल, पक्षी को भूमि पर अन्न देवे और भी जो दूसरे पतित अपात्र मनुष्य हों उनको भी अन्नदान दे २५ इन वाक्यों में श्लोक ५२ विशेष ध्यान देने योग्य है और उससे भी यही सिद्ध होता है कि सब प्राणियों को विष्णु रूप समझ उन के उपकार में प्रवृत्त होना चाहिए—

पशु पक्षियों को अथवा निःसहाय और दीन जनों को दुःख देना मानो परमात्मा की प्रसन्नता के विरुद्ध कर्म करना है जिन का अंश उन में है * । भागवत ७ म स्कंध १४ अध्याय गृहस्थ धर्म प्रकरण में यों लिखा है ।

मृगोष्ट्रखरमर्काखुसरीसृप्खगमक्षिकाः ।
आत्मनः पुत्रवत् पश्येत् तैरेषामन्तरं कियत् ॥ ९ ॥

मृग, ऊंट, गदहा, वानर, मूस, साँप पक्षी और मक्खी आदि को अपने पुत्र के समान समझना चाहिये, उन से और पुत्र में क्या भेद है ? कुछ नहीं ।

---

*दीनजनों को दुःख देनेवाला स्वयं महान् विपत्ति में पड़ता है ।

न हि दुर्बलदग्धस्य कुलेकिञ्चित प्ररोहति ।
आमूलं निर्दहत्येव मा स्म दुर्बलमासदः ॥ १६ ॥
अबलं वै बलाच्छ्रेयो यच्चातिबलवद्बलम् ।
बलस्याबलदग्धस्य न किञ्चिदवशिष्यते ॥ १७ ॥
मा स्म तात बलेस्थित्वा भुञ्जीथा दुर्बलं जनम् ।
मा त्वां दुर्बलचक्षूंषि दहन्त्वग्निरिवाशयम् ॥ १८ ॥

म० भा० शान्ति प० अ० ९१ ।

जो कुल दुर्बल को पीड़ा देने के कारण दग्ध है उसमें सन्तान नहीं होती और ऐसा कुल मूल से नष्ट हो जाता, अतएव दुर्बल को मत सताओ ।

निर्बलता बड़े भारी बल से भी विशेष समर्थवान है, क्योंकि जो बल (दुर्बल के दुःख देने के कारण) दुर्बलता से दग्ध होता है वह पूर्ण रूपसे नष्ट हो जाता ॥ १७ ॥

हे तात ! बलवान् होने पर भी अन्याय से निर्बल का धन मत लो ; सावधान हो कि (तुमसे पीड़ित) निर्बल का नेत्र जलतीहुई अग्नि की नाईं जला न दे ॥ १८ ॥

पुराण्यनेन सृष्टानि नृतिर्यगृषिदेवताः।
शेते जीवेन रूपेण पुरेषु पुरुषो ह्यसौ॥ ३७॥
तेष्वेषु भगवान् राजंस्तारतम्येन वर्त्तते।
तस्मात्पात्रं हि पुरुषो यावानात्मा यथेयते॥ ३८॥

तत्रैव।

मनुष्य, पशु, ऋषि, और देवताओं के शरीर रूप पुर को बना के भगवान जीव रूप में उन में शयन करते हैं अतएव उनको पुरुष कहते हैं। हे राजन्! भगवान उन में तारतम्य भाव से रहते हैं (किसी में उन का अधिक प्रकाश और किसी में उस से कम प्रकाश है), अतएव पुरुष ही पात्र है और उन में जिन में ज्ञान अधिक है वेही उत्कृष्ट पात्र हैं (किंतु अन्य भी पात्र हैं और माननीय हैं)। इन वाक्यों से मनुष्य, पशु, ऋषि और देवताओं में एक ही परम पुरुष का निवास करना ज्ञात होता है और सृष्टि में ऐक्य अर्थात् एक सर्वात्मा की दृष्टि से सार्वभौमिक भ्रातृभाव का होना सिद्ध होता है और यह भी सिद्ध होता है कि एक मनुष्य को दूसरे मनुष्यों के साथ और पशुओं के साथ भ्रातृभाव और प्रेम का बर्ताव रखना चाहिये और उन की भलाई के निमित्त अवश्य चेष्टा करनी चाहिये जो उत्तम प्रकार की ईश्वरपूजा है। जो कोई मनुष्य पशु आदि को द्वेष अथवा लोभ से हानि करना चाहते हैं वे कदापि ईश्वरप्रिय हो नहीं सकते। कोढ़ी, अन्धा, लंगड़ा, निर्बल आदि दीन जनों को नारायण समझ श्रद्धापूर्वक अन्न वस्त्रादि द्वारा सेवा करनी परमात्मा की उत्तम प्रकार की पूजा करनी है। लाखोंलाख बाहरी काम में खर्च करने से उतना परमात्मा प्रसन्न नहीं होते, जितना दुःखी दीन जनों के संतुष्ट करने से।

कर्म्मणा मनसा वाचा सर्वलोकहितेरतः।
समर्च्चयति देवेशं क्रियायोगः स उच्यते॥

बृहन्नारदीय पुराण अध्याय ३१

कर्म, मन और वचन से सब लोगों का हित करते हुए विष्णु जी की पूजा करने को कर्मयोग कहते हैं।

सार्वभौमिक भ्रातृभाव का सृष्टि में होना अर्थात् आत्मा की दृष्टि से सर्वों का एक होना पंच महायज्ञ से भी सिद्ध होता है जिस का उद्देश्य केवल सृष्टि के प्राणियों की भलाई करनी है। ये पंच महायज्ञ इस एकात्म भाव के ऊपर ही स्थित हैं। अथर्ववेद के निम्नलिखित मन्त्रों से भी प्रगट होगा कि मनुष्यों को आपस में ऐक्यता, प्रेम और भ्रातृभाव का वर्ताव रखना चाहिये।

संहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्योऽन्य मभिहर्य्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥

मैं तुम लोगों को विद्वेषशून्य और ऐकान्तिक ऐक्यता प्रदान करताहूं, गौ जिस तरह से बाछा के जन्म लेने से प्रसन्न होती है, तुम लोग भी उसी तरह एक दूसरे को देख कर प्रसन्न हो। ऋग्वेद का वचन है—

संगच्छध्वं संवदध्वं संवोमनांसि जानताम्।
देवाभागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥
समानीव आकूतिः समाना हृदयानिवः।
समानस्तु वो मनो वः सुसहासति॥

तुम लोग मिलाप रक्खो, तुम एक हो के प्रस्ताव करो, तुम लोग एक दूसरे के मन का भाव जानो। देवता जिस प्रकार एकमत हो के हवि ग्रहण करते हैं तुम लोग भी वैसे ही एकमत हो। तुम लोगों का संकल्प एक होवे, हृदय एक होवे, मन एक होवे, जिस से तुम लोग अच्छी तरह मेल प्राप्त करो *

---

* मृत्योः समृत्यु माप्नोति य इह नानेव पश्यति।

कठउपनिषद् ११—४ वल्ली ३।

जो यहां के बाह्य नानात्व को सत्य समझता है वह मृत्यु ही मृत्यु में पड़ता है।

यस्यं चात्मसमो लोको धर्म्मज्ञस्य मनस्विनः।
सर्व्वधर्म्मेषु च रतस्तं देवा ब्राह्मणं विदुः॥

महाभारत।

दृतेदृंहमा मित्रस्य मा चक्षुषा
सर्वाणिभूतानि समीक्षन्ताम् ।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि
समीक्षे मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ॥

यजुर्वेद ।

हे ईश्वर ! मुझ को शरीर की वृद्धावस्था को प्राप्त होने पर भी दृढ़ रख, सकल प्राणी मुझ को मित्र दृष्टि से देखें, और मैं भी सकल प्राणियों को मित्र दृष्टि से देखूं अर्थात् सकल प्राणियों का मैं प्रिय होऊं और सकल प्राणी मुझ को प्रिय हों, इस प्रकार परस्पर द्रोह को त्याग कर किसी के चित्त को न दुखाते हुए मैं परस्पर मित्रभाव से बर्ताव करूं ।

जो सम्पूर्ण लोक को आत्मवत् देखते हैं, जो धर्मज्ञ, विवेकशील और सर्व्व धर्म्मों के अनुष्ठान करनेवाले हैं, देवता लोग ऐसे ही को ब्राह्मण कहते हैं ।

नतादृशं ब्राह्मणस्यास्ति वित्तं यथैकता समता सत्यता च ॥३७॥

भारत शान्तिपर्व अध्याय १७५ ।

ब्राह्मण को एकता, समता और सत्यता के ऐसा और कोई धन नहीं है ।

यस्तु सर्व्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्व्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥
यस्मिन् सर्व्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥

ईशावास्योपनिषत् ।

जो सब भूतों को केवल आत्मा में देखता है और आत्मा को सब भूतों में वह किसी से घृणा नहीं करता । जब मनुष्य जानता है कि सारे भूत आत्मा ही हैं (और) एकत्व देखता है तो फिर मोह और शोक कहां है, (अर्थात् नहीं रहते) ।

ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति ।

मुण्डक उपनिषत् ।

धीरगण आत्मा के साथ एक हो के सर्व्वव्यापी ईश्वर को सर्व्वत्र पा के सभी के साथ सम्मिलित हो जाते हैं ।

पंच महायज्ञ * करने के पश्चात् संसार में दैनिक सांसारिक कर्तव्य पालन रूप यज्ञ के करने में प्रवृत्त होना चाहिये अर्थात् अपने सांसारिक कामों को भी कर्तव्य समझ निःस्वार्थ भाव से और आसक्ति और फल की इच्छा त्याग करना चाहिये ।

अब मनुष्य के सांसारिक कर्तव्यों का किंचित् विचार करना चाहिये । कर्मयोग अथवा अन्ययोग का यह अभिप्राय नहीं है कि योग का साधक गृह त्याग जंगल में चला जाय अथवा इतस्ततः केवल भ्रमण किया करे और जो कुछ कर्तव्य उस को माता, पिता, पुत्र, स्त्री आदि के प्रति हों उस को न करे। अपने सांसारिक कर्तव्य और धर्म के पालन न करने से किसी को भी योग, ज्ञान अथवा भक्ति की प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती है जो कर्तव्य के पूर्ण रूप से और कर्मयोग के अनुसार पालन करने से ही प्राप्त होते हैं। जिस परिवार अथवा कुल में जिस का जन्म होता है उस परिवार अथवा कुल की आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिये विहित कर्मों को करना उस का कर्तव्य है और जिस जाति और वर्ण में उस का जन्म है अथवा जिस जाति और वर्ण की यथार्थ में वह योग्यता रखता है उस जाति और वर्ण के कर्तव्य कर्मों का पालन करना उस का धर्म होता है। अतएव जन्मानुसार, अवस्थानुसार, योग्यतानुसार और आश्रित परिवारों की आवश्यकतानुसार जिन कर्तव्यों को पालन करना चाहिये उन्हीं के करने से उस जीव की उन्नति होती है, क्योंकि पूर्व कर्मानुसार उस के लिये वही अवस्था और स्थान उपयुक्त समझा गया है जिस के अनुसार अपने कर्तव्यपालन से वह उन्नति करेगा * ।

---

* साधक में जब कोई मलिन वासना नहीं रहती, अन्तःकरण एक दम शुद्ध हो जाता, रजः और तम गुणों का पूरा २ पराभव हो जाता और समता एकता का ज्ञान और अभ्यास दृढ़ हो जाता, स्वार्थ का अंतिम अंश चला जाता और भक्ति दृढ़ हो जाती तो वह यथार्थ संन्यासी होता है जो पंचमहायज्ञ में ब्रह्मयज्ञ (धर्म का प्रचार करना) को छोड़ के अन्य यज्ञों के सम्पादन में बाध्य नहीं रहता किंतु जब जब विशेष आंतरिक मानसिक क्रिया के सम्पादन में प्रवृत्त होता है और उसी के द्वारा सृष्टि का अनेकानेक उपकार करता है ।

* किंतु एक किसी अवस्था, व्यवसाय अथवा स्थान का पूरा ज्ञान प्राप्त हो जाने से और उनके सम्बन्ध के कर्तव्य का सम्पादन कर लेने पर फिर उस को

स्वे स्वे कर्म्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ॥४५॥
श्रेयान् स्वधर्म्मो विगुणः परधर्म्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वभावनियतं कर्म्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥४७॥
सहजं कर्म्म कौन्तेय ! सदोषमपि न त्यजेत् ॥४८॥

भगवद्गीता अध्याय १८।

अपने २ कर्तव्य कर्मों के करने में प्रवृत्त रहने से मनुष्य सिद्धि की प्राप्ति करता है ॥ ४५ ॥ गुण रहित भी स्वधर्म, अन्य के उत्तम रूप से सम्पादित धर्म की अपेक्षा उत्तम है, अपने स्वभाव के अनुसार कर्म करने से कोई पापभागी नहीं होता ॥ ४७ ॥ हे कौन्तेय ! जन्मानुसार जिस का जो कर्तव्य कर्म है वह दोषयुक्त भी हो, तो भी उस का त्याग नही करना चाहिये ॥४८॥ जिस अवस्था में रह के जो ज्ञान प्राप्त करने से और जिस कर्म के करने से जिस जीव की उन्नति होगी वह जीव उसी अवस्था में दिया जाता है और वैसे ही कर्म का करना उस के इलाके होता है, अतएव उस को उसी के अनुसार चलने से उन्नति होगी अन्यथा नहीं। इस कारण सांसारिक कर्तव्य कर्मों को ऐसा समझ करना चाहिये कि पूर्व जन्म के कर्मानुसार उस को उन कर्मों का करना आवश्यक है, अतएव फल उस का जो कुछ हो उस में आसक्ति न रख निष्कामभाव से कर्म करते जाना चाहिये।

मन, शरीर और इन्द्रिय इन तीनों को वश और शुद्ध करना चाहिये। मन और इन्द्रियों का एकदम निग्रह होना साधारण लोगों के लिये असम्भव है, अतएव शनैः २ निग्रह करने की चेष्टा करनी चाहिये।

आवश्यकता नहीं रहती और सब परिवर्तन हो जाता है। प्रारब्ध कर्म बिना भुगते क्षीण नहीं होता, और प्रारब्ध कर्म के भुगतने के निमित्त उस के अनुसार उपयुक्त स्थान और अवस्था में मनुष्य का जन्म होता है, अतएव वहां रह के अपने कर्तव्य कर्म करने से वह उस प्रारब्ध कर्म से मुक्त होता है। इस निमित्त किसी को अपनी वर्तमान अवस्था में असंतोष नहीं दिखलाना चाहिये और न अवस्थानुसार स्वयं प्राप्त कर्मों को त्यागने की चेष्टा करनी चाहिये।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्म्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥१७॥

भगवद्गीता अध्याय ६ ।

जो नियम से भोजन करता, नियम से विहार करता, नियम से कर्म में चेष्टा करता, नियम से सोता, और नियम से जागता उसी को योग दुःखों का नाश करने वाला होता है ॥१७॥ इसी युक्ताहार विहार के सम्पन्न होने के लिये गृहस्थाश्रम में कुछ दिन रहना आवश्यक माना गया, क्योंकि वहां नियमानुसार चलने से धीरे धीरे इन्द्रियों का निग्रह सहज में हो सकता है। इसी निमित्त ऐसा नियम हुआ कि ब्रह्मचर्य के बाद गृहस्थाश्रम में रह के और उस आश्रम का कर्त्तव्य पूरा कर के विरक्त (वानप्रस्थ) होवे अन्यथा नहीं। केवल एक स्त्रीसम्भोगेच्छा ही का एकदम दमन होना असम्भव है, परन्तु गृहस्थाश्रम के नियमानुसार चलने से धीरे धीरे इस का निग्रह यों हो सकता है। उस इच्छा को प्रथम गृहस्थाश्रम के नियमानुसार केवल अपनी स्त्री में रक्खा, उस में भी केवल ऋतुकाल के लिये। उस में भी शास्त्रानुसार कई तिथियों में वर्जित किया, और वह भी केवल पुत्र उत्पन्न कर पितृऋण से मुक्त होने के निमित्त कर्तव्य जान करना सुख के लिये नहीं, और फिर पुत्र उत्पन्न के पश्चात् उस का एकदम त्याग करना जो त्याग ऊपर के नियमानुसार चले बिना हठात् सम्पन्नहोना अत्यन्त कठिन था, किन्तु वह अनायास इस तरह सम्पन्न होजाता है। अब देखिये कि यह कामरूपी संस्पर्श सुख की प्रबल इच्छा जो बहुत बड़ी अनिष्ट करने वाली है और जिस का निग्रह अत्यन्त कठिन है वह गृहस्थाश्रम के नियमानुसार चलने से सहजही वश में आजा सकती है और कर्मयोग रूपी पारस के संग से बंधन करने के बदले कर्तव्यपालन रूप फल देती है * ।

---

* आर्य्य हिन्दू के विवाह का तात्पर्य्य यथाविधि कर्त्तव्य कर्मों के पालन में सहायता पाना और उत्तम तेजस्वीपुत्र उत्पन्न कर पितृऋण से मुक्त होना है, इस के विरुद्ध जो स्त्री को केवल सुख का द्वार समझते हैं वे भूल करते हैं। स्त्री पुरुष को चित्त और आचरण शुद्ध रखने से (विशेषकर गर्भ समय में माता को उत्तम २ बातों के सोचने में और प्रेमपूर्वक ईश्वरस्मरण में चित्त को लगाना चाहिये, क्योंकि माता के उस काल की भावनाओं का प्रभाव बहुत कुछ भावी सन्तान पर पड़ता है) उत्तम तेजस्वीपुत्र का उत्पन्न होना सम्भव है।

कर्मयोग का उद्देश्य है कि इन्द्रियों को विषयसुख पाने के लिये न नियोजित कर कर्तव्यपालन में लगाना। फिर क्रोध को लीजिये। क्रोध को शुद्ध करने के लिये पहले स्वार्थ-परायणता उस में त्यागना चाहिये, जब कोई अपने को कुवाच्य कहे अथवा किसी प्रकार की हानि करे तो उस के लिये क्रोध नहीं किंतु क्षमा करनी चाहिये ऐसा समझ के कि आत्मदृष्टि से वह भी अपने से भिन्न नहीं है, इतना ही नहीं, वरन हानि करनेवाले की भलाई करने की इच्छा करनी चाहिये। इस प्रकार अपने निमित्त क्रोध न करने से क्रोध का दोष जाता रहेगा, किंतु तब भी वह दूसरे के निमित्त क्रोधकर सकता है; जैसा कि जब वह किसी धनी को गरीब पर अन्याय करते देखेगा तो वह ऐसे अन्यायी पर क्रोध करेगा, जब किसी को किसी पशु को दुःख देते देखेगा तो ऐसे दुःख देनेवाले पर क्रोध करेगा। निःस्वार्थ क्रोध स्वार्थ के लिये क्रोध करने से उत्तम है। किंतु किंचित्काल के पश्चात् एक ऐसी अवस्था उस साधक में आजायगी जब कि वह एकदम किसी अवस्था में क्रोध नहीं करेगा और तब ऐसा समझेगा कि अन्यायी अन्याय अज्ञानता के कारण करता है और अन्यायी की हानि जिस पर अन्याय करता है उस की अपेक्षा अधिक होती है, अतएव वह दोनों पर दया करेगा और अन्यायकारी पर क्रोध करने के बदले उस के अन्याय करने के स्वभाव को छोड़ाने की चेष्टा करेगा। फिर लोभ को लीजिये। पहले मनुष्य धनादि का संग्रह अपने सुख के लिये करता है, फिर अपने घरभर के परिवारों के लिये, फिर अतिथि, देवता, पितृ आदि के पूजन के लिये, फिर अंत में ईश्वर की प्रीति के निमित्त सृष्टि मात्र की भलाई करने के लिये संग्रह और उपार्जन करता है और अपने को पदार्थों का केवल भंडारी समझता है। फिर सांसारिक प्रेम को लीजिये। मित्र मित्र में, स्त्री पुरुष में और माता पुत्र इत्यादि में जो प्रेम स्वाभाविक है वह प्रेम नाम रूपवाले विनाशी शरीर से पृथक् करके यदि शरीर के अंतर जो ईश्वर का अंश जीवात्मा है उस में लगाया जाय और निःस्वार्थ किया जाय तो उस के द्वारा प्रेम करनेवाला ईश्वरमुख हो जायगा और वह अनुपम प्रेम ईश्वर के चरण में भेजने योग्य हो जायगा।

इसी प्रकार धीरे २ निःस्वार्थ कर्म करते २ साधक अपने आत्मत्व (आत्मभाव) का प्रसार करता जाता है और अंत में सृष्टिमात्र को एक आत्मा समझ एकदम निःस्वार्थ हो जाता है ।

अवगुण धीरे २ छोड़ने और सद्गुण प्राप्त करने का अवसर संसार में रहतेहुए कर्मयोगी को अधिक मिलता है । संसार में अर्थात् गृहस्थाश्रम में टिके हुए कर्मयोगी को बहुत अवसर पर कोई द्वेष करेगा, कोई निन्दा करेगा, कोई हानि करेगा जिन के किये जाने पर उस को क्रोध रोक के क्षमा करने का अवसर मिलेगा जिस का अभ्यास करते २ फिर क्रोध समूल उस में नष्ट हो जायगा, फिर तब से किसी अवस्था में उस के चित्त में क्रोध आवेगाही नहीं । इस प्रकार काम क्रोधादि का समूल दमन करना यथार्थ दमन करना है । जब कि क्रोधादि करने का बड़ा अवसर आने पर भी क्रोधादि तनिक भी मन में उत्पन्न न हो तो समझना चाहिये कि ठीक निग्रह और चित्त शुद्ध हो गया और जब तक ऐसा न हो तब तक उन की प्राप्ति के लिये चेष्टा करतेही रहना चाहिये । यदि क्रोधादि मन में उत्पन्न हुए किन्तु बाहर प्रकाश होने नहीं दिये गए तो उस को यथार्थ निग्रह नहीं कह सकते, क्योंकि ऐसी अवस्था में क्रोधादि का बीज मन में बनाही रहता है जो अवसर पाकर अवश्य प्रकट होता है ।

गृहस्थ कर्मयोगी को बहुत से कर्म जो करने पड़ते हैं वे क्षुद्र कर्म भी क्यों न हों, तो भी कर्मयोग की दृष्टि से उन का सम्पादन होने से उस से ही सिद्धि की प्राप्ति होती है । स्वतः कर्म कुछ नहीं है, जिस भाव से किया जाय वह मुख्य है । अतएव सब कोई अपने २ स्थान में बड़ा है, यदि भंगी अपना कर्म कर्तव्य और धर्म जानकर अच्छी तरह अनासक्ति और निःस्वार्थ भाव से करता हो तो वह वैसे ही अच्छा है जैसा राजा राजसिंहासन पर, यदि वह भी अपना कर्तव्य कर्मयोग के अनुसार पालन करता हो । परन्तु वह भंगी उस राजा से उत्तम है जो अपना कर्तव्य आसक्ति त्याग कर निःस्वार्थ भाव से पालन नहीं करता । अतएव यदि भंगी भी अपना कर्म बिना फलाकांक्षा के कर्तव्य जान करता हो, सिद्धि और असिद्धि में समान रहता हो, हानि लाभ से क्षुभित न होकर केवल ईश्वर की इच्छा पालन के

निमित्त निःस्वार्थभाव से कर्म करता हो, तो वह भी कर्मयोगी है। छोटे २ कामों में ही साधक के आन्तरिक भाव की दृढ़ता की परीक्षा की जाती है।

ऊपर कहे हुए विषयों से गृहस्थाश्रम का महत्व भलीभांति विदित होगा। गृहस्थाश्रम कदापि विषयभोग के लिए नहीं है बल्कि यह इन्द्रियों की दुर्वृत्ति को दमन करने के लिए है और इसी आश्रम में रह कर छः प्रबल शत्रु जो काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर हैं उन से युद्ध कर उनको परास्त करना पड़ता है। इन्द्रियों का निग्रह, कामक्रोधादि प्रबल शत्रुओं का पराभव, सत्य क्षमा आदि सद्गुणों की प्राप्ति और स्वार्थको नष्ट कर परमार्थ और संसार के हितसाधन के व्रत में प्रवृत्ति आदि गृहस्थाश्रम में रह कर उस के धर्म कोही ठीक २ पालन करने से प्राप्त हो सकते हैं अन्यथा नहीं, क्योंकि गृहस्थाश्रम में इन के संयोग और भी उन के पराभव और परिवर्तन करने की सामग्री अनायास मिलती है और यही महान् उद्देश्य इस आश्रम का है। इसी कारण शास्त्रों में गृहस्थाश्रम को सब आश्रमों से विशेष माना है। लिखा है:—

"यथा वायुं समाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्व जन्तवः। तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्त्तन्ते सर्व आश्रमाः ७७ यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन चान्वहम्। गृहस्थैरेव धार्यन्ते तस्मा ज्जेष्ठाश्रमो गृही ७८ स संधार्य्यः प्रयत्नेन स्वर्गमक्षय मिच्छता। सुखं चेहेच्छता नित्यं योऽधार्यो दुर्बलेन्द्रियैः ७९ ऋषयः पितरो देवा भूतान्यतिथयस्तथा। आशासते कुटुम्बिभ्यस्तेभ्यः कार्यं विजानता ८०।

मनु० अ० ३

जैसे वायु के सहारे सब प्राणी जीवित रहते हैं उसी प्रकार गृहस्थ के अवलम्ब से सब आश्रमवाले जीवन धारण करते हैं, ७७ ब्रह्मचारी, वाणप्रस्थ और भिक्षुक ये तीनों आश्रमी गृहस्थों के द्वारा प्रतिदिन विद्या और ज्ञान और अन्न पाकर प्रतिपालित होते हैं, इसलिए गृहस्थाश्रम ही सब आश्रमों में श्रेष्ट है ७८ जो लोग शरीर त्याग करनेपर अक्षय सुख और इस मर्त्यलोक में रह कर भी सुख से रहने की इच्छा करते हैं वे अत्यन्त यत्न से गृहस्थाश्रम के धर्म को प्रतिपालन करें, किन्तु इन्द्रियों को अपने वश में न रखकर

उन के अधीन में होने से यह पवित्र गृहस्थाश्रम धर्म का प्रतिपालन नहीं होसकता है ७६ ऋषि, पितर, देवता, भूतगण और अतिथि लोग गृहस्थों की ही प्रत्याशा रखते हैं अतएव इन के प्रति अपना कर्तव्य गृहस्थ अवश्य पालन करे ८० और भीः—

भिक्षा भुजश्च ये केचित् परिव्राटब्रह्मचारिणः।
तेऽप्यत्रैवप्रतिष्ठन्ते गार्हस्थ्यं तेनवै परम् ११ विष्णुपुराण
अंश ३ अ० ६

भिक्षुक, परिव्राजक, ब्रह्मचारी आदि भी गृहस्थ के ही आश्रय लेते हैं, अतएव गृहस्थाश्रम उन आश्रमों से बड़ा है।

प्रायः आजकल ऐसी धारणा है कि गृहस्थाश्रम को त्यागकर केवल बन में रहना, शरीर को कष्ट देना, कठिन उपवास करना और विरक्तों का वेष धारण करना विशेष धर्म है और ईश्वर प्राप्ति के मुख्योपाय हैं और जो इनको पालना नहीं करते और गृहस्थाश्रम में रहते हैं, वे न तो तपस्वी हो सकते और न मुक्ति की प्राप्ति कर सकते हैं—ऐसी धारणा एकदम भूल है। बाह्यवृत्ति धर्मोपार्जन में मुख्य नहीं है किन्तु अभ्यन्तर की शुद्धि ही मुख्य है जो गृहस्था श्रम में रह के भी प्राप्त हो सकती है, बल्कि गृहस्थाश्रम में उसकी प्राप्ति की विशेष सुविधा है। लिखा है:—

त्रिदण्ड धारणं मौनं जटाभारोऽथ मुंडनम्। वल्कलाजिनसं वेष्टं व्रतचर्या ऽभिषेचनम् ९६ अग्निहोत्रं वनेवासः शरीर परिशोषणम्। सर्वाण्येतानि मिथ्यास्युर्यदि भावोन निर्मलः ९७ येपापानि न कुर्वन्ति मनोवाक्कर्मबुद्धिभिः। तेतपंति महात्मानो न शरीरस्य शोषणम् ९८ न ज्ञातिभ्यो दया यस्यशुक्लदेहो विकल्मषः। हिंसा सातपसस्तस्य नानाशित्वं तपः स्मृतम् १०० तिष्ठन्गृहेचैव मुनिर्नित्यंशुचिरलङ्कृतः। यावज्जीवेद्दयावांश्च सर्वपापैः प्रमुच्यते १०१ भारत वनपर्व अ० २०० त्रिदण्डधारण, मौन, जटा धारण, मुंडन, वल्कलपरिधारण, व्रत, मंत्रस्नान, अग्निहोत्र, वनवास, शरीर को शोषण करना, येसब व्यर्थ होते हैं यदि भीतर का भाव शुद्ध न हो ९७ जो मन, वचन, कर्म, बुद्धि से पाप नहीं करते वेही तपस्वी महात्मा हैं न कि केवल शरीर को कष्ट देनेवाले ९८ जिसको पुत्र भार्य्या बान्धवगण आदि के प्रति दया नहीं है उस के उज्ज्वल शरीर और निष्पाप रहने पर भी उसकी तपस्या हिंसातुल्य है क्योंकि

उपवास करना तपस्या नहीं है। ९९ जो नित्य पवित्र, अलंकृत और जीवन पर्य्यन्त दयालु है वह घरमें रहकर भी यथार्थ में मुनि है और वह सब पापों से छुट जाता है १०१ अतएव जो लोग समझते हैं कि गृहस्थाश्रम केवल सांसारिक कामों की फलसिद्धि के लिए है और यह धर्मोपार्जन और ईश्वर प्राप्ति के लिए नहीं है वे बड़ी भूल करते हैं। गृहस्थाश्रम के धर्म को ठीक २ पालन करना बहुत बड़ी तपस्या का कार्य्य है और जिसने इस आश्रम में रह के धर्मोपार्जन नहीं किया और स्वार्थ और विषयों के कुवासनाओं का मूलोच्छेदन नहीं किया और सद्गुणों की प्राप्ति न की वे चूक गए, क्योंकि इस आश्रम के बाहर इनका सम्पादन और लाभ ठीक २ पूरे तौर से हो नहीं सकते। इसी कारण शास्त्र की आज्ञा है कि गृही गृहस्थाश्रम के कर्तव्यों को पालन करने के बाद ही उसका त्याग करे अन्यथा वह मोक्ष पा नहीं सकता है किन्तु कर्ता के नहीं पालन करने के अपराध के कारण नरक में पड़ेगा। लिखा है:- "अनधीत्य द्विजो वेदानुत्पाद्य तथा प्रजाम्। अनिष्ट्वाचैव यज्ञैश्च मोक्षमिच्छन् व्रजत्यधः ३७ मनु अ० ६ द्विज विना वेदाभ्यास किए, बिना सन्तान उत्पन्न किए तथा विना यज्ञ सम्बन्धी कर्तव्य) पालन किए जो मोक्ष की इच्छा करता है वह नरकमें जाता है। और भी लिखा है:-"भयं प्रमत्तस्य वनेष्वपि स्याद्यतः स आस्ते सह षट् सपत्नः। जितेन्द्रियस्यात्म रतेर्बुधस्य गृहाश्रमः किंनु करो- त्य वद्यम् १७ यः षट् सपत्नान् विजिगीषमाणो गृहेषु निर्विश्य यतेत पूर्वम्। अत्येति दुर्गाश्रित ऊर्जितारीनक्षीणेषुकामं विचरेद्विपश्चित् १८ भागवत स्कन्ध ५ अ० १। जिसके इन्द्रिय वश में नहीं हैं ऐसे पुरुष को वनमें रहने पर भी भय होता है क्योंकि वह वहां काम क्रोधादि छः शत्रुओं के साथ है और इन्द्रियों को जीतकर आत्म- स्वरूप में रमण करनेवाले ज्ञानी को गृहस्थाश्रम में क्या हानि हो सकती है २१७ जैसे राजा किलेका आश्रय करके ही प्रबल शत्रुओं को जीतता है और तब यथेष्ट विचरता है उसी प्रकार जा काम आदि छः शत्रुओं को जीतना चाहता है वह पहिले गृहस्था- श्रम को स्वीकार कर वहां धीरे २ कामादि छः शत्रुओं को जीते और उसके बाद इच्छानुकूल विचरे १८

महाभारत में दो कथा द्वारा गृहस्थाश्रम की श्रेष्ठता और विना इसके धर्मों के पालन किए परमार्थ के लाभ में बड़ी बाधा होने की

सम्भावना और इस के धर्म को यथारीति से पालन करने से अनायास मोक्ष की सिद्धि बतलाई गई हैं। शान्तिपर्व के अध्याय २६७ में ऐसी कथा है:-एक जाजलि ऋषि ने बड़ी कठिन तपस्या की, वर्षा में आकाश के तले ही रहते थे, शीत ऋतु में जल के भीतर रहते थे, ग्रीष्म में धूप और गर्म वायु को भी सहा करते थे, भूमि में ही सोते थे, अनेक कालतक केवल वायु ही को भक्षण करके रहते थे और दिन रात वृक्ष की भांति निश्चल खड़े रहते थे। उनको निश्चल जान पक्षी ने उन की जटा में खोंता लगाया, उसने उसमें बच्चे भी जने, वे प्रौढ़ हुए और उन की जटा को छोड़ कर बाहर जाने लगे और फिर वापस आने लगे, किन्तु इतने पर भी जाजलि निश्चल रहे और तनिक भी कम्पित न हुए। जाजलि ने तब निश्चय किया कि वे सिद्ध होगए और धर्म की प्राप्ति उन्हें हुई। ऐसा होने पर आकाशवाणी हुई कि हे जाजलि! तुम काशी के तुलाधार बनिया के तुल्य धर्म में कदापि नहीं हो। किन्तु तथापि वह तुलाधार ऐसा गर्व नहीं कर सकता है जैसा कि तुमने किया है। जाजलि की यह कथा अच्छी न लगी और वे काशी जाकर तुलाधार के समीप गए। तुलाधार ने उनकी अभ्यर्थना और पूजा की और कहा कि मैं आप के आने का अभिप्राय जानता हूँ और आपने बड़ी कठिन तपस्या अवश्य की है किन्तु धर्म के तत्व को आपने नहीं समझा है और अपनी जटा में चिड़ियों को घोंसले होने और उन के बच्चे जनने से जो आपको अभिमान हुआ और उस के विरुद्ध जो आकाशवाणी हुई उस के आमर्ष के कारण आप मेरे पास आए हैं। ऋषि विस्मित होगए और पूछा कि तुम ने लकड़ी आदि बेचते हुए भी ऐसी नैष्ठिकी बुद्धि को किस प्रकार से प्राप्त किया। उत्तर में तुलाधार ने धर्म के सूक्ष्मतत्व को समझाया और कहा कि प्राणियों को कोई कष्ट न देकर अथवा अशक्त होकर बहुत थोड़ा नाम मात्र का कोई श्रम किसी को देकर जो अपनी वृत्ति को धर्म से पालन करता है और उसमें आसक्ति नहीं रखता है वही परम धर्म है और मैं अपनी वृत्ति को इसी प्रकार करता हूँ। और भी कहा कि मुख्य धर्म अर्थात् धर्म का यथार्थ तत्व यह है कि मन वचन कर्म से सब प्राणियों का उपकार चाहना और करना और किसी की भी हानि न चाहनी और न करनी, किसी के प्रति न राग करना और न द्वेष करना

अर्थात् सम रहना, न निन्दा करनी और न प्रशंसा करनी, लोभ निवृत्ति के कारण लोहा, पत्थर और सोने को समान समझना, और विषयों के भोग में स्पृहा नहीं रखनी और सब भूतों का मित्र बनकर हित करना, अभयदान देना और कदापि किसी को भी कष्ट नहीं पहुंचाना यही कर्म का सार है। जैसा कि लिखा है:—

अद्रोहे नैव भूताना मल्पद्रोहेण वाधुनः। यावृत्तिः सपरो धर्मस्तेन जिवामि जाजले! ६ यदा चार्यं नबिभेति यदाचास्मा-न्नबिभ्यति। यदानेच्छतिन द्वेष्टि तदा सिध्यति वै द्विज ! १६

महाभारत शान्तिपर्व अ० २६९।

हे जाजलि! प्राणियों को बिना कोई कष्ट दिए अथवा नाम मात्र का थोड़ा कष्ट देकर (जैसा कि लकड़ी को काटना आदि) जो अपनी जीविका निर्वाह करता है यही परमधर्म है और यही मेरी जीविका है। जब कि इस प्राणी को किसी से भय नहीं रहता अर्थात् किसी को अपना शत्रु नहीं समझता और इस से किसी को कोई भय नहीं होता, जब यह न कोई इच्छा करता और न किसी से द्वेष करता, तब सिद्ध होता है १६ और भी:—

"यद्यस्य वाऽनिषिद्धस्याद्येनयत्र यतोनप। स तेनेहेत कर्माणि नरो नान्यैरनापदि ६६ एतैरन्यैश्च वेदोक्तैर्वर्तमानः स्वकर्मभिः। गृहेऽप्यस्य गतिं पापाद्राजंस्तद्भक्ति भाङ्नरः ६७ भगवत स्कं ७ अ० १५ हे राजन्। जिस देश काल में जिस उपाय के द्वारा जिस से जो द्रव्य जिस पुरुष को विहित रूप से मिले उस ही (धर्मलब्ध द्रव्य से विहित कर्मों को करे, आपत्ति काल के बिना अन्य अविहित द्रव्य अर्थात् अधर्म से प्राप्त का व्यवहार न करे। ६६ हे राजन् इन पहिले कहे हुए तथा अन्य भी वेदोक्त कर्म द्वारा इन श्रीकृष्णजी की भक्ति करने वाला पुरुष गृह में रहता हुआ ही इन के स्वरूप को प्राप्त होता है ६७

दूसरी कथा बन पर्व के २०४ अध्याय में ऐसी है:—कौशिक नामका तपस्वी ऋषि के सामने बनमें एक पक्षी ने विष्टा कर दी और उसपर ऋषि के क्रोध की दृष्टि से देखने से पक्षी मर गया जिस पर तपस्वी ने समझा कि उनकी तपस्या पूर्ण हुई। उक्त पक्षी ने एक गृहस्थ के द्वार पर जा कर भिक्षा की याचनाकी।

और गृहस्वामिणी उनको ठहरिए मैं भिक्षा लाती हूं यह कह कर घर में गई और उसी समय उसके स्वामी को क्षुधार्त बाहर से घर में आने पर वह अपने पति की शुश्रूषा मे लग गई और इस कारण विलम्ब कर तपस्वी को भिक्षा देने आई। तपस्वी विलम्ब के कारण उस पतिव्रता स्त्री पर क्रोधित हुए जिसपर उसने उनसे कहा कि मैं बनका पक्षी न हूं कि आपके क्रोध से नष्ट हो जाऊंगी, मैं पति की सेवा को मुख्य धर्म और सर्वोपरि समझती हूं और केवल इसी धर्म का पालन करती हूं। तपस्वी उस स्त्री के मुख से क्रोध से बन में पक्षी के नष्ट होने की बात सुन कर बड़े विस्मित हुए और उसने यह कैसे जाना यह जिज्ञासा की।

उस पतिव्रता ने कहा कि पतिव्रत धर्म के पालन करने से भूत भविष्य का ज्ञान मुझे होगया है और यदि धर्म का यथार्थ तत्व आप जानना चाहते हैं तो जनकपुर में जो धर्मव्याध है उस के पास जायँ और उस से धर्म का उपदेश लें। उक्त तपस्वी धर्मव्याध के पास आए और धर्मव्याध ने भी उन को देखते ही कह दिया कि पतिव्रता स्त्री ने उन को भेजा है जिस से तपस्वी चकित होगए। धर्मव्याध ने तपस्वी को धर्मका तत्व समझाया और कहा कि मैं अपनी वृत्ति मांस वेचना करता हूँ किन्तु हिंसा इस के लिए नहीं करता हूँ और मैं अपनी माता और पिता की सेवा और पूजा ईश्वर की सेवा की भांति करता हूँ जिस के कारण मुझ में ज्ञानचक्षु खुलगई है और मैं भूत भविष्य आदि सब जानता हूँ। उस तपस्वी को भी उक्त व्याध ने अपनी माता और पिता की सेवा करने का उपदेश दिया जिस कर्तव्य को वे त्याग कर तपस्या में प्रवृत्त हुए थे और जिस के कारण उन को तपस्या की सिद्धि नहीं हुई।

तीसरी कथा विष्णु पुराण के ६ वें अंश के २ रे अध्याय में है जो ऐसा है। एक समय ऋषियों में यह विवाद उपस्थित हुआ कि कौन ऐसा समय है जिस में थोड़े धर्म भी अधिक फल देते हैं। इसके उत्तर के लिए वे व्यास जी के पास गए जो उस समय स्नान कर रहे थे। स्नान करते करते व्यास जी बोल उठे कि कलियुग साधु, शूद्र धन्य और स्त्री साधु। स्नान के बाद ऋषियों से आने का कारण व्यास जी ने पूछा और उन लोगों ने कहा कि

पहिले आप कलि, शूद्र और स्त्री के धन्य कहने का कारण बतावें फिर हमलोग अपने प्रश्न का कथन करेंगे। श्री व्यास भगवान ने कहा कि कलि धन्य इस लिए है कि:—

यत् कृते दशभिर्वर्षैस्त्रेतायां हायनेनयत्।
द्वापरे पञ्चमासेन अहो रात्रेण तत्कलौ १२
तपसो ब्रह्मचर्य्यस्य जपादेश्चफलंद्विजाः।
प्राप्नोति पुरुषस्तेन कलिः साध्विति भाषितम् १६
ध्यायन् कृते यजन् यज्ञै स्त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन्।
यदाप्नोति तदाप्नोति कलौसंकीर्त्य केशवम् १७

हे द्विज! तपस्या, ब्रह्मचर्य्य, जप आदि का जितना फल सत्य युग में १० वर्ष कर ने में, त्रेता में एक वर्ष में, द्वापर में १ मास में मिलता था उतना कलियुग में केवल १ दिन रात्रि में करने से मनुष्य को मिलता है, अतएव कलि को साधु कहा। सत्ययुग में ध्यान, त्रेता में यज्ञ, द्वापर में पूजा से जोफल मिलता था वह कलि में केवल श्रीभगवान के कीर्तन करने से मिलता है १७ शूद्र के धन्य होने में श्रीव्यास जी ने कहा कि ब्राह्मण कठिन तपस्या, व्रत, वेदाभ्यास और अनेक कठिन नियमों के पालन से अनेक कष्ट कर जिस लोक में जाते हैं वहां शूद्र केवल द्विज की शुश्रूषा से चला जाता है, अतएव धन्य है। इसी प्रकार उस लोक में पतिव्रता स्त्री भी केवल अपने पतिकी सेवा मन, वचन और कर्म के करने से विना विशेष क्लेश उठाए पहुँच जाती है, अतएव स्त्री साधु है। इस कथा के लिखने का तात्पर्य्य यह है कि कलियुग के वर्तमान रहने के कारण लोग हतोत्साह न हो जायँ किन्तु समझें कि कली में दोषरहने पर भी विशेष गुण भी है और उस गुण का उपयोग करें।

लोगों को समझ ना चाहिए कि धर्म का विचार बड़ा सूक्ष्म है और इसपर भलीभांति विचार करना चाहिए और अपने स्वधर्म का पालन अवश्य करना चाहिए। गीता में भगवान ने वार २ यही उपदेश दिया है कि निःसंग होकर और फलाकांक्षा त्याग स्वधर्म और कर्तव्य का पालन अवश्य करना चाहिए जिस के करने से ही सिद्धि होगी और उसके न करने से कदापि सिद्धि न होगी। श्रीभगवान ने अर्जुन को गीता का उपदेश देकर उन

को अपने कर्तव्य पालन में जो युद्ध करना था प्रवृत्त किया और ज्ञान पाकर अर्जुन ने भी यही निश्चय किया और कहा कि मैं युद्ध करूंगा। भिन्न २ लोगों का भिन्न २ कर्तव्य है जिसका पालन करना धर्म है। स्त्री केवल अपने पति की सेवा कर सिद्ध हो जायगी, पुत्र माता पिता की सेवा से परमार्थ लाभ करेगा, नौकर अपने प्रभु का कार्य्य छल और लोभ को छोड़ कर ठीक २ करने से अपनी यथार्थ उन्नति करेगा और इसी प्रकार अन्य लोग भी अपने २ कर्तव्य को ठीक प्रकार से पालन करने से उन्नति करेंगे। गीता के उपदेश "स्वेस्वे कर्मण्यभिरतः" जो पूर्व में लिखा जा चुका है उसपर विचार कर ने से भी यही सिद्ध होता है।

गृहस्थाश्रम का जो स्वाभाविक धर्म और कर्तव्य है उस का वर्णन बड़ी उत्तमता से तैत्तिरीयोपनिषद् में है जहां आचार्य्य ने स्नातक ब्रह्मचारी को अपने व्रत के समाप्त करने और गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के समय पर गृहस्थाश्रम के लिए उपदेश दिए हैं जो अवश्य मनन करने योग्य हैं और गृहस्थ को सदा स्मरण रखने योग्य हैं और उनका पालन परमावश्यक है। वे ए हैं :—
सत्यं वद। धर्मंचर। स्वाध्यायान्मा प्रमदः। सत्यान्न प्रमदितव्यम। धर्म्मान्नप्रमदितव्यम्। कुशलान्न प्रमदितव्यम्। भूत्यै न प्रमदितव्यम्। स्वाध्याय प्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। देव पितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्। मातृदेवो भव। पितृदेवोभव। आचार्य्य देवो भव। अतिथि देवो भव। यानवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि॥ सत्य बोलो। धर्म का पालन करो। वेदाभ्यास और उपासना को मत त्यागो। सत्य से विचलित न हो। धर्म से विचलित न हो। उत्तम और उपकारी कर्म के करने से मत हटो। अपनी दशा की उन्नति करने में मत चूको। वेदाभ्यास और उपासना स्वतः करने और दूसरों को उपदेश देनेमें आलस्य मत करो। देव और पितृ कार्य्यों के सम्पादन करने में अनिच्छा मत करो। माता को देवता मानो। पिता को देवता मानो। आचार्य्य को देवता मानो। अतिथि को देवता मानो। जो अनिन्दित कर्म हैं उन को करना चाहिए किन्तु निन्दित को कदापि नहीं। इन उपदेशों में सत्य, मातृपितृ भक्ति, अतिथि सेवा, स्वाध्याय का अभ्यास मुख्य हैं और इनके सम्पादन से गृहस्थ को इहलौकिक

और पारलौकिक दोनों लाभ होते हैं। स्वाध्याय के अभ्यास में संध्योपासन करना प्रधान है और ब्रह्मयज्ञमें इसकी उपयोगिता का वर्णन हो चुका है। किन्तु यह विषय ऐसा आवश्यक है कि इसके लिए बारबार लिखना भी उचित है। संध्योपासनाके नियत मुख्य और गौणकाल हैं, जैसा कि प्रातःकाल तारा रहते उत्तम समय है और उसके बाद दो घंटे तक गौणकाल है और ऐसा ही संध्या समय सूर्य्यास्त होने के समय गोधूलिकाल उत्तम समय है, पश्चात् गौण समय। इन नियत समयोंका रहस्य यह है कि इन कालों में सत्यलोकादि के ऊपर अंतरीक्ष लोकों से दैवी प्रभाव तेज रूप में इस मर्त्यलोक में इस जगत के उपकार के लिए आते हैं और अंतरीक्ष प्रकार से सर्वत्र फैलते हैं। द्विजका कर्तव्य है कि इन अमूल्य समयोंको सांसारिक कामों में न लगा गायत्री और ब्रह्म की उपासना में लगावे और ऐसा करके अपनी ओर से अपने ब्रह्मतेज को भी जगत के कल्याण के लिए उस समूह तेज में अर्पण करें और ऐसा कर समूह तेज की शक्ति की वृद्धि करें। गायत्री में "नः" शब्द बहुवचन का प्रयोग इसीलिए है कि गायत्रीउपासना का तात्पर्य्य केवल उपासक की उन्नति करनी कदापि नहीं है किन्तु सम्पूर्ण जगत का उपकार करना है जिसका वह अंश है और सम्पूर्णकी उन्नति के साथ ही अंश की भी उन्नति अवश्यम्भावी है। ऐसा उपासक केवल अपने लिए ही कोई फल नहीं चाहता है। और दूसरा उद्देश्य ऐसी उपासना का यह है कि जो साधक इन संध्यायों की संधि के नियत समयों में अपने चित्त को सांसारिक विषयों से हटा उपासना में लगाता है वह किंचित उन्नति करने पर दैवी प्रभाव जो ऊपर से जगत में आता है उसको प्राप्त करता है और उसके फैलने का केन्द्र बन जाता है और जितना ही दूसरे के लिये उपकार में प्रवृत रहता है उतना ही विशेष दैवी प्रभाव उसमें प्रवाहित होने के लिए आता है। जितना दूसरे के लिए व्यय और क्षय किया जायगा, उतना ही विशेष शक्ति की वृद्धि होगी। अतएव नियतकाल में संध्योपासना और अन्य उपासना करनी परमावश्यक है। द्विजाति से अन्य जो हैं वे भी अपनी पद्धति के अनुसार संध्योपासना करें और भी इष्टकी उपासना करें। सत्य, क्षमा,

अस्तेय आदि सद्गुणों को प्राप्ति, काम, क्रोध, लोभ आदि दुर्गुणों का नाश, इन्द्रियों का निग्रह और स्वार्थ का त्याग, और अपनी हानि कर के भी परोपकारका पालन आदि जो आत्मोन्नति के लिए परमावश्यक हैं उनकी प्राप्ति गृहस्थाश्रम में रह कर चेष्टा करने से सहज में हो सकती है जैसा कि पूर्व में भी कहा गया है और अन्य आश्रम में इनको प्राप्ति के अवसर और सामग्री के संयोग की बहुत कम सम्भावना होने से इनकी प्राप्ति बहुत कठिन है। अतएव इनकी प्राप्ति का ठीक स्थान गृहस्थाश्रम ही है और उनकी प्राप्ति होनेपर फिर केवल ईश्वर की भक्ति का लाभ ही अवशेष रहेगा जो अनायास हो प्राप्त हो जायगा और तब कुछ भी कमी ईश्वर प्राप्ति में न रहेगी। गृहस्थाश्रम में रहनेपर ऐसा अवसर प्रायः आता है जब कि कोई निन्दा अपमान करता है, कोई स्तुति करता है, कोई दुष्टता के कारण व्यर्थ हानि करता है, और कभी २ अर्थ की प्राप्ति की लालच में पड़ कर अथवा प्राप्त अर्थ के नष्ट होने से बचाने के लिए असत्य भाषण अथवा अस्तेय अथवा अन्याय करने की प्रबल उत्तेजना आती है। अनेक प्रकार के विषयों के भोग के समागम होने पर वे अपनी ओर खींचते हैं और उनकी प्राप्ति से तात्कालिक सुख पाने की वासना से क्षुब्ध होकर धर्म के विरुद्ध होने पर भी उनमें प्रवृत्त होने में बाध्य होना पड़ता है। और भी देखा जाता है कि किसी धर्म के पालन में शारीरिक क्लेश की सम्भावना होती है। किन्तु ऐसी अवस्था के आने पर भी गृहस्थ को समझना चाहिए कि ये सब उसकी परीक्षा के लिए आते और होते हैं और उन के आने पर प्रसन्न होना चाहिए और समझना चाहिए कि भाग्य से उसको ऐसा अवसर आने पर दुर्गुण और दुष्टस्वभाव और अधर्म की कुप्रवृत्ति के नष्ट करने का मौका मिल गया और ऐसा समझ कर विचार विवेक की सहायता लेकर और शास्त्र की आज्ञा को शिरोधार्य्य कर उसको उन दुष्ट गुण और वासनाओं के दमन करने की चेष्टा करनी चाहिए और उनको दमन कर उनके विरुद्ध सद्गुण की प्राप्ति करनी चाहिए। किन्तु ऐसे अवसर में बड़ा विषाद आवेगा और बड़ी दुविधा होगी और ऐसी दुविधा और भावना आवेगी कि यथार्थ में ए

वृत्तियां ही हितकर और सुखदेनेवाली हैं, और उनके अनुसार चलने ही से सुख मिलेगा और उनके विरुद्ध चलनेसे हानि होगी। ऐसी भावना ही को माया कहते हैं, और इस माया के फंदे में पड़ कर ही मनुष्य दुःख में पड़ता है। किसी कार्य्य के तात्कालिक फल का ही विचार कर उस में प्रवृत्त होना और भविष्यत में उस से जो हानि होगी उस की परवाह नहीं करनी यही माया के फंदे में पड़ना है और उसके विरुद्ध तात्कालिक फल को तुच्छ समझ भविष्यत में उस से जो विशेष हानि अथवा लाभ होंगे उनपर विचार कर हानिकारी कर्म को त्यागना और लाभकारी को करना यही विवेक है और यही माया को जीतना है। लोगों को चाहिए कि निन्दा अथवा अपमान के किए जाने पर निन्दा अपमान को सर्वात्मा की दृष्टि से असत्य मान उससे क्षुभित न हों बल्कि प्रसन्न हों और ऐसा कर निरभिमानता, उदासीनता, समता और निस्पृहता आदि सद्गुणों की प्राप्ति करें जो निन्दा आदिके सहे विना प्राप्त हो नहीं सकते। इस में अहंकार और अभिमान बड़ी बाधा देंगे किन्तु ज्ञानकी दृष्टि से अहंकार अभिमान को असत्य समझ उसका दमन करे और उसको शत्रु समझ उनकी बात कभी न माने। लिखा है:—"सम्मानाद् ब्राह्मणोनित्य मुद्विजेत विषादिव। अमृतस्येव चाकाङ्क्षेद्‌ अमानस्य सर्व्वदा १६२ सुखंह्यवमतः शेते सुखञ्च प्रतिबुध्यते। सुखंचरति लोके ऽस्मिन्नवमन्ता विनश्यति १६२ मनु० अ० २। ब्राह्मण सांसारिक सम्मान को जीवनपर्य्यन्त विषके तुल्य और अपमान को सदा अमृत के समान समझे १६१ क्योंकि अपमानके सहने का अभ्यास होने पर मन में अपमानजनित विकार नहीं उत्पन्न होता; इस कारण वह सुख से सोता, जागता और संसार के कार्य्यों को करता है; परन्तु अपमान करने वाले के मन में ग्लानि हुआ करती है और उस पापसे उसके लोक परलोक दोनों ही नष्ट हो जाते हैं १६३ इसी प्रकार स्तुति सुनने की चाह और उससे प्रसन्नता यह भी अहंकार की प्रबलताके कारण होती है, अतएव यह भी त्याज्य है। निन्दा स्तुति दोनों में समान रहना चाहिए। यदि कोई हानि करे तौभी उसपर न क्रोध करना चाहिए और न उसके बदले में उसकी हानि करने की चेष्टा करनी चाहिए और ऐसी अवस्था में केवल क्षमा ही करना

यथेष्ट न होगा किन्तु उसको शत्रु न मान और उसके हानि करने का कर्म उसकी अज्ञानता के कारण जान उसपर दया करनी चाहिए, और ईश्वर से प्रार्थना करनी चाहिए कि उसकी अज्ञानता नष्ट होवे और उसका कल्याण हो, और केवल कल्याणका ही भावना मात्र ही नहीं की जाए किन्तु उसके साथ उत्तम व्यवहार और उपकार किए जायं। ऐसा करने से परमार्थ में ही लाभ नहीं किन्तु व्यवहार में भी लाभ अवश्य होगा। उस शत्रु के प्रति द्वेष करने से उसकी शत्रुता का स्वभाव प्रबल होगा और तब वह विशेष हानि करेगा किन्तु द्वेष न कर उसके प्रति प्रेम करने से और उसके कल्याणके लिए चिंता करने से और यथासम्भव उसकी भलाई करने से परिणाम यह अवश्य होगा कि उसकी द्वेषबुद्धि बदल जायगी और शत्रु के बदले वह मित्र हो जायगा और हानि के बदले भलाई करेगा। एक महात्मा समाधिस्थ किसी जंगल में बैठे हुए थे और वहां एक राजा आया और उस राजा के कुछ पूछने पर और उसे उस ऋषि से उत्तर न मिलने पर वह क्रोधित हो गया और ऋषि के नेत्रों को कांटा चुभा के फोड़ दिया। ऋषि के शिष्यों ने समझा कि ऋषि की समाधि के भंग होने पर वे उक्त राजा को बहुत बड़ा श्राप देंगे किन्तु ऋषि के समाधि भंग होने पर देखा गया कि ऋषि राजा से प्रसन्न हुए और यों कहा—हे राजन्! तू ने मेरी आंखों को फोड़ कर मेरा बड़ा उपकार किया, क्योंकि क्षमा-प्रज्ञा मुझे अब तक प्राप्त नहीं हुई थी चूंकि आज तक किसी ने मेरे साथ कोई अपराध नहीं किया जिसकी क्षमा कर मैं क्षमा-प्रज्ञा प्राप्त करूं, सो तू ने आज मेरी हानि की जिसे क्षमा कर मैंने अब क्षमा-प्रज्ञा की प्राप्ति कर ली और इस से मेरा बड़ा उपकार हुआ। अनेक लोगों में कोई२ अशुभ वासना बीज की भांति रहती है किन्तु अवसर नहीं मिलने से प्रगट नहीं होती किन्तु वह पुरुष भ्रम से समझता है कि उक्त अशुभ वासना से मुक्त हैं और ऐसाजान उसके बीज के समूलनष्ट करने का यत्न नहीं करते जिसका परिणाम यह होता है कि उपयुक्त संग और अवसर को पाकर उक्तवासना का स्फुरण होता है और तब वह हठात् उसके अनुसार चलता है और उससे उसकी हानि होती है। अतएव यह परमावश्यक है कि गृहस्थाश्रम में रहने पर ही सब अशुभ वासना के बीजों का अन्वे-

षण कर उसको नष्ट करो नहीं तो पीछे बड़ी हानि और कठिनाई होगी।

प्रायः मुकद्दमा आदि के कारण ऐसी प्रतीति होती है कि असत्यभाषण अथवा न्यायपथ में रहने से हानि होगी और असत्य-भाषण अथवा कुटिल पथ के अनुसरण से लाभ होगा अथवा हानि होनी रुकेगी और इस प्रबल उत्तेजना में पड़ लोग धर्म से च्युत होजाते हैं जो बड़ी भूल है। प्रथम तो ऐसा समझना कि धर्म के अनुसरण से कभी भी हानि होगी और अधर्म से कभी लाभ होगी यह पूरा भ्रम और मोह है और प्रायः परीक्षा ही के लिए ऐसा अवसर आता है और जो धर्ममें दृढ़ नहीं हैं वे गिर जाते हैं किन्तु जो दृढ़ रहते और धर्म और सत्य और न्याय का कदापि त्याग नहीं करते उनको धर्म के लाभ होने के सिवाय यथार्थ में अंततोगत्वा व्यवहार में भी सांसारिक हानि नहीं होती किन्तु लाभ ही होता है। किन्तु धर्मरक्षा में यदि सांसारिक हानि भी हो तथापि धर्म अर्थात् सत्य और न्याय के पथ को कदापि नहीं त्यागना चाहिये, क्योंकि सांसारिक हानिलाभ परमार्थ की दृष्टि से तुच्छ, असत्य और अयथार्थ हैं और जो अधर्म से पारमार्थिक हानि होती है वह बड़ा गम्भीर और गुरुतर होती है और वह अंतरात्मा को कलुषित करती है, उसका बुरा परिणाम अनेक जन्मों तक बड़े प्रबल वेग से वर्तमान रहता है और यह लोक और परलोक दोनोंमें बहुत बड़ी हानि, उक्त कर्म के सांसारिक फल से कई गुणा अधिक परिमाण में, होती है। यदि धर्म परमोत्तम और परमश्रेयस्कर है तो इस की रक्षा के लिए सांसारिक वस्तुओं और सुखों का त्याग आवश्यक है यदि ऐसा त्याग उस की रक्षा के लिए आवश्यक हो, और यदि उस की रक्षा के लिए त्याग नहीं किया गया तो धर्म की श्रेष्ठता क्या रही? तब तो धर्म संसार के नश्वर वस्तु से निकृष्ट हुआ।

धर्म-जिज्ञासु को ऐसी अवस्था में अवश्य पड़ना होगा जिस के द्वारा यह परीक्षा होगी कि वह धर्म और संसार इन दोनों में किस को मुख्य मानता है और धर्म की यथार्थ प्राप्ति उसको तभी होगी जब कि व्यवहार में वह धर्म के लिये संसारसुख का त्याग करेगा और धर्म के समक्ष सांसारिक लाभालाभ को तुच्छ सम-

होगा। ऐसा अवसर गृहस्थाश्रम ही में प्राप्त होता है और विषया-सक्ति के त्याग का भी स्थान यही है जहां अनेक प्रकार के बंधन करनेवाले विषयभोग से परिवेष्ठित रहना पड़ता है। गृहस्थ को अपने संसार के दैनिक कार्य्य को करते करते सद्गुणों की प्राप्ति और दुर्गुणों का त्याग करना चाहिये। यही यथार्थ कर्मयोग है।

सब को चाहिये कि धर्मोपार्जन और कर्तव्यपालन के अवसर आनेपर उसको नहीं खोवे। ऐसे अवसर सदा नहीं आते और जो उपयुक्त अवसर मिलनेपर उसका उपयोग करता है वही कृतकार्य्य होता है, नहीं तो अवसर खोनेपर फिर शीघ्र अवसर नहीं मिलता। इस विषय में श्रीभगवान रामचन्द्रजी का निम्न कथित वाक्य विचारने योग्य है जिस से उपदेश मिलता है कि अवसर मिलने पर धर्म के पालन में चूकना नहीं चाहिए—चौपाई। धर्म न दूसर सत्य समाना। आगम निगम पुराण बखाना। मैं सोई धर्म सुलभ करि पावा। तजे तिहूं पुर अपयश पावा–तुलसी रामायण। सुअवसर मिलने पर और उसका तत्काल उपयोग करने पर छोटे कर्म का भी बड़ा प्रभाव हो सकता है। महाभारत में कथा है कि अनेक दिनोंके भूखे एक परिवार ने अपनेसे भी अधिक दिनों के भूखे व्यक्ति को केवल एक सेर अन्न प्रदान किया जिसका फल राजसूय यज्ञ के फल से भी अधिक हुआ। यदि किसी को किसी समय और स्थान में कोई भी अवसर दूसरों की सेवा शुश्रूषा और हित करने के लिये मिल जाय तो उस को उपयोग करना चाहिये, खोना नहीं चाहिये और समझना चाहिये कि उस के उपकार के लिये ही यह अवसर उस को मिल गया है। संसार में जितने अंधे, लंगड़े कोढ़ी, क्षुधित, वस्त्रहीन, रोगी, आतुर, दरिद्र आदि हैं वे सब "नारायण" रूप हैं और संसार के कल्याण के लिये ही हैं ताकि सांसारिक लोग उनकी सेवा कर और उनके अभावों को पूरा कर और इन उपयुक्त पात्र को शरीर से सेवा कर अथवा अन्नवस्त्र द्रव्यादि द्वारा तुष्टि कर अपनी उन्नति करें और परमात्मा के प्रियपात्र हों। यदि ये न होते तो दया और सेवा धर्म की उत्पत्ति और व्यवहार मनुष्य में मनुष्य के प्रति कैसे प्रगट होता और बिना इन सुपात्रों की तुष्टि कर ईश्वर की तुष्टि के सम्पादन के कर्म करने का मौका नहीं मिलता, क्योंकि दीनदुःखियों की तुष्टि करनी ही

ईश्वर की यथार्थ तुष्टि करती है। यदि कहीं कोई ऐसा निःसहाय व्यक्ति मिले जिसको तत्काल सहायता की आवश्यकता है, कोई ऐसा आतुर रोगी मिले जिस को कोई देखनेवाला नहीं, और उस के कारण उस की दशा भयानक होती जाती है, कोई ऐसा मिले जो विना अन्नवस्त्र के तलफ रहा है, कोई ऐसा मिले जिस के सब परिवार अन्नवस्त्र विना भूखे कष्ट पा रहे हैं तो ऐसों की सेवा शीघ्र करनी चाहिये और यथाशक्ति सहायता पहुंचानी चाहिये। इन परोपकारी कार्य्यों में भी विचार चाहिये अर्थात् यह भी सम्बन्ध और कर्तव्य के विचार के अनुसार होना चाहिये। यदि किसी का पड़ोसी अन्न विना भूखे पड़ा हो और वस्त्रहीन हो उस को अन्न वस्त्र न देकर दूसरे दूरके स्थान में अन्नवस्त्र दान करना कर्तव्य के विरुद्ध है क्योंकि दया का प्रचार पहिले अपने समीपवर्ती से प्रारम्भ होना चाहिये। इसी प्रकार इस सम्बन्ध में और और विचार करना चाहिये।

यह शरीर धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र है। प्रत्येक जीव अर्जुन है जिस का नाम नर भी है। इसके अन्दर कूटस्थ साक्षी चैतन्य श्रीकृष्ण वर्तमान हैं और महाभारत के कौरवदल अन्दर में काम क्रोधादि दुर्गुण हैं और पाण्डवदल सद्गुण हैं। प्रत्येक जीव को यह युद्ध लड़ना है और जैसे अर्जुनको विषाद हुआ कि कौरव आत्मीय हैं उन को कैसे नष्ट करें उसी प्रकार जीव को भी युद्ध प्रारम्भ के प्रथम विषाद होता है कि इन्द्रियादि रूपी कौरवदल जिनसे सम्बन्ध जीवको अनेक दिनों से था और जिनसे सुख भी मिलता था, जिस कारण वे सुखद आत्मीय की भांति हैं उनसे वियोग कैसे करें, उनको कैसे नष्ट करें और उनके सम्बन्ध से जो सुख मिलते हैं उनका कैसेउनको नष्ट कर त्याग करें। उसको यह धारणा आती है कि इन सुखद अंतरस्थ सम्बन्धियों को कदापि नाश नहीं करना चाहिए और ऐसा समझ कर युद्ध से निवृत्त होने की चेष्टा करता है। हृदयस्थ कूटस्थ साक्षी श्रीभगवान् उसको ज्ञान का उपदेश करते हैं और समझाते हैं कि ये इन्द्रियादि तुम्हारे सुख देनेवाले सम्बन्धी नहीं हैं किन्तु शत्रु हैं। इनसे युद्ध कर इनका पराभव करना तेरा धर्म है। यह युद्ध इस गृहस्थाश्रम में कर्मयोग के अभ्यास में ही प्रारम्भ होता है और वह धन्य है जिस में यह कर्मयोग रूपी महाभारत युद्ध प्रारम्भ होगया और विषाद आने पर भी वह रुक

न जाकर युद्ध में अग्रसर हो रहा है। लोगों को समझना चाहिए कि भीतर में दोनो दल अर्थात् शत्रु दल और मित्रदल विद्यमान हैं जिनमें शत्रुदल बड़े प्रवल हैं और वे आत्मीय और मित्र बनकर हानि करते हैं जो बहुत बड़ा भयानक है और इन शत्रुदल की बह-कावट में पड़ के लोग बड़े २ अनाचार और कुकर्म करते हैं जिनके कारण असीम क्लेश भोगना पड़ता है। अतएव लोगों को इन शत्रु दल काम क्रोधादि से विशेष सावधान रहना चाहिए और इनके दमन करने के लिए इनसे युद्ध करना चाहिए। जो कोई भावना चित्त में आवे उसपर विचारना चाहिए कि यह शत्रु दल की ओर का है अथवा मित्रदल का और उसकी पहचान यह है कि यदि उक्त भावना धर्मसम्मत है और ईश्वर के नियम के अनुकूल है और इन्द्रियों को राजसिक तामसिक भाव की उत्तेजना देनेवाली अथवा प्रवल करनेवाली नहीं है और उससे किसी व्यक्ति के हानि अथवा कष्ट हो नहीं सकते किन्तु उपकार अथवा कर्तव्यपालन होना सम्भव है तो समझना चाहिए कि यह मित्रदल की भेजी भावना है जिसका आदर करना चाहिए और उसके अनुसार बर्त्ताव करना चाहिए किन्तु यदि उक्त भावना ऊपर कथित बातों के विरुद्ध हो अन्ततः हानि करनेवाली हो, धर्मविरुद्ध हो तो उस भावना को हानि करने वाली जान और शत्रु दल की ओर से भेजा जान उसको शीघ्र वेग के साथ मनसे दूर कर देना चाहिए और प्रवल प्रतिज्ञा करनी चाहिए कि ऐसी भावना को फिर चित्त में कदापि स्थान नहीं दी जायगी और उसके भेजनेवाले शत्रु दल को पराभव करने का यत्न करना चाहिए। इन शत्रु दल के पराभव करने का उत्तम उपाय यह है कि प्रथम शत्रु दल को शत्रु समझे, मित्र नहीं समझे, और उनके दमन की दृढ़ इच्छा रक्खे और फिर मित्र-दल की सहायता लेकर उनका पराभव करे। मित्र दल का सहायता लेना यह है कि प्रत्येक दुष्ट वासना के विरुद्ध शुभ वासना भी है और किसी दुष्ट वासना के विरुद्ध की शुभ वासना की सहायता लेकर उसका दमन करना चाहिए। जैसा कि क्रोध का पराभव क्षमा द्वारा करना अर्थात् क्रोध के प्रकट होने से क्षमा गुण को चित्त में प्रकट करना चाहिए और क्षमा के गुणों पर विचार करने लगना और उसका आश्रय लेना चाहिए और ऐसा करने पर क्रोध ऐसा नष्ट हो जायगा जैसा कि जल देने

से अग्नि बुझ जाती है। श्रीमद्भागवत पुराण का वचन है:—
असंकल्पाज्जयेत्काम क्रोधंकामविवर्जनात्। अर्थानर्थेक्षयालोभं भयंतत्त्वावमर्शनात्। २२ आन्वीक्षिक्या शोकमोहौ दंभं महदुपासया। योगांतरायान्मौनेन, हिंसाकायाद्यनीहया २३ कृपया भूतजं दुःखं दैवं जह्यात्समाधिना। आत्मजं योगवीर्येणनिद्रांसत्त्वनिषेवया २४ रजस्तमश्च सत्वेन सत्वं चोपशमनेच। एतत्सर्वं गुरौ भक्त्या पुरुषोह्यंजसाजयेत् २२ स्कंध ७ अ० १५

काम को निष्काम भाव से जीते, कामना को त्याग से क्रोध को जीते, अर्थ के दुरुपयोगसे अनर्थ होता है ऐसी भावना से लोभ को जीते, तत्व के विचार से भय का पराभव करे, शोक मोह को आत्मानात्मा के विवेक से, बड़ों की सेवाकर दंभ को, योग के विघ्नों को सांसारिक वार्ता में मौन रहने से, हिंसा को देह आदि की चेष्टा को रोक कर, भय देनेवाले प्राणियों के भय को उन के हित करने से, प्रारब्ध को मन को उपशम करने से, शरीर के दुःख को योग के वल से, निद्रा को सत्वगुणी भोजन करने से, रज और तम को सत्वगुण से, सत्व को मन को समाहित और शान्त करने से जीते-गुरुभक्त इन कहे हुए काम आदि को अनायास ही में जीतने को समर्थ होगा।

कर्मयोगी पूर्ण विचारवान और परमार्थ तत्व का विवेकी होता है और निःस्वार्थपना, पूर्ण चित्तशुद्धि और सर्व्वहितैषिता आदि सद्गुणों के पाने पर परम तत्व की झलक उस को देख पड़ती है और तब उसे ईश्वर में प्रेम उत्पन्न होता है और तब से वह कर्मों को परम यज्ञ की भांति करता है जो केवल ईश्वर निमित्त कर्म करना है। यह कर्म और अभ्यासयोग (जिस का आगे वर्णन है) का अन्त है और भक्तियोग का प्रारम्भ है।

पंच महायज्ञ और इस परमयज्ञ में भेद यह है कि पंच महायज्ञ में दोनों ओर से यज्ञ किया जाता है अतएव वह एक प्रकार का ऋणमोचन है जिस के करने में मनुष्य वाध्य है। देवता वर्षा बरसा के मनुष्यों के प्रति यज्ञ करते हैं और मनुष्य होम करके उन के प्रति यज्ञ करते हैं, किन्तु इस उच्च कर्मयोग रूपी परमयज्ञ में कर्ता किसी प्रकार से वाध्य न होकर केवल प्रेम के कारण प्रवृत्त होता है। अपने प्रिय परमेश्वर के लिये निःस्वार्थ होकर और

प्रसन्नतापूर्वक अपने को स्वाहा करता है अर्थात् उन प्रियतम के कार्य के निमित्त स्वार्थ का त्याग कर और अपने ऊपर कष्ट उठाकर उस का प्रिय सम्पादन करता है।

कर्मों को कर्तव्य जान करना ही यथार्थ त्याग है अर्थात् इस में कर्म के फल का त्याग करना होता है जो कि बंधन का कारण है किन्तु इस परमयज्ञ में फल ही नहीं किन्तु कर्म भी केवल प्रेम के कारण ईश्वर में अर्पण किया जाता है, जिस का विशेष वर्णन भक्तियोग में होगा। इस परमयज्ञ का मुख्य कर्म संसार में धर्मादि की वृद्धि कर सृष्टि को ऊर्द्ध्वगति में सहायता देनी है जो यथार्थ में ईश्वर के निमित्त उनके प्रिय कर्म हैं। श्रीमद्भागवत में लिखा है—

गृहमेवास्थितो राजन्! क्रियाः कुर्व्वन् यथोचिताः।
वासुदेवार्पणं साक्षादुपासीत महामुनीन्॥ २॥

७ स्कंध. अ० १४।

गृहस्थ को सब कामों को यथोचित करके और वासुदेव में अर्पण करके सद्गुरु महात्माओं की उपासना करनी चाहिये। प्रारम्भ में साधक कर्मसम्पादन कर कर्म मार्ग का अनुसरण करता है किन्तु जब वह श्रीभगवान में युक्त होता है और आत्मसमर्पण करता है तबसे उसका कर्ममार्ग कर्मयोग होजाता है। जैसे वृक्ष के मूल में जल देने से वृक्ष के सम्पूर्ण भाग शाखापत्र आदि वृद्धि पाते हैं, वैसे ही ईश्वर के निमित्त कर्मयज्ञ करने से सम्पूर्ण सृष्टि रूप वृक्ष को जिस का ईश्वर मूल है लाभ होता है अर्थात् इस परम यज्ञ के कर्म का फल यज्ञपुरुष ईश्वर के हाथ में जाता है और उस से सृष्टि-मात्र की उन्नति होती है। ऐसे परमकर्मयोगी के सब काम प्रातः से शयन पर्य्यंत केवल ईश्वर के निमित्त और सृष्टि की भलाई के लिये ही होते हैं, अतएव उनका प्रत्येक काम मानो ईश्वर की पूजा है। ऐसे कर्मयोगी में यथार्थ भक्ति उत्पन्न होती है और तब उस को सद्गुरु लब्ध होते हैं। ईश्वर की शक्तियां ऐसे योगी में प्रकट होती हैं और सृष्टिमात्र से वह अपने को भिन्न नहीं अनुभव करता, उस को ऐसा अनुभव होता है कि सृष्टि मात्र के प्राणी मानो उस के अपने आत्मा हैं और तब उसे कोई भय नहीं रहता।

अभ्यासयोग ।

कर्म्म योग के व्याख्यान में यह दिखलाया गया है कि कैसे कर्म के करने के उद्देश्य को परिवर्तन करने से कर्ता को कर्ममार्ग की शुद्धि होती है और अंतिम परिणाम कर्ममार्ग का कर्ताका स्वार्थ और अहंकार का त्याग कराकर आत्मभाव में परिवर्तन करना है और उस शुद्ध आत्मभाव को परमात्मा में समर्पण और युक्त करना है और तभी कर्ममार्ग कर्मयोग होता है और तबसे कर्म को ईश्वर का काम समझ उन के निमित्त करना होता है और इसकेवास्ते मुख्य कार्य जो साधन करना पड़ता है वह संसार में सदाचार, धर्म, ज्ञान और भक्ति का प्रचार करना और अधर्म को घटा कर सृष्टि को ऊर्द्ध्वगति में योग देनी है। किन्तु ऐसी सहायता और योग विशेष रूप से देने के लिये साधक को अपने को उस के सम्पादन करने योग्य बनाना चाहिये जिस के निमित्त उस को उन साधनाओं का अभ्यास करना चाहिये जिन से विशेष शक्ति, योग्यता और ज्ञान पाकर ईश्वर की भक्ति को प्राप्त करेगा और तब ईश्वर का उक्त कार्य पूर्ण रूप से कर सकेगा।

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना ।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥४७॥

गीता अध्याय ६ ।

योगियों में से जो मुझ में अन्तरात्मा को सन्निवेशित करके श्रद्धा से मेरी आराधना करते हैं उन को मैं सब से श्रेष्ठ योगी समझता हूं। जब जितना कार्य करने के योग्य हो उतना कार्य उसे अवश्य करना चाहिये और उस से विशेष योग्यता पाने की ओर विशेष कार्य करने की चेष्टा करनी चाहिये। किन्तु जो ऐसी इच्छा रखते हैं कि जब विशेष योग्यता की प्राप्ति करेंगे तभी ईश्वर के कार्य्य परोपकारादि के करने में प्रवृत्त होंगे और ऐसा मान वर्तमानकाल में कुछ नहीं करते वे कभी कुछ विशेष कर नहीं सकेंगे,

क्योंकि नियम है कि जैसे २ परोपकार निःस्वार्थभाव से कोई करता जायगा, वह कार्य अति क्षुद्र क्यों न हो, वैसे २ उस की योग्यता बढ़ती जायगी । ईश्वर के कार्य सम्पादन की योग्यता की प्राप्ति के निमित्त योग की साधनाओं के करने में प्रवृत्त होना चाहिये । उन साधनाओं में अभ्यासयोग द्वितीय साधन है जिस का वर्णन यहां किया जाता है ।

अभ्यासयोग का उद्देश्य मुख्य मन और चित्तादि का निग्रह और शुद्ध करना और भी आचरण को पवित्र करना है जिस के बिना न ज्ञान प्राप्त हो सकता है और न भक्ति ही मिल सकती है । अभ्यासयोग के आठ मुख्य अंग हैं । १ यम २ नियम ३ आसन ४ प्राणायाम ५ प्रत्याहार ६ धारणा ७ ध्यान और ८ समाधि ।

यम का अर्थ जितने कुत्सित शारीरिक, वाचनिक और मानसिक कर्म हैं उन सबों को नहीं करना है । अधिक लोग समझते हैं कि यम का अभ्यास कठिन नहीं है और प्रायः प्राप्त है, अतएव इस पर ध्यान नहीं देते, किन्तु यदि अपने आचरणों पर हमलोग अच्छी तरह से ध्यान दें तो प्रकट होगा कि यम का अभ्यास अत्यन्त कठिन है और हमलोग इस को अभ्यास में बहुत कुछ भंग करते हैं । यम का प्राप्त होना साधक के लिये अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि यह योग की प्रथम सीढ़ी है, और बिना इस पर पग दिये आगे कोई बढ़ नहीं सकता । अतएव साधक को चाहिये कि प्रथम गुप्त अभ्यासों की प्राप्ति के लिये उत्सुक न होकर केवल यम के अभ्यास में दत्तचित्त हो जायं । यम में दृढ़ होने से आगे क्या करना होगा वह प्रायः स्वतः बोध हो जायगा किंतु बिना यम में दृढ़ हुए आगे बढ़ना असम्भव है । यम पांच प्रकार का है ।

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्य्यापरिग्रहा यमाः ।

योगसूत्र ।

१ अहिंसा अर्थात् किसी की किसी प्रकार की हानि न करनी और न करने की इच्छा रखनी * । साधक की मानसिक शक्ति में विशेष बल आजाता है, अतएव केवल कर्म ही से हिंसा से निवृत्ति उसके लिए यथेष्ट नहीं है किन्तु उसको अपने संकल्प

---

* देखो धर्म कल्प ६

और भावना को अवश्य शुद्ध करना चाहिए और उसमें दूसरोंके प्रति प्रेम और दयाका भाव लाकर द्वेषभाव को समूल नष्ट करना चाहिए और कदापि शत्रुके प्रति भी द्वेष अथवा हिंसा करने की इच्छा नहीं रखनी चाहिए। इसके बिना साधक अपने पथ में अग्रसर हो नहीं सकता है। क्रोध करना भी हिंसा के अन्तर्गत है। अहिंसाको प्राप्ति के लिए क्षमा और अक्रोधका अभ्यास आवश्यक है। लिखा है:—

यद्गिनस्युर्मानुषेषु क्षमिणःपृथिवीसमाः। नस्यात्संधिर्मनुष्याणां क्रोधमूलोहि विग्रहः २६ महाभारत वनपर्व अ० २८

आत्मानं चपरांश्चैव त्रायते महतो भयात्। क्रुध्यंतमप्रति क्रुध्यन् द्वयोरेषचिकित्सकः ६ ऐ० अ० २६

यदि मनुष्य में पृथीवी के समान क्षमावान न हों तो समाज में सुलह कभी नहीं होसकती है, क्योंकि क्रोध विग्रह का मूल है २६ यदि क्रोध करनेवाले पर क्रोध का पात्र क्रोध न करे तो वह अपने और दूसरों को भी बड़े भय से छुड़ावेगा और अपना और क्रोधी दोनों क्रोध रोग को चिकित्सक हो कर दूर कर देगा। ६।

२ रा सत्य अर्थात् यथार्थ बोलना और कार्य्य करना है *। साधक को सत्य के ठीक स्वरूप को समझ कर उसके अभ्यास में विशेष ध्यान देना चाहिए और समझना चाहिए कि सत्य सब साधनाओं का मूल है। सत्य का लक्षण महाभारत के शान्तिपर्व में यों वर्णित है:—

सत्यं धर्मस्तपो योगः सत्यं ब्रह्म सनातनम्। सत्यं यज्ञः परःप्रोक्तः सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम् ५ सत्यं त्रयोदशविधं सर्वलोकेषुभारत। ७ सत्यञ्चसमताचैव दमश्चैव नसंशयः। अमात्सर्य्यंक्षमाचैव ह्रीस्तितिक्षानसूयता ८ त्यागोध्यान मथार्य्यत्वं धृतिश्च सततं दया। अहिंसाचैवराजेन्द्र! सत्याकारास्त्रयोदश ६ अ० १६२

सत्यही धर्म, तप योग है और सनातन ब्रह्म भी सत्य ही है। सत्य ही परमयज्ञ है और सबकुछ उत्तम सत्य में टिके हुए हैं। हे भारत! सबलोगों के मध्य सत्य तेरह प्रकार का है। सत्य समता, इन्द्रियनिग्रह, ममता का त्याग, क्षमा, लज्जा, तितिक्षा, द्वेषशून्य, त्याग, ध्यान, आर्य्यत्व, धैर्य्य, सर्वदा दया, अहिंसा ए

* देखो धर्म कष्ट १८

तेरह, हे राजेन्द्र ! सत्य के स्वरूप हैं। साधक को सत्यके इन तेरह रूपों पर खूब मनन करना चाहिए और इन तेरहों की प्राप्ति के लिए चेष्टा करनी चाहिए और इन सबके लाभ करने पर ही उसको यथार्थ सत्य की प्राप्ति होगी। अभ्यास योग के साधक को सत्य का सूक्ष्म तत्व समझ उसका पूरा अभ्यास मन, वचन और क्रिया से करना चाहिए।

तीसरा अस्तेय अर्थात् अन्याय से किसी दूसरे का पदार्थ नहीं लेना, और न लेने की इच्छा करना है *; लिखा भी है कि

अन्यदीये तृणे रत्ने काञ्चने मौक्तिकेऽपिच ।
मनसा विनिवृत्तिर्या तदस्तेयं विदुर्बुधाः ॥

जायाबदर्शनोपनिषत्

दूसरे के तृण, रत्न, सोना और मुक्ता आदि को अन्याय से लेने की इच्छा न रखनी अस्तेय है। (४) ब्रह्मचर्य्य इन्द्रियों का निग्रह करना है, विशेष जननेन्द्रिय का जिस के लिए पर स्त्री को माता, बहिन और लड़की समान जानना और उन के देखने से जगन्माता का पवित्र भाव उन के प्रति आना मुख्य है और सब प्रकार से अविहित मैथुन का त्यागना आवश्यक है। 'मातृवत्परदारेषु' अर्थात् पर स्त्री को जगन्माता परमेश्वरी के समान देखना

देखो धर्म पृष्ठ

* मैथुन आठ प्रकार का है।

स्मरणं कीर्त्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्, संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च। एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्तिमनीषिणः ॥ न ध्यातव्यं न वक्तव्यं न कर्तव्यं कदाचन। एतैः सर्वैः सुसम्पन्नोयतिर्भवति नेतरः ॥

दक्ष संहिता, अध्याय ७।

स्त्री सम्बन्धी कुत्सितव्यापार की चर्चा आसक्ति से सुनना अथवा कहना, स्त्री के साथ दुष्टभाव से हंसी खेल करना, स्त्री को दुष्टभाव के साथ देखना, गुप्तबात करना, प्रसंग की इच्छा करना और उस के निमित्त यत्न करना और प्रसंग किया करना ये आठ प्रकार के मैथुन पण्डित लोग कहते हैं। (अतएव) दुष्टभाव से स्त्री के विषय में न कुछ ध्यान करना चाहिये, न वार्ता करनी चाहिये और न अविहित मैथुन करना चाहिये, इन सबों को नहीं करने से यति होता है अन्यथा नहीं।

और उन के प्रति यही स्थायी भाव बनाए रखना इस अवस्था में परमावश्यक है जिस के विना साधक अग्रसर हो नहीं सकता है। यह मुख्य साधना है। गृहस्थ यदि केवल सन्तानोत्पादन निमित्त अपनी स्त्री से केवल ऋतुकाल में गमन करे तो यह ब्रह्मचर्य्य के विरुद्ध नहीं होता। जाबालदर्शनोपनिषद्‌का वचन है—

कायेन वाचा मनसा स्त्रीणां परिवर्जनम्।
ऋतौ भार्यां तदास्वस्य ब्रह्मचर्यं तदुच्यते॥

शरीर, मन और वचन से स्त्री से भोग के संग की इच्छा न रखना किन्तु ऋतुकाल में अपनी स्त्री से (केवल पुत्रार्थ) संग करना ब्रह्मचर्य्य है। साधक के लिए अभ्यासकाल में ब्रह्मचर्य्य का पालन अर्थात् सब इन्द्रियों का निग्रह अत्यन्त आवश्यक है जिस के अभाव से अभ्यास की सिद्धि कदापि नहीं होगी किन्तु हानि हो सकती है। ब्रह्मचर्य्य विरोधी वासना को समूल नष्ट करना चाहिए और ब्रह्मचर्य्यविरोधी भोजन और आचरण और संग का त्याग करना चाहिए।

(५) अपरिग्रह है जिस का अर्थ आपतकाल में भी किसी द्रव्य को दान की तरह भी स्वार्थ के निमित्त न लेना है।

नियम का अर्थ उत्तम कर्मों का सम्पादन करना है।
नियम भी पांच प्रकार के हैं।

शौचसंतोषतपस्स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।

योग सूत्र।

१ शौच अर्थात् बाहर भीतर दोनों मन, वचन और शरीर से शुद्ध और पवित्र रहना और शौच सम्बन्धी शास्त्रानुमोदित आचारों का पालन करना है। संतोष-प्रारब्ध कर्म पर विश्वास रख जब जो कुछ जितना मिले अथवा नहीं मिले और जब जो अवस्था आ पड़े उसी में प्रसन्न रहना और चित्त को किंचित भी क्षुभित नहीं होने देना संतोष है। ३ तप अर्थात् शरीर, वाक्य और मन को ऐसा निग्रह करना जिस में कोई अयुक्त कर्म कभी इन के द्वारा

न हो । तपस्या का मुख्य उद्देश्य शरीर और इन्द्रिय का निग्रह करना है । एकादशी आदि व्रत का करना तपस्या का एक अंग है । गीता में तीन प्रकार की तपस्याओं का यों वर्णन है ।

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥ १४ ॥
अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥ १५ ॥
मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥ १६ ॥

अध्याय १७ ।

देवता, ब्राह्मण, गुरु और विद्वान का पूजन, शौच, सरलता, ब्रह्मचर्य्य और अहिंसा ये शरीर के तप हैं ॥१४॥ दूसरे के मन को दुःख न देनेवाला संभाषण, सत्य प्रिय और हितकारी वाक्य और वेदाभ्यास ये वाचनिक तप कहाते हैं ॥१५॥ चित्त की प्रसन्नता, समभाव, ध्यान (जब मन को मौन करना होता है), इन्द्रिय-निग्रह और अन्तःकरण की शुद्धि ये मानसिक तप कहे जाते हैं ॥ १६ ॥

४ स्वाध्याय अर्थात् वेद और सद्ग्रन्थों का पाठ करनो, विचारना, मननकरना और उन के अनुसार अभ्यास करना और संध्योपासनादि कर्म और गायत्री प्रणवादि मंत्रों का ठीक २ जप करना है । ५ ईश्वरप्रणिधान अर्थात् निःस्वार्थ प्रेम से ईश्वर में अपने कर्मों को समपर्ण कर उन की भक्ति करनी और ईश्वर के नाम का जप करना और उन का ध्यान स्मरण करना । अभ्यास-योग की सिद्धि में ईश्वर का भजन और उनकी कृपा मुख्य है । जो लोग समझते हैं कि केवल अपने पुरुषार्थ से और बिना ईश्वर की उपासना के योगको प्राप्ति कर लेंगे वे भ्रममें हैं और यह कदापि सम्भव नहीं है । यथार्थ योग की प्राप्ति ईश्वर की कृपासे सद्गुरु की प्राप्ति होने से होती है । अतएव योगके साधक को ईश्वरप्रणिधान पर विशेष यत्न रखना चाहिए । गीताका वचन

इसमें स्पष्ट है:—"सर्वभूतस्थितं योमांभजत्येकत्वमास्थितः। सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ३१ अ० ६ अनन्यचेताः सततं योमांस्मरतिनित्यशः। तस्याहंसुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः १४ अ० ८ अनन्याश्चिन्तयन्तोमां येजनाःपर्युपासते। तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमंवहाम्यहम् २२ अ० ९ जो आत्मसमर्पण द्वारा सबभूतों में टिकेहुए मुझको भजता है किसी प्रकार रहने पर भी वह योगी मुझ में रहता है ३१ हे पार्थ! अनन्य चित्त द्वारा जो सर्वदा मेरास्मरण करता है उस निरन्तर सावधान योगी को मैं सुख से प्राप्त होता हूं १४ अनन्यचित्त से मेरा चिन्तन करते हुए जो मुझको भजते हैं उन योगयुक्त पुरुष को योगक्षेम करता हूं २२।

आसन—

"स्थिरसुखमासनम्"

योगसूत्र।

जिस से शरीर स्थिर रहे और सुख मालूम हो वही आसन है। ध्यानादि में चित्त शरीर से पृथक् रहना चाहिये जो स्थिर, सुगम, सहज और सुखद आसन के ग्रहण करने से होगा। गीता का वचन है—

"समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं"

शरीर का मध्यभाग, शिर और कंधे को सीधा और अचल रखना चाहिये। पद्मासन सिद्धासनादि का अभ्यासकर और अभ्यास द्वारा उस को सहज सुखद करलेने पर ऐसे आसन से लाभ होगा।

प्राणायाम। संध्योपासना में प्राणायाम रेचक और पूरक कुम्भक द्वारा श्वास प्रश्वास की गति को रोकना है जिस से कफ, पित्त और वायु किसी परिमाण में साम्यावस्था में हो जाते हैं और अन्यलाभ भी होते हैं किंतु ऐसे प्राणायाम को अधिक करने से हानि भी हो सकती है। प्राणायाम का यथार्थ अभ्यास गुरु द्वारा ही जाना जा सकता है और अनुभवी गुरु इसकी मात्रा आदिका निश्चय भिन्न २ साधकों के निमित्त भिन्न २ प्रकार का करते हैं जिस को विना विचार कर प्राणायाम करने से क्षति होती है; और भी प्राणायामाभ्यासी को भोजन का विशेष विचार

रखना चाहिए अर्थात् केवल उपयुक्त सात्विक भोजन उस को खाना चाहिए और अनुपयुक्त खाद्य का वर्जन करना चाहिए और भी इसमें ब्रह्मचर्य के अभ्यास की बड़ी आवश्यकता होती है। जो लोग इन सब की बिना पूर्ति किए प्राणायाम करते हैं उन को प्रायः व्याधि हो जाती है और दूसरी आवश्यक साधना के अभाव होने से प्रायः मन का निरोध भी नहीं होता और बिना प्राणायाम के अभ्यास के भी केवल मानसिक अभ्यास से अनेकों का मन निग्रह हुआ हैं। अतएव उत्तम पक्ष यह है कि संध्योपासना के सम्बन्ध में केवल ११ प्राणायामतक प्रतिदिन किए जाएं, अधिक नहीं। राजयोग में प्राणायाम मन की बहिर्मुख गति को रोक कर अन्तर्मुख करना है। चित्त में विषयों की वासना के रहने के कारण मन बहिर्मुख होता है, अतएव विषय वासनाओं के नाश करने से और वैराग्य और आत्मचिंतन के अभ्यास से मन अन्तर्मुख होता है, इस कारण राजयोग का यह सिद्धान्त है कि साक्षात् मन का निरोध ही मुख्य है और इसी से प्राण का निरोध स्वयं हो जायगा किन्तु प्राण के निरोध से मन का पूर्ण निरोध हो नहीं सकता है, क्योंकि मन प्राण से ऊंचा है। मन की गति को श्वास अनुसरण करता है जिस का अनुभव सबों की है; क्रोध, भय और उद्विग्नता इत्यादि के आने पर और चित्त के कामासक्त होने पर श्वास की गति तीव्र और उत्तेजित हो जाती है और मन के स्थिर, शान्त और प्रसन्न रहने पर श्वास भी ऐसे स्थिर भाव से चलता है मानो वह एकदम रुक गया। श्रीमद्भागवत पुराण का वचन है—

विजितहृषीकवायुभिरदान्तमनस्तुरगं
य इह यतन्ति यंतु मितलोलमुपायखिदः।
व्यसनशतान्विताः समवहाय गुरोश्चरणं,
वणिज इवाऽज संत्यऽकृतकर्णधरा जलधौ ॥३३॥

१० म स्कन्ध ८७ अध्याय।

हे अजित! परम देव गुरु के चरण के शरण लिये बिना जो इन्द्रिय प्राणों को जीत कर अति चचल दुर्जय मन रूपी घोड़े को जीतने का यत्न करते हैं, वे सफलता नहीं प्राप्त कर हानि पाते हैं

और विघ्नों से व्याकुल होते हैं (क्योंकि मन का पूरा जीतना गुरु की कृपा और उनके आदेश के पालन से होता है), जैसे जो व्यापारी मलाह को नहीं रखते वे समुद्र में बड़े दुःख पाते हैं। लिखा है कि—

युञ्जानानामभक्तानां प्राणायामादिभिर्मनः।

अक्षीणवासनं राजन्! दृश्यते पुनरुत्थितम् ॥६२॥

तत्रैव अध्याय ५१।

हे राजा मुचकुन्द! जो मेरे भक्त नहीं हैं और प्राणायामादि साधनाओं से मन को वश करते हैं, उन के मन का पूर्ण निरोध नहीं होता, क्योंकि वासना के क्षीण नहीं होने के कारण उन के मन का फिर उत्थान होता है (अर्थात् फिर चपल, अशान्त और असमाहित हो जाता है)।

प्राणायाम यथार्थ में मन निग्रह है जो अभ्यास योग का मुख्य साधन है। इन्द्रियनिग्रह से मननिग्रह कठिन है। आज कल अधिकांश मनुष्य मन ही को जीवात्मा समझते हैं और ऐसा नहीं जानते कि जीवात्मा मन से उच्च और पृथक है जिस की उपाधि मन है और बहुत से लोग ऐसा केवल सिद्धांत की तरह जानते हैं किन्तु अभ्यास में ऐसा ज्ञान नहीं रखते। इन्द्रियों को विचार विवेक शक्ति द्वारा वश रखना अर्थात् जब इन्द्रिय बुरे विषयों की ओर खींचें और प्रवृत्त हों तो हठात् उसमें प्रवृत्त न हो जाना किन्तु विचार, विवेक और अनुभव आदि द्वारा निश्चय करना कि वह कर्म यथार्थ में उस के लिये बुरा है और ऐसा निश्चय कर के उस को न करना, अर्थात् केवल इन्द्रिय की उत्तेजना वश हो के कर्म न करना, ऐसी योग्यता तो साधारण है और इस को साधारण रीति से प्राप्ति के पश्चात् ही कोई यथार्थ साधक समझा जाता है, अतएव साधक को इस से भी विशेष प्रकार के मननिग्रह का लाभ करना चाहिये। साधक को मन की क्रिया शक्ति का ज्ञान होना चाहिये और उस को समझना चाहिये कि वह मानसिक कर्मों के लिये वैसा ही उत्तरदायी है जैसे शारीरिक कर्मों के निमित्त और यह भी कि संकल्पों का करनेवाला जीवात्मा मन से (जो संकल्प करने की उपाधि है) पृथक् है। मन में क्रियाशक्ति रहने के कारण जो कुछ संकल्प, इच्छा, वासना आदि वृत्तियां स्फुरण होती हैं वे

व्यर्थ नहीं जातीं, किन्तु उन का प्रभाव ऐसे दूसरे लोगों पर भी पड़ता है जिन के चित्त में भी उसी प्रकार की भावनायें रहती हैं जिस (प्रभाव के पड़ने) के कारण उन का वैसा स्वभाव बढ़जाता है और तदनुसार क्रिया करने में वे बाध्य होते हैं, और उसी भांति जैसी भावना की चिंता करने में मनुष्य प्रवृत्त होता है उसी प्रकार के दूसरे मनुष्यों की भावना का प्रभाव उस के चित्त पर पड़ता है और वैसी ही भावना सोचने का स्वभाव और भी उस में अधिक बढ़ जाता है और चिंता प्रबल होने से तदनुसार क्रिया करने में मनुष्य बाध्य होता है। जैसा कि यदि कोई किसी दूसरे की हानि करने का संकल्प करे तो उस का बुरा प्रभाव ऐसे मनुष्यों के चित्त पर भी पड़ेगा जिन के चित्त में भी दूसरों की हानि करने की इच्छा है, जो इच्छा इस प्रभाव के पड़ने के कारण बढ़ जायगी, पुष्ट हो जायगी और शनैः २ प्रबल हो कर अंत में उसे दूसरे की हानि करने में बाध्य करेगी, जिस के निमित्त उक्त दुष्ट भावना का संकल्प करनेवाला भी उत्तरदायी होगा, और उस के चित्त में भी दूसरे मनुष्य की द्वेषकारी भावना का प्रभाव पड़ेगा जिस से उस का भी वैसा (द्वेषकारी) स्वभाव अधिक बढ़ जायगा। कोई२ आदमी अकस्मात् कोई अत्यन्त निन्द्य कर्म कर बैठते हैं जिस का करना उन्होंने पहले कुछ भी नहीं सोचा था और करने के उपरान्त उस पर पश्चात्ताप करते हैं किन्तु ऐसा कर्म प्रायः दूसरे की दुष्टभावना का प्रभाव चित्त पर पड़ने से किया जाता है। ऐसे ही उत्तम भावना के विषय में भी जानना चाहिये। अच्छे २ विषयों के ध्यान (भावना) करने से और उत्तम संकल्प से उस का प्रभाव दूसरे अच्छे लोगों पर पड़ता है जिन का उस के द्वारा उत्तम स्वभाव बढ़ता है और अन्य सत्पुरुषों के उत्तम विचार और संकल्प का प्रभाव उस में आता है जिस से उस का उपकार होता है। अतएव जिस के चित्त में कोई दुष्टभावना और अशुभ संकल्प नहीं आने पाते, उस के चित्त में किसी दूसरे की मंद भावना का प्रभाव नहीं आ सकता। इस विषय का विचार "कर्म" प्रकर्ण के पृष्ठ २८ से ३२ तक में भी किया गया है।

जिस वस्तु को हमलोग प्रीति और आसक्ति के साथ सोचते और भावना करते हैं उस की प्राप्ति करने की इच्छा उत्पन्न होती है, और इच्छा के पश्चात् वैसी ही चेष्टा करनी पड़ती है। यदि

किसी बुरी वस्तु को आह्लादपूर्वक बार २ सोंचा जाय तो उस की प्राप्ति की इच्छा उत्पन्न होगी, मन तद्रूप हो जायगा और फिर कुत्सित कर्मकरना उस का परिणाम होगा। अतएव मन ही पाप का मूल है, इस निमित्त कोई दुष्ट भावना अथवा अशुभ संकल्प किसी अवस्था में भी मनमें नहीं पावे इस की सावधानी सतत करते रहना चाहिये, यदि संयोगवश कोई आ जाय तो उस को शीघ्र मन से हटा देना चाहिये, उसे रहने न देना चाहिये; क्योंकि किंचित् काल के लिये भी दुष्टभावना को मन में टिकने से फिर उस का हटाना कठिन होगा क्योंकि जितनी भावना की स्थिती होगी उतना ही वह पुष्ट और प्रबल होता जायगा। श्वेताश्वतरोपनिषत् का वचन है—

दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं विद्वान् मनो
धारयेताप्रमत्तः ॥ ९ ॥

अध्याय।

जैसे बिना फेरा (तोड़ा) हुआ घोड़ा को रथ में जोते रहने पर उस पर सतत सावधान रहना होता है, वैसेही मन को ज्ञान बुद्धिमान को उसे विशेष सावधानी के साथ वश में रखना चाहिये।

अन्य दोष मन की चंचलता है। मन की गति पर यदि कोई ध्यान देता है, तो देखता है कि प्रायः ऐसी २ बातें मन में आया करती हैं जिन को कुछ आवश्यकता नहीं थी और जिन का आना उस ने नहीं चाहाथा अकस्मात् आगई और तब आश्चर्य करता है कि ये क्यों और कैसे आई, और फिर उन के आने पर अपने को उन के प्रवाह को रोकने में असमर्थ पाता है। वह किसी विषय पर मन को एकाग्र करना चाहता है तो मन उसमें एकाग्र नहीं होता, थोड़े ही समय तक उस नियत विषय पर रहने से मन को कष्ट बोध होता है जिस के कारण उस पर एकाग्र लगा रहना असह्य हो जाता है और चुपके से मन उस को छोड़ कर अन्य विषय पर चला जाता है और वह ऐसा असावधान अपने को पाता है कि मन का नियत विषय से दूसरी ओर चला जाना उस को उस समय ज्ञान नहीं पड़ता है किन्तु कुछ काल के पश्चात् ज्ञान पड़ता है। वह यह भी देखता है कि उस के मन द्वारा

आवश्यक बातों का सोचना उस से बहुत कम होता है और विशेष कर के मन में अनावश्यक बातें और दूसरों का क्षुद्र भावनाओं के प्रभाव आया करते हैं जो प्रायः व्यर्थ हो नहीं बरु हानि कारक हैं । वह अपने मन को धर्मशाला के तुल्य पाता है जहां व्यर्थ संकल्प चिंता और दूसरे की भावना रूप यात्री आते हैं, ठहरते हैं, और चले जाते हैं जिस से न उस का और न किसी दूसरे का कोई उपकार होता, किन्तु उस के द्वारा उस की मानसिक शक्ति और समय व्यर्थ नष्ट होते हैं। अतएव साधक को चाहिये कि अपने चित्त पर सतत ऐसी सावधानी रक्खें और चेष्टा करें कि कोई दुष्टभावना, अशुभ संकल्प और कुत्सित विषय भावना उन के मन में नहीं आने पावे, यदि आवे तो आतेही बाहर कर दिया जाय, उसको ठहरने का स्थान नहीं दिया जाय, और मन आवश्यक, उत्तम और गम्भीर विषयों के सोचने में लगाया जाय और उन्हीं में मन एकाग्र रखने की चेष्टा की जाय। पहले मन में अनावश्यक भावनाओं को नहीं आने देने के लिये आवश्यक और गंभीर विषयों के सोचने में चित्त को सतत लगाये रहने का अभ्यास करना चाहिये, क्योंकि चित्त को आवश्यक और उत्तम विषयों के सोचने में एकाग्रता के साथ रखने का अभ्यास करने से अनावश्यक भावनाओं का हठात् आजाना और आने पर फिर शीघ्र नहीं जाने का स्वभाव जाता रहेगा।

प्रतिदिन ऐसी पुस्तक का पाठ करना चाहिये जिस में गम्भीर आत्मतत्त्व का विषय अथवा ईश्वर का सामर्थ्य और अवतारों की लीला का वर्णन हो और एकाग्रता के साथ केवल उस का पाठही नहीं करना चाहिये किंतु उस के अर्थों को भी विचारना चाहिये और उन पर ध्यान रखना चाहिये। मन को एकाग्र करके नियत समय पर नियत कर्मों को करने से भी मननिग्रह में सहायता मिलती है जैसा कि प्रति दिन एक ही नियत समय पर मन के निग्रह का अभ्यास ध्यानादि द्वारा करना। गीता का वचन है—

अभ्यासेन तु कौन्तय ! वैराग्येण च गृह्यते ॥३५॥

अध्याय ६।

मन का निग्रह अभ्यास और वैराग्य द्वारा होता है। पातंजल योगसूत्र में भी लिखा है—

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः॥

अभ्यास और वैराग्य से मन का निरोध होता है। अभ्यास का वर्णन गीता में यों है—

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥२६॥

अध्याय ६।

जहां जहां चंचल और अस्थिर मन (ध्येय को छोड़ के) जावे, वहां वहां से रोक के वह (साधक) उस को वश में कर के फिर आत्मा (ध्येय) में लगावे। यह भी आवश्यक है कि ध्येय का ध्यान एकाग्रता के लिए हृदय में किया जाय क्यों कि हृदय में करने से विशेष लाभ होगा–कहा है:—यतो यतो निःसरति मनः कामहतं भ्रमत्। ततस्तत उपाहृत्य हृदि रुन्ध्याच्छनैर्बुधः॥ ३३ एवमभ्यसतश्चित्तं कालेनाल्पीयसा यतेः। अनिशं तस्य निर्वाणं यात्यनिंधनवह्निवत् ३४ भागवत, स्कंध ७ अ० १५ विषयासक्त मन जब २ ध्येय को छोड़ कर अन्यत्र चला जाय तब २ वहां से उस को लौटा कर बुद्धिमान धीरे २ हृदय में उस को स्थापन करे ३३ इस प्रकार निरन्तर अभ्यास करते हुए साधक का चित्त थोड़े ही काल में काष्ठरहित अग्नि की भांति शान्त होजाता है ३४ ध्येय से मन जब २ अलग जाय तब तब उस को वहां से हटा के फिर ध्येय में लगाना और उसी में उस के लगे रहने का यत्न करना इसी को अभ्यास कहते हैं और केवल ऐसाही करने से मन एकाग्र होता है अन्य किसी उपाय से नहीं। मन को सदा एकाग्र हो रखने की चेष्टा करनी चाहिये, जब कोई काम किया जाय तो मन को उसी में एकाग्र रखना चाहिये दूसरी ओर नहीं जाने देना चाहिये, यदि जाय तो शीघ्र लौटा कर फिर उसी काम में एकाग्र रखनेका यत्न करना चाहिये। ऐसा नहीं कि भोजन के समय व्यर्थ सोने की बात सोचना, स्नान के समय व्यर्थ यात्रा की बात सोचना, किसी पुस्तक के पढ़ते समय इधर पढ़ते भी रहना और उधर रमन में पुस्तक के विषय से अतिरिक्त अन्य बातों को सोचते रहना और किसी की बातों के सुनने में लगे रहने पर उन के सुनने में चित्त को एकाग्र न रख किसी दूसरी बात के सोचने में प्रवृत्त होना, ऐ

सब विक्षेप हैं किंतु साधक को चाहिए कि जिस काम के करने में जिस समय प्रवृत्त हों उसी काम में चित्त को पूरा एकाग्र रखे * । सब कामों के करते समय ऐसी एकाग्रता का अभ्यास किये बिना एकाग्रशक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती, और उस के अभ्यास से मानसिक और आत्मिक उन्नति के अतिरिक्त सांसारिक कामों में भी लाभ पहुंचेगा। जो काम चंचल मन से दो घंटे में अच्छी तरह सम्पादन न होगा वह एकाग्र और शान्त मन से चौथाई घंटे में अच्छी तरह हो जायगा। किंतु यदि कोई ऐसा समझे कि केवल प्रात और संध्याकाल एक दो घंटा तक मन को एकाग्र और शुद्ध करने का अभ्यास करने ही से एकाग्रता और शुद्धि प्राप्त होगी सो सर्वथा भूल है, क्योंकि उस नियत काल को छोड़ के अन्य समय में एकाग्र और शुद्ध रखने के लिये मन के ऊपर सावधानी नहीं रखने से जो कुछ एकाग्रता और विक्षेपनाश की शक्ति उतने समय के अभ्यास से प्राप्ति होगी वह अन्य समयों में मन के चंचल रहने से जाती रहेगी, और परिणाम यह होगा कि चाहे कितनेही दिन तक अभ्यास किया जाय किन्तु कोई विशेष फल प्राप्त न होगा।

जब कोई काम न हो तौ भी मन से असावधान नहीं रहना चाहिये, किंतु मन को किसी आवश्यक विषय के सोचने में लगाये रहना चाहिये अथवा ईश्वरस्मरण, नामजप, ईश्वरकीर्तिचिंतन

---

* भागवत पुराण में कहा है कि एक बढ़ई किसी रास्ते पर बैठा हुआ ऐसी एकाग्रता के साथ लकड़ी का काम करता था कि उस रास्ते से एक राजा की बृहती सेना चली गई किन्तु उस के एकाग्रता के साथ अपने काम करने में लगे रहने के कारण उस को सेना के जाने का कुछ भी ज्ञान न हुआ। दत्तात्रेय जी ने ऐसा ज्ञान उस को अपना एक गुरु बनाया अर्थात् प्रत्येक कामको ऐसी पूरी एकाग्रता के साथ करना चाहिये जिस से उस के सिवाय दूसरे किसी का ज्ञान उस समय न हो, यह उस से सीखा। बोध्य ऋषि ने छ गुरु में से एक गुरु बाण बनानेवाले को किया जिस से यह उपदेश सीखा :—

इषुकारो नरः कश्चिदिषावासक्तमानसः ।
समीपेनापि गच्छन्तं राजानं नावबुद्धवान् ॥ १२॥

महाभारत शान्तिपर्व अध्याय १७८ ।

कोई एक तीर बनाने वाला तीर बनाने में ऐसा एकाग्रचित्त था कि पास से जाते हुए राजा को नहीं जाना (देखा) ।

आदि में लगाना चाहिये, कदापि मन को इधर उधर चंचल भाव से अनावश्यक बातों के सोचने में नहीं लगने देना चाहिये। विशेष कर परमार्थ की चिन्ता और उत्तम उपकारी भावना के सोचने में चित्त लगाना चाहिये जिस से सूक्ष्म जगत द्वारा संसार में उस का प्रभाव फैल के दूसरों का भी उपकार होगा। साधक को अपने मन के ऊपर स्वतंत्र, प्रभावशाली और पूरा एकेला ही मालिक होना चाहिये; जिस आवश्यक भावना को चाहे उसी को मन में आने दे अन्य को नहीं, ऐसा नहीं कि अनावश्यक इधर उधर की भावनायें नहीं चाहने पर भी आती रहें। मन के ऊपर सतत ऐसी सावधानी रखनी अत्यन्तावश्यक है जिस में मन सदा एकाग्र रहे, दुष्ट और अनावश्यक भावना न आवे, आवे तो रहने न पावे और मन उत्तम आवश्यक बातों को एकाग्र रूप से सोचने में लगा रहे। अभ्यासयोगी के लिये आवश्यक है कि सात्विक और शुद्ध भोजन कियाजाय और सब क्रियाकलाप उपयुक्त हो।

सत असत के विचार द्वारा नाशवान संसार के पदार्थ में आसक्ति त्यागना और कर्त्तव्य पालन के लिये जितना आवश्यक है उतने ही से प्रयोजन रखना और उतने में भी आसक्ति न रखनी, और जीवात्मा के अज अनादि और सनातन होने के ज्ञानद्वारा केवल एक देह की सांसारिक घटनाओं में 'यत्परोनास्ति' भाव से लिप्त' न हो जाना वैराग्य * है। वैराग्यवान को केवल सत में चित्त को स्थित रखना चाहिये जिस के कारण सुख दुःख दोनों में समान और शान्त रहना चाहिये। संसार की नाना प्रकार के पदार्थ और घटनाओं में किंचित् भी आसक्ति न रख कर और उनसे क्षुभित न होकर सतत चित्त को समभाव में रखने का अभ्यास करने से वैराग्य प्राप्त होता है। नाना प्रकार के मायिक पदार्थ की भावना चित्त में आके विक्षेप करती है जो विषयों में आसक्ति और उन को चाह रखने का परिणाम है, अतएव वैराग्य द्वारा जब उन को आसक्ति और चाह त्याग दिये जायंगे तो अवश्य उन विक्षेपकारी भावनाओं का आना स्वतः रुक जायगा।

---

*पूर्ण वैराग्य विवेक की प्राप्ति के पश्चात् आत्मयोग के साधक को प्राप्त होता है।

मन का निग्रह और शुद्ध करना अत्यन्तावश्यक है और साधना की यह मुख्य सीढ़ी है। मन ही ईश्वर प्राप्ति के लिये सीढ़ी है।

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा
सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः।
हृदामनीशो मनसाभिक्लृप्तो
य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥१३॥

श्वेताश्वतरोपनिषद् अध्याय-३।

अंगठा समान पुरुष जो अन्तरात्मा है वह सबों के हृदय में सदा बैठा रहता है, मन द्वारा, हृदय में मन को स्थापनद्वारा वह प्रकाश होता है; जिन को वह प्रत्यक्ष होता है वे अमर हो जाते हैं *। और उसी के अ० ४ मंत्र १७ और कठोपनिषत् अध्याय २ वल्ली ६ मंत्र ७ में भी यही भाव है। और

न सन्दृशे तिष्ठति रूपमस्य, न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्। हृदा हृदिस्थं मनसा य एनमेवं विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥२०॥

श्वेताश्वतरोपनिषद् अ० ४

उस का स्वरूप दृष्टि का विषय नहीं है, कोई मनुष्य चक्षु से उस को नहीं देखता है। हृदय में टिका हुआ वह हृदय से और मन से (देखाजाता है)। जिन ने उसे प्रत्यक्ष किया है वे अमर हो जाते हैं। और

---

* चित्तमेव हि संसारं तत्प्रयत्नेन शोधयेत्।
यच्चित्तस्तन्मयो भवति गुह्यमेतत् सनातनम्॥
समासक्तं यथा चित्तं जन्तोर्विषयगोचरे।
यद्येवं ब्रह्मणि स्यात्तत् को न मुच्येत बन्धनात्॥
लयविक्षेपरहितं मनः कृत्वा सुनिश्चलं।
यदा यात्यमनीभावं तदा तत् परमं पदम्॥

मैत्री उपनिषद्।

यदेतद्गच्छतीव च मनोऽनेन चैतदुपस्मरति।

केनोपनिषत् ३० । ५ ५ चतुर्थ खण्ड ।

मनही ब्रह्म के समीप जाता है और उसी के द्वारा जब तब मनुष्य अपने को ब्रह्म का स्मरण दिलाता है। और

मनसैवेदमाप्तव्यम् ॥

कठोपनिषत् २ । ४ । ११ ।

ब्रह्म केवल मनही द्वारा प्राप्त होता है। एवं

यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तमाहुः परमां गतिम् ॥
तावन्मनो निरोद्धव्यं हृदि यावत् क्षयंगतम्।
एतज्ज्ञानं च मोक्षञ्च शेषान्येग्रन्थविस्तराः

मैत्री उपनिषद।

जब पांचो ज्ञानेन्द्रिय मन के साथ रहें और बुद्धि चेष्टा न करे उसी को परमगति कहते हैं। जबतक हृदय में क्षय न हो जाय तबतक मन का निरोध करना चाहिये। यही ज्ञान है, यही मोक्ष है शेष केवल ग्रंथविस्तार है। इन बचनों में मन को हृदय में लय करने का उपदेश है जिस से सिद्ध होता है कि मन द्वारा हृदय ही में एकाग्रता पूर्वक धारणा ध्यान करना चाहिये और इंद्रियों को हृदयस्थ मन में लय करना * चाहिये जिस लय के कारण इंद्रियां रजोगुण भाव को त्याग कर साम्यावस्था में होजायंगी और तब उनका एकत्व होजायगा।

चित्त ही संसार है यत्न करके उसे शोधे। जो चिंतन करता है उसी में तन्मय हो जाता है यही सनातन गुह्य है। जन्तुओं का चित्त जैसा विषयों के गुरुत्व में समासक्त होता है यदि ऐसा ब्रह्म में होवे तो कौन बंधन से न छूटे। लय और विक्षेप से रहित मन को निश्चल करके जब अमनीभाव होता है तब उस परमपद को प्राप्त होता है।

* एवंहवै तत्सर्वं परे देवे मनस्येकी भवति। तेन तर्ह्येष पुरुषो न शृणोति न पश्यति, न जिघ्रति, न रसयते, न स्पृशते, नाभिवदते नादत्ते, न विसृजते नेयायते, स्वपतीत्याचक्षते

मलिन, चंचल और कामासक्त मन से ईश्वर प्राप्त नहीं हो सकते किन्तु शुद्ध, शांत और कामनारहित मन जब हृदय में इन्द्रिय से पृथक हो ध्यानावस्था में प्रवेश करता है तब वह मन ईश्वर की ओर यात्रा करने योग्य होता है। जहां कहीं ऐसा लिखा है कि मन से ईश्वर नहीं प्राप्त होते वहां पूर्वलक्षण युक्त कामासक्त मन से तात्पर्य्य है। मन शुद्ध और शांत और भक्ति पूरित होने से दैवीप्रकृति में संलग्न होता है जो ईश्वर का प्रकाश है और उन में युक्त करनेवाली है।

मनो हि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धञ्चाशुद्धमेव च ।
अशुद्धं काम सम्पर्कात् शुद्धं कामविवर्जितम् ॥
मनएव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।
बन्धाय विषयासङ्गि मोक्षो निर्विषयं स्मृतम् ।

मैत्री उपनिषद् ।

मन दो प्रकार का है, शुद्ध और अशुद्ध। मन काम संसर्ग से अशुद्ध होता है और विगत काम होने से शुद्ध होता है। मनुष्यों का मन ही बन्ध और मोक्ष का कारण है, विषय के संसर्ग से बन्ध और निर्विषय से मोक्ष होता है।

गुरु द्वारा दीक्षित होने पर साधक को मन की विशेष शक्तियां की प्राप्ति होती है, तब वह केवल मन के संकल्प से किसी को नाश कर सकता है, किसी रोगी को आरोग्य कर सकता है, किसी मनुष्य-समूह से जैसा चाहे वैसा करवा सकता है, कितने लोगों को एक मायिक पदार्थ निर्माण करके भ्रम में डाल सकता है इत्यादि २। अतएव यह अत्यन्तावश्यक है कि ऐसी मानसिक शक्तियां प्राप्ति करने के प्रथम साधक को पूर्ण वैराग्यवान होना चाहिये, सर्वप्रिय और हितकारी होना चाहिये, पूरा क्षमावान होना चाहिये और मन इन्द्रिय पूर्ण रूप से शुद्ध हो उस के वश में होकर जाना चाहिये, नहीं

वैसे ही यह सब (इन्द्रियादि समूह) परमदेव मन में एकत्व को प्राप्त होते हैं। इस कारण तब यह पुरुष न सुनता है, न देखता है, न सूंघता है, न रस लेता है, न स्पर्श करता है, न बोलता है, और न ग्रहण करता है न आनन्द लेता है, न अंग को हिलाता है और न चलता है, ऐसा कहा जाता है कि वह सोता है।

तो इन शक्तियों को पाकर यदि उन को वह अपने स्वार्थसाधन में लगावेगा तो उपकार के बदले अपनी बड़ी क्षति करेगा।

अभ्यास और वैराग्य द्वारा मन का निग्रह, शान्ति, और शुद्धि अवश्य होगी, क्योंकि जब श्रीकृष्ण भगवान ने कहा है कि इन से होंगी तो समझना चाहिये कि अवश्य होंगी, उन का वाक्य अन्यथा नहीं हो सकता, इस निमित्त अभ्यास में प्रवृत्त होने पर बहुत काल में भी किंचित कृतकार्य्यता नहीं हो तौ भी हतोत्साह न होना चाहिये किन्तु निरंतर यत्न करते ही रहना चाहिये, कभी न कभी अवश्य सफलता की प्राप्ति होगी। आजकल भी उपयुक्त रीति से अभ्यास वैराग्य का उपयोग करने से साधकों को मन का निग्रह हो गया है।

पञ्चेन्द्रिय के शब्दादि विषयों से मन को पृथक् करना प्रत्याहार है। जाबालदर्शनोपनिषत् का वचन है—

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेषु स्वभावतः।
बलादाहरणं तेषां प्रत्याहार स्स उच्यते॥
अथवा नित्यकर्माणि ब्रह्माऽऽराधन बुद्धितः।
काम्यानि च तथा कुर्यात्प्रत्याहार स्स उच्यते॥

इन्द्रियां जो अपने २ विषयों में स्वभाव ही से रत रहती हैं उन को यत्न कर के विषयों से हटाना प्रत्याहार है। और भी नित्यकर्मों को और काम्यकर्मों को ईश्वर की आराधना रूप कर्म जान (ईश्वर के प्रिय निमित्त कर्म जान) करना भी प्रत्याहार है। एक एक कर के क्रमशः इन्द्रिय के विषयों से चित्त को हटाने का यत्न करना चाहिये। जैसा नेत्र के विषय से मन को प्रत्याहार करने के लिए साधक नेत्र के विषय से अन्य किसी बाह्य अथवा आंतरिक पदार्थ में चित्त को एकाग्र करेगा और नेत्र के खुले रहने पर भी चित्त को नेत्र का विषय जो कोई रूप होगा, उस की ओर जाने नहीं देने का यत्न करेगा और मनको ध्येय ही में एकाग्र रखेगा जिस का परिणाम अभ्यास के परिपक्व होने पर यह होगा कि चित्त के नेत्र इन्द्रिय से पृथक् करने की प्रत्याहारशक्ति उस को प्राप्त हो जायगी और तब से जब चाहे तब वह इस प्रकार चित्त

को नेत्र से पृथक् कर सकेगा ऐसा कि नेत्र के खुले रहने पर भी न कुछ देखेगा और न उसके चित्त में किसी रूप का प्रभाव पड़ेगा। ऐसे ही अन्य चार इन्द्रियों से चित्त को पृथक् करने की शक्ति प्राप्त करेगा और तब जब चाहे तब कान बिना बन्द किये शब्द को नहीं सुनेगा, भोज्यपदार्थों का जिह्वा से स्पर्श होने पर भी उस का स्वाद नहीं बोध करेगा, नासिका से किसी पदार्थ के संस्पर्श होने पर भी उस का गंध ज्ञान नहीं पड़ेगा और ऐसे ही किसी पदार्थ से संस्पर्श होने पर भी उस पदार्थ का संस्पर्श गुण (जैसा कि कोमलता, कठिनता, उष्णता, शीतलता इत्यादि मालूम नहीं, होगा। कभी २ जब मनुष्य किसी ऐसी बात के सोचने में लग-जाता है जिस में उस की पूर्ण प्रीति है अथवा जो अत्यन्तावश्यक है तब कभी २ मन उस में ऐसा एकाग्र हो जाता है कि उस समय अत्यन्त समीप में भी हो के यदि उसे कोई कुछ कहे तौभी वह उस को कुछ नहीं समझता, किंचित काल के पश्चात् चित्त की एकाग्रता छुटने पर कहता है कि 'क्या कहा, फिर कहो, मन दूसरी ओर (कर्ण से पृथक्) रहने के कारण कुछ नहीं समझा"। कभी २ ऐसी अवस्था में शब्द कुछ भी नहीं सुनाई देता। यह भी आकस्मिक प्रत्याहार है किन्तु ऐसी एकाग्रता और प्रत्याहार जब चाहे तब ही हो ऐसी शक्ति साधारण लोगों में नहीं है और यह केवल अभ्यास से ही प्राप्त होता है।

मन का पूर्ण और तीव्र ऐसी अन्तर्मुख एकाग्रता जब कि मन बाह्य पदार्थों से और इन्द्रिय अपने विषयों से पूर्णतः अलग होजाय उस को धारणा कहते हैं जो प्रत्याहार के चिरकाल के अभ्यास से प्राप्त होता है। धारणा में मन स्वतः बिना प्रयत्न किये एकाग्र रहता है, विषयों से चलायमान नहीं होता। जैसे कितनाहू प्रबल और प्रचंड वायु के बहने पर भी पर्वत ज्यों का त्यों स्थिर रहता है वैसे ही धारणा की अवस्था में चित्त स्वतः स्थिर रहता है। धारणाकाल में बाह्य विषय चित्त को अपनी ओर नहीं खींच सकते तथापि अंतर से किसी भावना का स्फुरण हो सकता है जिस के दूर करने की चेष्टा तब की जाती है।

दूसरा प्रकार धारणा का यह है। पातञ्जल सूत्र में लिखा है:—देश बन्ध चित्तस्य धारणा। शरीर के अंतरस्थ किसी प्रधान

स्थान में चित्त को बांधना धारणा है। राज योग में यम नियम आसन के अभ्यास के बाद सीधे धारणा ही से मनसंयम के अभ्यास का प्रारम्भ हो सकता है, और सफलता से होना देखा गया है। इसमें धारणा के साथ ध्यान की प्राप्ति का भी अभ्यास एक संग किया जाता है। शरीर के अंतरस्थ किसी चक्र अथवा विशेष स्थल पर चित्त को संनिवेशित कर और वहां उसे कोई अवलम्ब देकर उसी पर एकाग्र किया जाता है, वहां से अन्यत्र चित्त नहीं जाने दिया जाता और यदि जाता तो फिर वहीं लाकर संलग्न किया जाता है। भावना भी उसी स्थलविशेष पर उस अवलम्ब ही की कीजाती है और अन्य कोई भावना आने नहीं दी जाती और यदि आती तो दूर कर दी जाती और ईच्छित भावना ही पर चित्त स्थिर किया जाता। धारणा के लिये सब से उत्तम स्थान हृदय है। इसी अंतरस्थ हृदयाकाश में मन को संलग्न कर धारणा करना चाहिए अर्थात् चित्त को उस में ऐसा बांध देना चाहिए कि दूसरी जगह नहीं जाय। किन्तु सफलता तभी प्राप्त होगी जब कि धारणा के साथ यथार्थ ध्यान की प्राप्ति का भी अभ्यास किया जाय। अभ्यासयोग के लिए यह काफी है कि जिस पर चित्त स्वभावतः आकर्षित हो उसी का परमात्मा का अंश उस को मान ध्यान करे और इस में एकाग्रता शीघ्र हो जायगी। पातंजल का भी वचन है। यथाभिमत-ध्यानाद्वा। जो प्रिय मालूम पड़े अर्थात् जो चित्त को स्वभावतः आकर्षित करे और सुन्दर मालूम हो उसी का ध्यान करे। उत्तम प्रकार है कि हृदय देश में चित्त को धारण करके वहां अपने इष्टदेवकी चित्ता-कर्षिणी रमणीय मूर्ति का ध्यान किया जाय और उसी मूर्ति पर हृदयाकाश में मन को बांधा जाय और सिवाय ध्येय के कोई भावना अथवा संकल्प अथवा कोई अन्य रूप अथवा अन्य नाम नहीं आने दियेजायँ और आवें तो शीघ्र अलग कर दिए जायँ और उस स्थान विशेष में केवल ध्येय ही पर चित्त अटका रहे। भागवत-पुराण का वचन है:—

रजस्तमोभ्यामाक्षिप्तं विमूढं मन आत्मनः। यच्छेद्धारणया धीरो हंति यावत्कृतं मलम् २१। यतः संधार्यमाणाया योगिनो भक्तिलक्षणः। आशु संपद्यते योग आश्रयं भद्रमीक्षतः ११ स्कंध २ अ० १

केचित्स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे प्रादेशमात्रं पुरुषं वसंतम् ।
चतुर्भुजंकञ्जरथांग शंखगदाधरं धारणयास्मरन्ति ८ स्कंध २ अ० २

यदि विक्षिप्त मन रज तमगुण से चलायमान हो तो विवेकी धारणा से उसको फिर ईश्वर में लगावे, क्योंकि धारणा द्वारा मन का रज तम गुण का दोष नाश होता है। २० इस धारणाके अभ्यास से योगी को भगवान पूर्ण सुख का स्थान प्रतीत होने लगते हैं और शीघ्र ही ईश्वर में भक्ति होने के लक्षण उपजते हैं। २१ हे राजन्! कितने ही योगी अपने देहके भीतर हृदयाकाश में रहनेवाले प्रादेश (दशअंगुल) मात्र रूपधारी पुरुष की धारणा से स्मरण करते हैं जो चार भुजाधारी हैं और प्रत्येक भुजाओं में कमल, चक्र शंख और गदा की धारणा किए हुए हैं।

योग की सिद्धि भी श्रीभगवान की कृपा ही से होती है और वही यथार्थ योग है जिसके उद्देश्य और भी प्रधान साधन श्रीभगवान हैं। ईश्वरप्रणिधान योग का मुख्य अंग है। अतएव अभ्यास योगी को चाहिए कि भक्ति पूर्वक धारणा के साथ २ श्रीभगवान की मनोहर मूर्ति का ध्यान करें और उसके साथ २ नाम का जप और स्मरण भी करें। इस प्रकार अभ्यास करते २ जब धारणा स्थिर हो जायगी, चित्त अचल हो जायगा और सिवाय ध्येय के जिसपर चित्त की धारणा की गई है अन्य कोई भी भावना की स्फूर्ति नहीं होगी तब ध्यान की ठीक अवस्था प्राप्त होती है, इस के पहिले ध्यान का केवल अभ्यास किया जाना चाहिए।

ध्यान धारणा के ऐसी परिपक्व अवस्था है जबकि कोई आंतरिक भावना भी मन में नहीं उठती और चित ध्येय से थोड़ा भी चलायमान नहीं होता और ऐसा उस में संलग्न हो जाता है मानो तन्मय होगया। लिखा है।

प्रत्ययैकता ध्यानम् । योगसूत्र ।

जब धारणा क्षेत्र में एकमात्र ध्येय का अविच्छिन्न प्रवाह के और कुछ भी उदित नहीं होता उसी अवस्था को ध्यान कहते हैं। और भी —

ध्येये सक्तं मनोयस्य ध्येयमेवानुपश्यति।
नान्यं पदार्थं जानाति ध्यानमेतत् प्रकीर्तितम्॥

ध्येय में मन ऐसा संलग्न होजाय कि केवल ध्येय को ही देखे और सिवाय उस के दूसरा कुछ भी नहीं जाने ऐसी अवस्था को ध्यान कहते हैं।

ऐसे ध्यान को समाधि कहते हैं जिस में ध्याता, ध्येय और ध्यान तीनों एक होजाते अर्थात् जब ध्याता को ऐसा ज्ञान नहीं रहता कि मैं ध्येय का ध्यान करता हूं, तीनों एक होके केवल एक ध्येय ही रहजाता।

समाधिः समतावस्था जीवात्मपरमात्मनोः।
ब्रह्मण्येव स्थिति र्वा सा समाधिः प्रत्यगात्मनः॥२॥

योगी याज्ञवल्क्य अध्याय १० ।

जीवात्मा और परमात्मा की समतावस्था (एक समान हो जाना) का नाम समाधि है, जब तक जीवात्मा प्रत्यक्ष भाव से परमात्मा में टिकाहुआ रहता है उसी अवस्था को समाधि कहते हैं। यथार्थ में निर्विकल्प समाधि क्या है यह अनुभव करने ही से ज्ञात होगा, शब्द से इस का पूरा वर्णन हो नहीं सकता। साधारण सुषुप्ति की भांति अचैतन्य और संज्ञाशून्य हो जाना जब कि चित्त की वृत्तियों का स्फुरण होना रुका रहता है यह समाधि नहीं है। यथार्थ चैतन्य समाधि की प्राप्ति सद्गुरु द्वारा चतुर्थ दीक्षा के प्राप्त होने पर होता हैं जिस का वर्णन दीक्षा प्रकरण में किया जायगा। यथार्थ चैतन्य समाधि के प्राप्त होने पर ऐसा कोई स्थान इस भूमंडल में नहीं रहता जहां का ज्ञान समाधिनिष्ठ को न हो अर्थात् जहां उसको संज्ञा न जासके। वह सर्वदा तुरीयावस्था का अनुभव करता रहता है और साथ साथ उस के उसी ही समय में संसार का कार्य्य भी करसकता है। शारीरिक क्रिया द्वारा अचैतन्य अवस्था में होजाने को जो आज कल लोग समाधि कहते हैं और जिस अवस्था में हो के कितने दिनों तक आज कल बन्द गुफा में रह सकते हैं यह यथार्थ समाधि

नहीं है। यह जड़ता की समाधि है और इस से कोई लाभ नहीं होता।

कर्मयोग द्वारा आचरण और चित्त शुद्ध करने और स्वार्थ-त्यागने पर और अभ्यासयोग द्वारा मन को शांत और समाहित करने से साधक ज्ञानयोग का अधिकारी होता है जिस ज्ञानयोग के बिना ईश्वर में शुक करनेवाली भक्ति की प्राप्ति नहीं होती, अतएव अब ज्ञानयोगका वर्णन किया जायगा ॥ लिखा है:—

कर्मयोगं विना ज्ञानं कस्यचिन्नेह दृश्यते। मत्स्य पुराण अं० ५२

क्रियायोगं विना नृणां ज्ञानयोगो न सिध्यति। ३२

बृहन्नारदीय पुराण अं० ३१।

विना कर्मयोग के सम्पादन के किसी को ज्ञान नहीं होते देखा गया है। विना क्रियायोग के मनुष्य को ज्ञानयोग की लब्धि नहीं होती है।

ज्ञानयोग।

ज्ञानमार्ग अथवा ज्ञानयोग का उद्देश्य बुद्धि के विचक्षण, उसकी उन्नत्ति और शुद्ध करना और भी आत्मा का परिचय लाभ करना है। यथार्थ ज्ञानी सुख दुःख, हानि लाभ, जन्म मरण इत्यादि द्वंद्वों से छुट जाता है और सदा समुद्रवत् परिपूर्ण और आकाशवत् निर्लेप रह कर सर्वदा प्रसन्न रहता है। ज्ञानमार्ग भी अत्यन्त कठिन है और अपवित्र हृदय और समदमादि विहीन लोगों के लिये आपत्तियों से भरा हुआ है, इस में भ्रम और मार्गच्युत होने की अधिक सम्भावना है, इस के अनुयायी की बुद्धि बहुत विचक्षण और तीव्र और भी अहंकार रहित होनी चाहिये। इस में अहंकार दमन के नाम में यथार्थ में अन्यरूप में अहंकार की वृद्धि होने की सम्भावना है जिस से साधक का पतन होता है। जब साधक पहिले निष्काम परोपकारी कर्म (कर्मयोग) द्वारा चित्त की शुद्धि करता है और सब स्वार्थ कामनाओं का त्याग करता है और अभ्यासयोगद्वारा चित्त की चंचलता, विक्षेपता और अशान्तिपना का नाश करता है, तब ही वह ज्ञानयोग के साधन-चतुष्टय की प्राप्ति करने योग्य होता है, अन्यथा नहीं। साधन-चतुष्टय ये हैं–१ विवेक २ वैराग्य ३ शमादि षट् सम्पत्ति ४ मुमुक्षुता।

आनन्द का अन्वेषण करना मनुष्यों के लिये स्वाभाविक है क्योंकि आत्मा आनन्दरूप है, अतएव आनन्द का खोजना मानो आत्मा का (अपने आप को) खोजना है। मनुष्य इस आनन्द को पहिले सांसारिक पदार्थों में खोजता है * जिस में न पाकर और खोजते २ थक कर फिर आंतरिक मानसिक सुख

* विषय भोग से जो सुख प्राप्त होता है वह आनन्द नहीं है। जब किसी इच्छित पदार्थ की प्राप्ति से मन किंचित काल के लिये एकाग्र और स्थिर हो जाता है तब उस के कारण आत्मा का आनन्द जो अंतर में है उस के क्षुद्रातिक्षुद्र अंश की प्राप्ति किंचित काल के लिये उसे होती है जिस को मनुष्य अज्ञानता के कारण उस पदार्थ में से निकला समझता है। यदि किसी व्याधि अथवा शोक के कारण चित्त का भाव ऐसा व्यग्र हो जाता है कि स्थिर और एकाग्र नहीं हो सकता तो

में आनन्द की खोज करता है जो सुख उत्तम २ ग्रन्थों के पढ़ने और उनके विषयों के विचारने आदि उच्च मानसिक कर्म से होता है। यह सुख विषय जनित सुख से कहीं उत्तम है, क्योंकि विषय भोग के सुख के अन्त में प्रायः दुःख होता है और उस सुख का विषय भी अल्प है। प्रायः एक वस्तु से एक ही पुरुष सुखलाभ कर सकता है, दूसरा नहीं, जैसा कि किसी भोजन के पदार्थ को खाने से वह पदार्थ ही नष्ट हो जाता और फिर दूसरे को काम नहीं आ सकता। स्वादिष्ट वस्तु को अधिक खाने से प्रायः व्याधि होती है और नीशैली वस्तु आदि के विषयभोग से जो पश्चात् क्लेश होता है वह प्रसिद्ध ही है। ऐसाही दूसरे विषयभोग के दुरुपयोग से बूरा परिणाम होता है। मानसिक सुख का विषय ऐसा है कि एक वस्तु से भी अनेक मनुष्य सुख प्राप्त कर सकता है और किसी का सुख दूसरे के उसी विषय से सुख पाने के कारण न्यून नहीं होता जैसा कि एक ही पुस्तक को अनेक पुरुष पढ़के सब कोई उस से आनन्द प्राप्त कर सकता है। दूसरे प्रकार के मानसिक आनन्द पवित्र सुन्दरता के प्रति मनको आवेश करने से होता है जो ईश्वरप्रेम को प्राप्ति में विशेष सहायक है। जब मानसिक आनन्द से भी जिज्ञासु को पूर्ण शान्ति नहीं मिलती है और उसको भी परिवर्तन शील पाता है तब आनन्द के यथार्थ रूप और मूल को जानने के लिये क्या सत्? क्या असत्? क्या आत्मा क्या अनात्मा? क्या माया? और क्या सत् चित आनन्द है? इन का विचार और अन्वेषण करने लगता है और परिपक्व विचार होने पर निश्चय करता है कि जितने वाह्य पदार्थ हैं वे माया के कार्य्य हैं अतएव आत्मा की दृष्टि से असत् हैं, केवल एक आत्मा ही जो सबों के अंतर है वही सत्चित आनन्द है। तब से वह वाह्य पदार्थ में आनन्द का खोजना छोड़ के आनन्द का मूल जो अंतर में आत्मा है उसी को आनन्दस्वरूप जान उसी को प्राप्ति की चेष्टा करता

ऐसी अवस्था में किसी इच्छित पदार्थ की प्राप्ति न होती, इस से अच्छी तरह प्रगट होता है कि आनन्द लोगों के अंतर में है किसी वाह्य पदार्थ में नहीं है। अतएव वाह्य पदार्थ की प्राप्तिसे जो सुख मिलता है वह क्षणिक है; प्रथम तो वह पदार्थ नाश हो जाता है द्वितीय उस पदार्थ के रहते भी उस से कालान्तर में पूर्व की नाईं सुख प्राप्ति नहीं होती क्योंकि विषयी का चित्त अधिक समय तक एकाग्र और स्थिर नहीं रह सकता।

है, मन के बहिर्मुख वृति को अंतर्मुख करता है, क्योंकि बाह्य में खोजने से आत्मा कहीं नहीं मिलेगा किन्तु अंतर दृष्टि करने से जहां देखिये वहां ही आत्मा पाया जायगा।

कर्म और अभ्यास योग द्वारा चित्तशुद्धि और स्वार्थत्याग और मन के शान्त होने पर धीरे २ विवेकशक्ति उत्पन्न होती है जिस के पश्चात् साधक अपने निश्चय में और भी आचरण में विवेकी होता है। विवेकी विचारता है कि संसार क्या है? वह क्या है? परमार्थ क्या है? परमात्मा क्या है? जीवात्मा क्या है? परमात्मासे और जीवात्मा से क्या सम्बन्ध है? सृष्टि का नियम क्या है? सुख दुःख का क्या कारण है? सांसारिक पदार्थ यथार्थ में सुखदेनेवाले हैं अथवा दुखदेनेवाले इत्यादि। और इन विचारों से जो यथार्थ परिणाम निकलता उस में दृढ़ निश्चय रखता है और उसी निश्चय के अनुसार वर्तता है। विवेकी सब घटनाओं से और विशेष कर उनके परिणाम से ज्ञान (तजरुबा) प्राप्त करता है जिसके कारण वह उस ज्ञान के विरुद्ध कदापि नहीं चलता; जैसा कि जिस कर्म को उस ने अपने में अथवा दूसरों में हानिकारक समझा है उस को फिर वह कभी नहीं करेगा। हम लोग अपने २ नेत्रों के आगे प्रति दिन लोगों को मरते देखते हैं जिस में बालक युवा आदि का कुछ भी विचार नहीं किया जाता, लक्ष्मी को सदा चंचल पाते हैं वह कभी एक स्थान में स्थिर नहीं रहतीं और वाह्य दृष्टि से सुख देने वाली सांसारिक वस्तु को भी नाशवान पाते हैं तौभी हमलोग जन्म भर इन्हीं नाशवान वस्तु की प्राप्ति करने की चेष्टा में लगे रहते हैं मानों कभी संसार का त्यागना नहीं पड़ेगा और न कभी सांसारिक वस्तु हम लोगों को त्यागेगी, ऐसा देखते भी जो हम लोग अंधे हो रहे हैं, जिस को प्रत्यक्ष देखते उस का भी प्रभाव चित्त पर नहीं पड़ता और न कभी इन के विचार में प्रवृत्त होते हैं, यह केवल विवेक नहीं रहने के कारण ही होता है। भर्तृहरिशतक का वचन है—

आदित्यस्य गतागतैरहरहः संक्षीयते जीवितं,
व्यापारैर्बहुकार्य्यभारगुरुभिः कालो न विज्ञायते।

दृष्टा जन्मजराविपत्तिमरणं त्रासश्च नोत्पद्यते,
व
पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत् ॥

सूर्य्य के उदय और अस्त होने से प्रतिदिन आयुर्दा कमती जाती है किन्तु बहुत बड़े काम धंधे में लगे रहने के कारण समय का व्यतीत होना जान नहीं पड़ता, जन्म होता है, वृद्धावस्था आ जाती है, विपत्ति में पड जाते हैं और मृत्यु आ जाती है, इन को देख के भी लोगों को भय नहीं उत्पन्न होता जिस का कारण यह है कि मोहरूपी मदिरा पीके संसार बौड़ाहा हो रहा है। जब तक विवेक नहीं उत्पन्न होता तब तक जीव संसार में फंसा रहता है और सांसारिक पदार्थ उस को मोहित करते रहते हैं, विवेक रूपी चक्षु के खुलने से मायिक पदार्थों के भीतर तक दृष्टि जाती है जिस के कारण उन को वह असत्य जानता और उस में आसक्त न होता। वेदान्त शास्त्र के विषयों को ठीक तरह से विचारने से बुद्धि तीक्ष्ण और शुद्ध हो कर विवेक उत्पन्न होता है जो साधना का प्रथम और मुख्य अंग है, अतएव शास्त्र आलोचना मुख्यतः विवेक प्राप्ति निमित्त है। केवल वेदान्त शास्त्र के पढ़ने से कदापि ज्ञान नहीं हो सकता, शास्त्र के सिद्धान्त को विना विचारे और हृदयङ्गम किए विवेक भी नहीं प्राप्त हो सकता, ज्ञान तो दूर है। विवेक से तात्पर्य्य यही है कि मायिक दृश्य को असत् और माया का कार्य्य जान उन से मोहित न होना किन्तु उनमें भी आत्मा की स्थिति मान उन को आत्मा की दृष्टि से देखना और आत्मा के काम के लिए ही सम्बन्ध रखना और व्यवहार करना।

द्वितीय साधन वैराग्य है। विवेक का परिणाम वैराग्य है। जब सांसारिक वस्तुओं को विवेक द्वारा असत् और नाशवान जाना, तो उन पदार्थों की लालसा अथवा उन में आसक्ति मन में रह नहीं सकती, सत् का विवेक होने से असत् उस के चित्त को अपनी ओर खींच नहीं सकते, उस में किसी सांसारिक वस्तु के निमित्त राग अथवा द्वेष नहीं रहता यही वैराग्य है। वैराग्य होने पर साधक को किसी भी पदार्थ और उस के परिणाम में न आसक्ति रहती और न ममता होती किन्तु उन से वह द्वेष भी नहीं करता। विवेक के कारण सब बाह्य पदार्थों को अनात्मा

असत् जान उन के संयोग-वियोग में विवेकी समान रहता और आनन्द से समय बिताता। दुःख का मूल ममता ही है, क्योंकि सांसारिक पदार्थ नाशवान हैं और उन के वियोग होनेपर ममता के कारण बड़ा दुःख होता है। इस ममता के कारण ही सांसारिक लोग बहुत बड़ा दुःख भोगते हैं। अतएव ममता और आसक्ति के त्यागने ही से साधारण दुःख की बहुत कुछनिवृत्ति होगी। ममता त्याग का यह तात्पर्य्य नहीं है कि दूसरों पर दया न की जाय अथवा अपने कर्तव्यपालन में उदासीनता रहे। दया आवश्यक है और कर्तव्य पालन भी आवश्यक है किन्तु निष्काम भाव से ममत्व को त्यागकर करना चाहिए। संसार यात्रा में वैराग्य से बड़ी सहायता मिलेगी, अतएव सबों को इसका उचित अभ्यास करना चाहिए। इस पूर्ण वैराग्य की अवस्था में साधक को विषयों से चित्त को हटाने की चेष्टा नहीं करनी पड़ती किन्तु वे आप से आप हट जाते और उस के चित्त को कदापि विचलित नहीं कर सकते। सब सांसारिक वस्तुओं की इच्छा वैराग्यवान में नहीं रहने के कारण उन के फलों की भी इच्छा जाती रहती है, अतएव वैराग्यवान तृण से लेके ब्रह्मलोक तक की इच्छा नहीं रखता।

सब प्रकार के अधर्माचरण का मूल कुत्सित वासना और ममता है। नानाप्रकार के सांसारिक विषयों और पदार्थों में आसक्ति और ममता रहने के कारण उन की प्राप्ति के लिए अथवा उन की रक्षा के लिए अथवा उन के वियोग को रोकने के लिए ही लोग धर्म के विरुद्ध भी आचरण करते हैं, क्योंकि धर्म से अधिक प्रिय उन के लिए सांसारिक पदार्थ हैं जिन के फल प्रत्यक्ष में उन को मिलता, किन्तु धर्म के फल प्रत्यक्ष नहीं दीख पडते। किन्तु जब साधक विवेक से समझता है कि सांसारिक पदार्थ माया के कार्य्य होने से असत् हैं और भी उन से यथार्थ सुख कदापि नहीं मिल सकता और उसी कारण उन का नाश अवश्यम्भावी है जो लाख यत्न करने पर भी रुक नहीं सकता और सत् और आनन्द का मूल आत्मा है जिस में स्थिति होने से ही दुःख की निवृत्ति हो सकती है, तब वह सांसारिक पदार्थों से ममता और आसक्ति त्याग करता और उन के यथार्थ मायिक रूप को आत्मा की दृष्टि से देखता, तब ही वह दुःख के फंदे से छुटता। नहीं तो इस संसार

में जितने दुःख और क्लेश देखने में आते हैं वे सब ममता और आसक्ति के कारण हैं और उन से छूटने का उपाय केवल विवेक वैराग्यमात्र है जो प्राणियों का बड़ा मित्र है और इस मित्र का आश्रय सबों को लेना चाहिए, नहीं तो दुःख में अवश्य पड़ना होगा। दुःख पीड़ित और चिंताग्रस्तों के लिए विवेक वैराग्य त्राणकर्ता है और उन लोगों को इस के आश्रय में अवश्य आना चाहिए। लिखा है:—ममताभिमानशून्यो विषयेषु पराङ्मुखः पुरुषः। तिष्ठन्नपि निजसदने न बाध्यते कर्मभिः क्वापि॥ जो पुरुष ममता अभिमान से शून्य है और विषय में आसक्तिहीन है वह गृहमें रहने पर भी कर्मों से बांधा नहीं जाता। इस वैराग्य की प्राप्ति के लिए निरंतर विवेक विचार की आलोचना और आत्मचिंतन की आवश्यकता है। वैराग्यवान होना शुष्कचित्त होना नहीं है। वैराग्य होने पर भी साधक अपने कर्तव्य के पालन से विमुख नहीं होता, जो कर्तव्य उस का परिवार समाज आदि के प्रति है उस को ममता और आसक्ति को त्यागकर अवश्य पालन करता, बल्कि ममतारहित और वैराग्य के होने के कारण चित्त की उत्सुकता और फलाकांक्षा के अभाव से विशेष स्थिर और समाहित होने से वह अपने कर्तव्य का पालन बड़ी उत्तमता से करता है। वैराग्यवान ही निःस्वार्थ दया और प्रेमका अभ्यास कर सकता है, क्योंकि स्वार्थ रहित होने के कारण दूसरों का विशेष उपकार कर सकता है। पूर्ण वैराग्य तो ईश्वर में प्रेम होने से और दीक्षा के पाने पर ही होता है जिस का वर्णन पीछे किया जायगा।

तृतीय साधन शमादि षट् सम्पत्ति है जो छः साधनाओं का एक समूह है और वे छः मन से सम्बन्ध रखते हैं। १ शम २ दम ३ उपरति ४ तितिक्षा ५ श्रद्धा ६ समाधान। जब अभ्यास द्वारा चित्त एकाग्र हो जाता है और आचरण सर्वथा ऐसा शुद्ध हो जाता कि कभी कोई दुष्ट आचरण साधक से नहीं हो सकता, जब विवेक वैराग्य द्वारा मायिक पदार्थ उसे किसी अवस्था में अपनी ओर आसक्त नहीं कर सकते और जब चित्त ऐसा पूर्ण रूप से वश हो जाता कि कभी उस में कोई दुष्ट वासना अथवा संकल्प नहीं आता; तब ही शम की प्राप्ति होनी समझी जाती है। शम प्राप्त होने से साधक समझता

है कि केवल उस के कर्मों ही का प्रभाव लोगों पर नहीं पड़ता किन्तु उस के चित्त में जो भावना उठती है उन से भी दूसरे को हानि लाभ होता है, दुष्ट भावना से दूसरे की हानि होती है और उत्तम भावना से लाभ होता है। ऐसा साधक चित्त पर सदा सावधानी रखता है और आवश्यक और उत्तम भावनाओं को छोड़ के कभी अनावश्यक और दुष्ट भावना अपने चित्त में नहीं आने देता *। मन चित्त को शुद्ध कर वश में रखना और विक्षेपरहित बनाकर शान्त करदेना शम है। वैराग्य के कारण जब अनात्म पदार्थों की आसक्ति जाती रहती जो मल विक्षेप के मुख्य कारण हैं और जब अनात्मभावना के बदले आत्मभावना ही में मन प्रवृत्त रहता और उस के द्वारा समाहित हो जाता, तभी साधक साधन में अग्रसर होने के योग्य होता है। साधनपथ में मन की शुद्धि और निग्रह मुख्य है, क्योंकि विषयासक्त मनही बंधन करता है और समाहित मनही की शक्तिद्वारा इन्द्रियाँ वश में होतीं, और बुद्धि की तीक्ष्णता ही से आत्मतत्व का अनुशीलन और पर्यालोचन हो सकता है। इसी कारण सब साधनाओं में शममुख्य हैं और शमादिषट् सम्पत्ति में प्रथम है। किन्तु शोक है कि आजकल लोग इसकी प्राप्ति के लिये यत्न नहीं करते और समझते हैं कि बिना शम के प्राप्त हुए भी आत्मज्ञान का लाभ होगा जो एकदम भूल है। अभ्यास योग में अभ्यास द्वारा मन का निग्रह कियाजाता है किन्तु उसमें जो न्यूनता रहजाती है उसकी पूर्ति ज्ञानयोग में पूर्ण वैराग्य के अभ्यास से की जाती है। मन जिन २ विषयों पर जाता है उन २ विषयों को असत् जान और उनकी अस्तित्व आत्मा पर निर्भर जान वह सर्वत्र विवेक से आत्मा ही देखता है और इस प्रकार मन को एकाग्र ही नहीं किन्तु उपशम करता है और सांसारिक विषयों से हटाकर आत्मा में संयोजित करता है। ज्ञानयोग के साधक का मन समुद्रवत् परिपूर्ण और स्थिर और आकाशवत् निर्लेप और अग्नि

* साधारण लोग अपने चित्त पर कुछ सावधानी नहीं रखते, दिन भर में जितनी भावनायें उन के चित्त में आती हैं उन में से तीन भाग से अधिक ऐसी रहती हैं जो सर्वथा अनावश्यक और व्यर्थ हैं, अतएव मन से जितने कर्म किये गये उन में से तीन भाग से अधिक व्यर्थ हो गये और उन में जितनी मानसिक शक्ति व्यय हुई वह भी व्यर्थ गई और उस के कारण मन की विक्षेपता और भी बढ़गई।

के समान स्वच्छ रहना चाहिए और विषयों के संयोग वियोग से क्षुभित और विचलित नहीं होना चाहिए। शमप्राप्त साधक मन को वैसीही २ भावनाओं के सोचने में लगावेगा जिस से संसार का उपकार हो, हानि न हो और उस का कर्तव्य पूर्ण हो। ऐसा साधक अपने मन को आत्मा, जीव, माया, परमात्मा, परोपकार और भी अन्य सृष्टि सम्बन्धी गंभीर विषयों के विचारने में विशेष कर लगावेगा और मन को एकाग्र रूप से लगातार गम्भीर विषयों के सोचने में प्रवृत्त करेगा। वह विशेष कर बड़े २ तर्क के विषयों को बिचारा करेगा जिस से चित्त अधिक समय तक उस एक विषय में लगा रहेगा और सूक्ष्म युक्तियों का भी विचार किया करेगा और उसी में मन को ऐसा एकाग्र कर देगा जिस में अन्य किसी ओर नहीं जा सके। ऐसा करने से उस की बुद्धि पवित्र और तीक्ष्ण होगी और इस से विज्ञानमय कोश की उन्नति होगी जो परमावश्यक है। देखो धर्म, पृष्ठ १२ दमप्रकरण। तीसरा साधन में दूसरा दम है जिस का अर्थ शरीर और इन्द्रिय को वश करना है। शम से अर्थात् मन के वश होने से शरीर और इन्द्रिय सुगमता से वश हो जातीं। किसी कर्म के करनेके पूर्व उस की इच्छा मन में होती है, अतएव कर्म संकल्प का परिणाम है, इस लिये जिस के मन में कोई दुष्ट वासना और संकल्प नहीं आतें उस के द्वारा कोई निन्दनीय कर्म हो नहां सकता। इसी निमित्त साधक मन की शुद्धता पर विशेष ध्यान देता है, किन्तु साधारण लोग केवल वाह्य साधारण आचरण की ओर दृष्टि रखते, मन की पवित्रता की ओर नहीं। जिस का मन पवित्र है उस का आचरण भी अवश्य पवित्र होगा, किन्तु मन को शुद्ध करने का यत्न न कर केवल आचरण शुद्ध करने का यत्न करने से कोई कृतकार्य्य नहीं हो सकता है *। इंद्रिय जब कभी कुत्सित कर्म करने की ओर झुके तो उस कर्म को हठात् नहीं कर के विचार करना चाहिये और

*किसी न किसी इन्द्रिय के विषय भोग ही के लिये लोग पाप करते हैं अतएव इन्द्रियनिग्रह करने से मनुष्य पाप करने से बचता है। कोई राजदण्ड के भय से, कोई अपयश के भय से, कोई नरकयातना के भय से और कोई शास्त्र में जो दुष्टकर्म के बुरा फल लिखे हुए हैं उन के भय से और कोई दुष्टकर्म के बुराफल को अन्य को भोगते देखते हैं उन के स्वतः भोगने के भय से कभी २ पाप कर्म नहीं करते, यद्यपि उन लोगों को इन्द्रिय अपने इष्ट विषयों की प्राप्ति की ओर उत्-

विचार द्वारा उस कर्म को ईश्वरीय नियम विरुद्ध एवं हानिकारी निश्चय कर और उसके फल को असत्य और दुःखद जान उस को कभी नहीं करना चाहिये।

दम की प्राप्ति के लिए इन्द्रियों को निग्रह कर अपने वश में करना चाहिए। इन में जिह्वा और जननेन्द्रिय का निग्रह बड़ा कठिन है किन्तु मुख्य है। सात्विक आहार करना चाहिए किन्तु राजसिक और तामसिक आहार जो प्रायः बड़े स्वादिष्ट होते हैं और जिन की ओर विशेष प्रवृत्ति होती है उनका त्याग करना चाहिए। आहार की शुद्धि विना चित्त की शुद्धि के कठिन है। इन्द्रिय निग्रह जिस का दूसरा नाम ब्रह्मचर्य्य का अभ्यास है यह ज्ञानोपलब्धि में परम मुख्य साधना है। लिखा हैः—तद्य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येणानुविन्दति तेषामेवैष ब्रह्मलोकस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति—३ छान्दोग्योपनिषद् प्रपाठक ८ खण्ड ५ प्रवाक १ इस हेतु जो इस ब्रह्म को ब्रह्मचर्य से ही प्राप्त करते हैं

चित्त करता है किन्तु केवल भय के कारण वे उस में प्रवृत्त नहीं होवे, अतएव ऐसी अवस्था में उन लोगों में इन्द्रियनिग्रह नहीं हुआ और न उस का पूरा फल वे पा सकते हैं, क्योंकि उन में आंतरिक मलीनता बनी ही रहती है। तपस्वी उपवासादि शारीरिक तप द्वारा इन्द्रिय को प्रबल नहीं होने देवे किन्तु यह भी यथार्थ इन्द्रियनिग्रह नहीं है, क्योंकि तपकाल में यद्यपि इन्द्रिय की प्रबलता जाती रहती किन्तु वासना दबी हुई अंतर में बनी रहती है अतएव कुसंग में पड़ने से अथवा विषय के संयोग से वह प्रायः प्रगट हो जाती है। जिन लोगों का चित्त केवल इन्द्रिय के विषय से अलग रहनेके कारण विषय की ओर नहीं जाता उन को भी दांत नहीं कह सकते क्योंकि उन में भी वासना बनी रहती है और विषय के संसर्ग से प्रगट हो जाती है। ज्ञानयोग में विचार द्वारा मन को शुद्ध करने से और विषयों को असत् और उनके कामासक्त संसर्ग को अंत में दुःखदायी जानने से और इस अनुभव की दृढ़ता होने से यथार्थ इन्द्रियनिग्रह हो जाता है और वासना चित्तसे उखड़ जाती है। ज्ञानयोग का साधक विचार विवेक द्वारा मनसे भी आत्मा को पृथक् समझता है अतएव कर्तव्य कर्म में भी जो मन शरीर द्वारा कार्य्य करता है अहंभाव नहीं रखने के कारण इन्द्रिय के विषयों में वः आसक्त नहीं होता है और आसक्ति न रखने के कारण इन्द्रियां उस को क्षुभित नहीं कर सकतीं। ऐसा साधक प्रत्येक कर्म करने के समय अपने (आत्मा) को उस कर्म से असंग समझता है जिस का कर्त्ता वह मन को जानता है आत्मा को नहीं, अतएव उस में किंचित भी आसक्त नहीं होता। वह मन और इन्द्रिय के कार्य्यों में आसक्तिनहीं रखता।

उन्हीं को यह ब्रह्मलोक मिलता है और उन्हीं को सब लोक लोकान्तरों में स्वेच्छाचार विहार होता है ३

अभ्यास योग के समय साधक इन्द्रियों को इच्छाशक्ति द्वारा दमन करता है जिस से इन्द्रियों दब जातों किन्तु पूर्ण निग्रह नहीं होता। ज्ञानयोग का साधक विवेक वैराग्य और शम के द्वारा इन्द्रियों का निग्रह करता है जिसके कारण पूर्ण सफलता होती है। लिखा है:—इन्द्रियाणिपराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परंमनः। मनसस्तु परा बुद्धियों बुद्धेः परतस्तुसः। ४२ एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तम्यात्मानमात्मना। जहि शत्रुं महाबाहो काम रूपं दुरासदम् ४३ गीता० अ० ३

देह आदिक परिच्छिन्न वाह्यपदार्थ से इन्द्रिय ऊपर (सूक्ष्म) है, इन्द्रियों से ऊपर मन, मन से बुद्धि और बुद्धि से आत्मा ऊपर और सूक्ष्म है ४२ हे महावाहो ! इस भांति बुद्धि से परे आत्मा को जान और मन को निश्चल कर के दुःख से जीतने योग्य काम रूपी शत्रु को मारो ४३ मन अथवा इन्द्रियनिग्रह में प्रथम उपाय निग्रह के लिए दृढ़ संकल्प और अनवरत प्रवल इच्छा है जिस का विस्मरण कदापि नहीं होना चाहिए और सफलता लाभ नहीं होने पर भी निरंतर पुरुषार्थ करते ही जाना चाहिए। अधिकांश लोगों में प्रवल इच्छा का अभाव रहता है और इच्छा रहने पर भी उस का प्रयोग अवसर आने पर नहीं किया जाता और इसी कारण दम की प्राप्ति नहीं होती। दूसरा साधन इस के लिए विचार विवेक वैराग्य के प्रयोग द्वारा और समाहित चित्त द्वारा इन्द्रियों का दमन करना है जैसा कि गीताके ऊपर के वाक्योंमें कहा गया है अर्थात्,—विवेकद्वारा मन इन्द्रिय आदि के ठीक स्वरूप को जानकर और आत्मा को सबों से पृथक् और परे जान और आत्मा की दृष्टि से मन बुद्धि इन्द्रिय आदि को अनात्मा मान और उनसे आत्मा को पृथक जान आत्मा में स्थिति रखकर कामरूपी शत्रु को जीते।

इस भांति इन्द्रिय को विचार द्वारा कुत्सित कर्म के करने से रोकने से इन्द्रिय दमन हो जाता है। इन्द्रियां मनुष्य को वहिर्मुख बना विषयों में संनिवेशित कर फंसाती हैं किन्तु ज्ञानमार्ग का लक्ष्य आत्मा है जो द्रष्टा है और द्रष्टा होकर दृश्य को निरोध करता

है, इसलिये इन्द्रियों को वश किये बिना आत्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती । महाभारत शान्तिपर्व में लिखा है—

तपो निःश्रेयसं जन्तो तस्य मूलं शमोदमः ।
तेन सर्वानवाप्नोति यान् कामान्मनसेच्छति ॥

मनुष्य को तपस्या से मोक्ष होता है जिस का मूल मन और इन्द्रिय का निग्रह है जिस से जो २ इच्छा करता है सो २ पाता है। देव, मनुष्य और असुर ये प्रजापति के पुत्र उनके निकट ब्रह्मचर्य्य अवलम्बन कर के उन से उपदेश पाने के प्रार्थी हुए। प्रजापति ने उपदेश किया 'द् द् द्', तीन वार "द्" अर्थात् दाम्यत्, इन्द्रिय और मन का संयम करो, दत्त, दान अर्थात् परोपकाररूपी कष्ट अपने पर लो और दयध्वम्, सबों पर दया करो, यह बृहदारण्यक उपनिषत् की कथा है। और भी देखो धर्म पृष्ट १५। तृतीय साधन में तीसरा उपरति है। उपरति का अर्थ दूसरे के धर्म, स्वभाव, मत, सम्प्रदाय आदि को अपने से भिन्न होने पर भी सह्य करलेना है और उस को द्वेष दृष्टि से नहीं देखना है। जो अपने ऐसा विश्वास नहीं रखते, अपने ऐसा आचरण नहीं चलते और भिन्न प्रकार के संसर्ग में रहते हैं उन को अपने से भेद रहने के कारण घृणा नहीं करना और प्रसन्नता पूर्वक भेद का सहन करना उपरति है। जितने सम्प्रदाय, धर्म, व्यवहार और भेष हैं उन को अपने से भिन्न होने पर भी ऐसा साधक द्वेष रूप से नहीं देखता, वह उन सबों के आन्तरिक तात्पर्य्य जानता है और समझता है कि यथार्थ में ये सब एक ही परम तत्त्व के भिन्न २ रूप हैं और भी यह जानता है कि अंततः जब आंतरिक प्रकाश प्रकट होगा तो वाह्य चिन्ह जाते रहेंगे जिस के कारण भेद भी जाता रहेगा। वह समझता है कि कोई जीव बालक, कोई युवा और कोई वृद्ध के समान है, अतएव बालक, युवा और वृद्ध जीवों के विश्वास, साधना और क्रियाकलाप में अवश्य भेद रहना चाहिये। ऐसा साधक किसी की कभी निन्दा नहीं करता, वह अपने से छोटे का आचरण देख न घृणा करता और न अपने से बड़ों का विशेष ज्ञान और समृद्धि देख विषाद करता। उसकी प्रकृति उदार रहती है और भेदभाव की बुराई उसमें नहीं रहता। तीसरे का चौथा साधन तितिक्षा है। तितिक्षा से तात्पर्य्य यह है कि जब जैसा आनपड़े उस को

धीरज से सह लेना और किसी पर क्रोध नहीं करना और न विषाद करना । क्षमा, दया, परोपकार, समता, प्राणीमात्र में प्रेम आदि के अभ्यास से तितिक्षा की प्राप्ति होती है । तितिक्षाप्राप्त साधक को जो कुछ हानि और दुःख अपने से अथवा किसी अन्यद्वारा होते हैं, उन सब को वह अपने प्रारब्ध (पूर्व जन्मकृत) कर्म का फल समझता है, इस लिये न वह दुःख पाने के कारण क्रोध करता और न चित्त से विचलित होता । वह समझता है कि ऐसा कुछ भी उस को हो नहीं सकता जो उस के किये कर्मों का फल न हो अतएव वह सुख दुःख में समान रहने की चेष्टा करता और सुख अथवा दुःख उस को अपने मार्ग से हटा नहीं सकते हैं । कितनाहू विघ्न और कठिनाई उस को क्यों न आन पड़े और कैसी हो बुरी अवस्था में वह क्यों न पड़ जाय * तथापि वह

---

*जो साधक राजविद्या के मार्ग का अनुसरण करता है जिस के कर्म, अभ्यास, ज्ञान और भक्ति योग भिन्न २ अङ्ग हैं उस के अनुसरण करने से वह सरल किन्तु अत्यन्त कठिन मार्ग से जाना चाहता है जिस के पूरा करने में साधारण लोगों को टेढ़ा और घुमावदार मार्ग से जाने के कारण कई जन्म लगेंगे । उन संचित कर्मों का फल जो साधारण रीति से चलने से कई जन्मों के बाद आवे वे सब राजविद्या के साधक को शीघ्र २ उसी जन्म में आने लगते हैं, क्योंकि उस साधक का अधिक जन्म नहीं होगा अतएव जो कुछ संचित कर्म कर्म के खाते में उस के नाम से बाकी लिखा हुआ है उस को उसे शीघ्र २ थोड़े काल में जब तक कि उसे कर्मपाश में रहना है चुकाना चाहिये । इस निमित्त ऐसा साधक संसार की दृष्टि से कुछ अधिक कठिनाई में पड़ जाता है किन्तु तथापि वह अंतर से प्रसन्न ही रहता है ऐसा जान के कि उस के दुष्ट कर्मों के फल शीघ्र २ समाप्त होते जाते हैं । सांसारिक लोग अनेक समय तक दुःख सुख में फंसे रहेंगे किन्तु वीर साधकके दुःख का शीघ्र अंत हो जायगा और तब से फिर उसे कभी दुःख न होगा । जब साधक को दुःख और कठिनाई आना प्रारम्भ हो तो उस को समझना चाहिये कि वह सूक्ष्म मार्ग के सम्मुख पहुंचा है और ऐसा पहुंचने के कारण कर्म देवताओं का ध्यान उस के ऊपर पड़ा है जो उस के संचित कर्मों के फल को शीघ्र भुगतने के लिये भेज रहे हैं जिस को वह चाहता था । अतएव दुःख को अपने कर्म का फल जान वह तनक भी उद्विग्न नहीं होता किन्तु प्रसन्नता से धैर्य्य पूर्वक उस का सहन करता है, ऐसा सहने को तितिक्षा कहते हैं । कठिनाइयों के आने से साधक को समझना चाहिये कि उस की आंतरिक परीक्षा हो रही है और जन को जितना धैर्य्य से सहेगा और क्षुभित न होगा उतना ही उस में सामर्थ्य बढ़ेगी और उन्नति प्राप्त करेगा ।

कदापि अपने कर्तव्य पालन करने में त्रुटि नहीं करता और साधन के अभ्यास से मुंह नहीं मोड़ता। ऐसा नहीं कि उस को दुःख सुख का अनुभव न होगा किन्तु ऐसा होगा कि कोई सुखद अथवा दुःखद सांसारिक घटना उस को क्षुभित नहीं कर सकेगी और अपने साधन और लक्ष्य से भ्रष्ट नहीं करसकेगी। सुख और दुःख को वह दूसरों की अपेक्षा अधिक तीव्रता के साथ अनुभव करेगा, किन्तु सुख दुःख उस को अपने कर्तव्य पालन से हटा नहीं सकेंगा और उस के चित्त की शान्ति और स्थिरता को ह्रास नहीं कर सकेगा जो विचार, विवेक और वैराग्य और शम-दमादि द्वारा उसे प्राप्त हुआ है। तीसरे का पांचवां साधन श्रद्धा है। विश्वास और रुचि गुरु और शास्त्र में और विश्वास अपनी शक्ति में होने को श्रद्धा कहते हैं। साधक तितिक्षा की प्राप्ति काल में देखता है कि कितने कठिनाई रूप विघ्नों के आने पर भी वह अदृश्य गुरु * की कृपादृष्टि से मार्ग से विचलित न हुआ, अतएव उसे गुरु में श्विास होता है और समझता है कि उन के आदेशानुसार चलने से वह अपने लक्ष्य को अवश्य प्राप्त करेगा। वह समझता है कि आध्यात्मिक शक्तियों के उस में गोप्य रहने के कारण वह उन का प्रकाश करके उसके द्वारा माया के गुणों को पराभव करेगा। तीसरे की छठां साधन समाधान है। समाधान मन के समभाव, शांतिभाव और स्थिरता को कहते हैं जो कि ऊपर कही हुई साधनाओं के प्राप्त होने से होता है। इस अवस्था में उस का चित्त स्वाभाविक ऐसा शान्त और स्थिर हो जाता है कि दुःख सुख, हानि लाभ इत्यादि द्वंद्वों में समान ही रहता और इन के आने पर बिना यत्न के ही उस का चित्त उद्विग्न नहीं होता। चौथा मुख्य साधन मुमुक्षुता है। मुमुक्षता प्रकृति के बंधन से छूटने की प्रबल इच्छा और आत्म स्वरूप और परमात्मा में स्थिति पाने का उत्कट अनुराग है जो सबों का परम कर्तव्य है और जिस निमित्त बारंबार जन्म लेना पड़ता है। यह इच्छा ऐसा प्रबल और पूर्णव्यापी होना चाहिए कि सिवाय इसके और कोई अन्य इच्छा और वासना न रहे और निरंतर चित्त इसी के साधन में प्रवृत्त रहे। ऐसी इच्छा थोड़े काल तक के लिये हो तो वह मुमुक्षता नहीं है। सतत चित्त में रहनेवाली जो ऐसी

इच्छा और जिस को छोड़ के और कोई मुख्य इच्छा न हो और जिस की प्राप्ति के लिए बड़ासे बड़ा कष्ट और परिश्रम करने और सर्वस्व त्यागकरने पर प्रस्तुत हो उस को मुमुक्षुता कहते हैं। ऐ चार साधन आपस में स्वतंत्र नहीं हैं किन्तु कारण कार्य्य का इन में सम्बन्ध है। प्रथम प्राप्ति के बाद ही उस के बाद के दूसरी साधना की प्राप्ति हो सकती है अन्यथा नहीं।

जब उक्त साधन चतुष्टय भली भांति प्राप्त हो जाते हैं अर्थात् जब तीक्ष्ण विवेक और तीव्र वैराग्य लाभ होते हैं (ऐसा क्षणिक वैराग्य नहीं जो कोई प्रिय वस्तु के वियोग से अथवा इच्छित पदार्थ के न लाभ होने से होता है किन्तु ऐसा स्थायी वैराग्य जो कभी ठंढ़ा न हो) और शम दम तितिक्षा आदि के लाभ से मानसिक और नैत्तिक उन्नति करता है तभी वह ज्ञानयोग का अधिकारी होता है अन्यथा नहीं। आजकल प्रायः लोग साधन चतुष्टय की प्राप्ति के निमित्त विनायत्न किए अथवा साधन चतुष्टय की प्राप्ति को सुलभ जान और उन को अपने में प्राप्त रहने की मिथ्या धारणा रख के सीधे ज्ञान की प्राप्ति करना चाहते हैं आर केवल सिद्धांतो की जानकारी को ही ज्ञान समझलेते हैं। ऐसी समझ पूरा भ्रम है और आजकल ईस प्रथा से बड़ी हानि हुई है। साधन चतुष्टय की प्राप्ति बड़ा कठिन है और विना विशेष पुरुषार्थ किए इनकी सिद्धि हो नहीं सकती है। साधक का प्रथम और मुख्य कर्तव्य है कि साधन चतुष्टय की प्राप्ति के लिए विशेष यत्न करे और ईसकी प्राप्ति के बाद ही आगे पद को बढ़ावे।

ज्ञानयोग के अधिकारी होने के लिये सिद्धियों के प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं। किसी को सिद्धियों की प्राप्ति क्यों न हो जाय किन्तु यदि वह साधन चतुष्टय विहीन है तो वह ज्ञानयोग का अधिकारी नहीं हो सकता। कर्मयोग द्वारा निष्काम भाव से परोपकारी कर्म किये विना साधन चतुष्टय की भी प्राप्ति पूर्णतः नहीं होसकती जिस का प्रमाण अभ्यास योग के अंत में भी दिएगए हैं।

* सद्गुरु की अपरोक्ष प्राप्ति उपास्य की कृपा से होती है, देखो गुर्वाष्टक ।

साधन चतुष्टय के प्राप्त होनेपर साधक को ज्ञानोपदेश के लिये ब्रह्मनिष्ठ गुरु के समीप जाना चाहिए और उनकी कृपा अपनी योग्यता से प्राप्त कर उन के मुख से उपदेश लेना चाहिए। केवल पुस्तक में ज्ञान के सिद्धान्तों को पढ़ने से तत्वज्ञान से जानकारी भी नहीं हो सकती, किन्तु जिस गुरु ने आत्मा का अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त किया है उस के मुख से उपदेश पाकर और उसके अनुसार अभ्यास करने से ज्ञान की जागृति सम्भव है। लिखा है:—तद्विज्ञानार्थं सगुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्। १२ मुण्डकोपनिषद् १ मुण्डक २ खण्ड। विज्ञान की प्राप्ति के लिए समिधा हाथ में लेकर अर्थात् विनीत और भक्तिमान होकर ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिय गुरु के पास जावे। इसके बाद के १३ वे मंत्र का भाव है कि उक्त गुरु यदि उस शिष्य को पूरा प्रशान्त चित्त वाला और दान्त पावे तो उपदेश करे। अब मैं वेदान्त के कतिपय मुख्य सिद्धान्त का केवल दिग्दर्शन मात्र करना चाहता हूं।

भगवद्गीता अध्याय १३ में ज्ञान का लक्षण यों है—

अमानित्वमदंभित्वमहिंसाक्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः ॥७॥
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ॥८॥
असक्तिरनभिष्वंगः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥९॥
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ॥१०॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा ॥११॥

नम्रता, दम्भ न करना, किसी को पीड़ा न पहुंचाना, सहनशील होना, सरल होना, आचार्य्य की सेवा भक्ति करना, भीतर

बाहर शौच रखना, स्थिरता, मन और इन्द्रिय का निग्रह, ॥७॥ श्रोत्रादि इन्द्रियों के विषयों से विरक्त रहना, अहङ्कार से रहित रहना, जन्म, मरण, बुढ़ापा और व्याधि के दुःख और दोष का बारम्बार विचार करना ॥ ८ ॥ किसी में आसक्ति न रखना, पुत्र स्त्री गृहादिपदार्थों के संग ममता और आसक्ति नहीं रखनी, प्रिय और अप्रिय की प्राप्ति में सदा समान चित्त रहना ॥९॥ मुझ परमात्मा में अनन्य चित्त रख के ऐकान्तिक भक्ति, एकान्त स्थान में रहना, विषयी पुरुषों की सभा के संसर्ग से बचे रहना ॥१०॥ अध्यात्मज्ञान में सतत निष्ठा रखना और तत्त्वज्ञान के उद्देश्य का विचार करना यह ज्ञान है और इस के विरुद्ध जो कुछ है वह अज्ञान है ॥११॥ महाभारत शान्तिपर्व अ० १५९ में अज्ञान का ऐसा लक्षण लिखा है:—

रागः द्वेष स्तथा मोहो हर्षः शोकोऽभिमानता ।
कामः क्रोधश्च दर्पश्च तन्द्रा चालस्य मेव च ॥६॥
इच्छा द्वेष स्तथा तापः परवृध्युपतापिता ।
अज्ञान मेतन्निर्दिष्टं पापानाञ्चैव याः क्रियाः ॥७॥

राग, द्वेष, मोह, इन्द्रिय के विषय भोग जनित हर्ष, शोक, अभिमान, काम, क्रोध, दर्प, तन्द्रा, आलस्य, विषयाभिलाषा, द्वेष, ताप, दूसरे की वृद्धि देख परिताप करना और पाप कर्म ये सब अज्ञान हैं। ज्ञान के विषय में भगवद्गीता अ० १३ में श्रीकृष्ण भगवान का वाक्य है—

इदं शरीरं कौन्तेय ! क्षेत्रमित्यभिधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥१॥
क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ! ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥२॥

हे कौन्तेय ! इस शरीर को क्षेत्र कहते हैं और इस का जो ज्ञाता है उस को विद्वान क्षेत्रज्ञ कहते हैं १ हे भारत ! सब क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ रूप मुझ (परमात्मा) को जानो, क्षेत्र (प्रकृति) और

क्षेत्रज्ञ (पुरुष) का जो ज्ञान है वही मेरे जानते ज्ञान है २॥ भगवद्गीता अ० १३ में क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का वर्णन यों है—

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥५॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥६॥
यावत्संजायते किंचित्सत्त्वं स्थावरजंगमम् ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ! ॥२६॥
प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥२९॥
यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥३२॥
यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ! ॥३३॥
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।
भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥३४॥

पंच महाभूत, अहंकार, बुद्धि, अव्यक्त, श्रोत्रादि दश इंद्रिय, एक मन, ज्ञानेंद्रियों के गन्धादि पांच विषय ॥५॥ इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, शरीर, ज्ञानरूप मन की वृत्ति और धृति ये अपने विकार सहित संक्षेप से क्षेत्र हैं ॥६॥ हे भरतर्षभ ! जो कुछ स्थावर जङ्गम पदार्थ उत्पन्न होते हैं वे सब क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के संयोग से उत्पन्न होते हैं ऐसा जानो ॥ २६ ॥ सम्पूर्ण कार्य्य केवल प्रकृति द्वारा किये जाते हैं और आत्मा कुछ भी नहीं करता, ऐसा जो देखते हैं वेही यथार्थदर्शी हैं ॥२९॥ जिस प्रकार सर्व्वव्यापी आकाश सूक्ष्म होने के कारण किसी से भी लिप्त नहीं होता है उसी प्रकार आत्मा

भी देह में सर्वत्र होने पर भी (देह के गुण दायों से) लिप्त नहीं होता ॥३२॥ हे भारत! जिस प्रकार सूर्य्य इस सम्पूर्ण जगत को प्रकाशित करता है उसी प्रकार क्षेत्र में रहनेवाला आत्मा सम्पूर्ण शरीरों को प्रकाशित करता है ॥३३॥ जो इस प्रकार ज्ञानरूप चक्षु द्वारा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के अन्तर (भेद) को और प्रकृति से भूतों के मोक्ष होने (के उपाय) को जानते हैं वे परम पद को प्राप्त करते हैं ॥३४॥

ऊपर के प्रमाणों से यह सिद्ध है कि क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का ज्ञान ही ज्ञानमार्ग का मुख्योद्देश्य है। इस क्षेत्र क्षेत्रज्ञ अर्थात् प्रकृति पुरुष के समष्टि व्यष्टिभाव के स्थूल वर्णन के लिए यहां मानचित्र (नकशा) दिया गया है। यद्यपि सृष्टि क्रम ऐसे सूक्ष्म विषय का वर्णन चित्र द्वारा कदापि हो नहीं सकता है, तथापि प्रारम्भिक परिचय के लिए चित्र द्वारा समझाने की चेष्टा की गई है किन्तु पाठक कदापि यह नहीं समझें कि यह सूक्ष्मातिसूक्ष्म विषय जिसके वर्णन में शब्द भी संकुचित हो जाता है कदापि चित्र से प्रकाशित हो सकता है। इस चित्र में सब से ऊपर परब्रह्म है जो रेखागणित की भाषा में ऐसा है जिसका न कहीं केन्द्र है और न परिधि है। यह आदि अंत रहित सब से परे है और यह यथार्थ में क्या है यह श्रुति भी नहीं कह सकती। श्रुति परब्रह्म का वर्णन "नेति नेति" कह के करती है अर्थात् यह न सत् है और न असत्, न जड़ और न चेतन, न प्रकाश और न अंधकार, क्योंकि किसी एक महिमा का आरोपण करने से उस के विरुद्ध का भी अस्तित्व मानना पड़ेगा किन्तु परब्रह्म निर्विशेष है और शुद्ध अद्वैत परम केवल है। यदि इस को सत् कहेंगे तो असत् का भी अस्तित्व मानना पड़ेगा, चेतन कहेंगे तो जड़ भी मानना होगा, आनन्द कहेंगे तो निरानन्द भी मानना पड़ेगा किन्तु परम केवल परब्रह्म की दृष्टि से सत् असत्, जड़ चेतन, आनन्द निरानन्द आदि कुछ भी नहीं हैं। इसका साक्षात् ज्ञान अथवा प्राप्ति जीवात्मा को हो नहीं सकती। किन्तु यह सब के परे सर्वाधार निर्विकल्प एक अद्वितीय परम केवल है। मनुस्मृति में इसका वर्णन यों है :—आसीदिदं तमोभूत मप्रज्ञात मलक्षणम्। अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः। यह तम की भांति अज्ञात, बिना लक्षण, अप्रतर्क्य, अज्ञेय और सर्वत्र सोआ

हुआ के समान था। तैत्तिरीयोपनिषद् का वचन है:—असद्वा इदमग्र आसीत् ततोवैसद् जायत। यह पहिले असत् था और उस से सत् हुआ। यहाँ परब्रह्म को तम और असत् कहा है। श्रीमद्भागवत ८ स्कंध २४ अध्याय २३ श्लोक में श्री भगवान मत्स्य ने इस का वर्णन यों किया है:—"मदीयं महिमानञ्च परब्रह्मेति शब्दितं। वेत्स्यस्यनुगृहीतं मे संप्रश्नैर्विवृतं हृदि। तुम्हारे प्रश्न से मैं अपने परब्रह्म पद वाच्य महिमा तुम्हारे निकट प्रकाशित करूंगा। तुम मेरे प्रसाद से उस महिमा को हृदय में धारण कर सकोगे। श्रीशंकराचार्य्य महाराज गीता भाष्य में लिखते हैं कि "ब्रह्मणः सर्व विशेष प्रतिषेधेनैव विजिज्ञापयिषितत्वान्नसत्तन्नासदुच्यत इति। सब विशेषणों के निषेध से ही ब्रह्म का वर्णन होने से वह न सत् है और न असत् है ऐसा कहा।

सृष्टि के आदि में यह परब्रह्म रूप विना केन्द्र और परिधि के वृत्त में जब केन्द्र का प्रादुर्भाव होता है तो वही केन्द्रस्थ वृत्त को "परमेश्वर" "महेश्वर" "ईश्वर" "शब्दब्रह्म" "सच्चिदानन्द" "आदि पुरुष" आदि नामों से कहते हैं। परब्रह्म वृहत् विन्दु के समान है और जैसे हमलोग विन्दु कीतने के तुल्य है यह नहीं जानते हैं, क्यों कि? एक अंक के ऊपर विन्दु पड़ने से दश होता है, २ पर पड़ने से वीश हो जाता है, दश हजार पर केवल एक विन्दु पड़ने से एक लाख हो जाता है, इसी प्रकार परब्रह्म के महत्व को कोई नहीं जान सकता। किन्तु परमेश्वर "एक के अंक के समान है जैसा कि एक अंक सब अकों का मूल है, २=१+१ एक और एक का जमा दो है। नौ एक के नौवार एकत्र करने से हुआ है जैसा कि १+१+१+१+१+१+१+१+१=९। ब्रह्मवैवर्त पुराण, ब्रह्मखण्ड अ० २८ श्लोक २५ में इस का यों वर्णन है।—सृष्ट्युन्मुखेनतद् ब्रह्म चांशेन पुरुषः स्मृतः। वह परब्रह्म सृष्टि के होने के समय अंश से पुरुष हुआ। यह परमेश्वर उस परब्रह्म से पृथक् नहीं है, एक ही है किन्तु भेद यह है कि अन्तर्मुख एकेला अपने आप में रहने के समय वह परब्रह्म है और वही सृष्ट्युन्मुख अर्थात् सृष्टि के उत्पन्न काल में "महेश्वर" अथवा "ब्रह्म" अथवा "परमेश्वर" कहलाता है। चित्र में जो सब से ऊपर वृत्त है जिस में १ का अंक लिखा हुआ है वही इस ब्रह्म अर्थात् महेश्वर का उस में ज्ञापक है। यह ब्रह्म अथवा महेश्वर शक्तियुक्त है अर्थात् उसमें शक्ति जागृत रहती है

जिस शक्ति के परब्रह्म में लीन रहने के कारण वह परब्रह्म एक परम केवल अद्वैत हो रहता है। इस अवस्था का छान्दोपनिषद् में यों वर्णन है:—तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति। तत्तेजोऽसृजत्। तत्तेजऐक्षत। बहुस्यांप्रजायेयेति। तदपोऽसृजत् ३। प्रपाठक ६ खण्ड २ प्रवाक २। उस (परमेश्वर) ने इच्छा की कि बहुत प्रजा होवे। तब तेज की सृष्टि की गई। तेजने भी इच्छा की कि बहुत प्रजा होवे। तब जल की सृष्टि हुई। इस में ब्रह्मकी इच्छा कि मैं बहुत प्रजा हो जाऊं यही इच्छाशक्ति सृष्टि का कारण है और सृष्टि को चला रही है और इसी को आद्या शक्ति कहते हैं। यही शक्ति तेज रूप होकर प्रकट हुई जिसको "गायत्री" "दैवी प्रकृति" "पराशक्ति" चिच्छक्ति आदि नाम से कहते हैं और यह चित्र में परमेश्वर के दक्षिण भाग में विन्दू का बना स्वच्छ त्रिकोण है जिस का मुख ईश्वर की ओर है और विद्या शक्ति, चिच्छक्ति और प्रकाश शक्ति तीन भूजा हैं।

शक्ति और शक्तिमान में एकता के कारण यह शक्ति परमेश्वर से भिन्न नहीं है किन्तु उनका शक्ति मात्र है। चूंकि विना दो विरुद्ध पदार्थ के एकत्र हुए सृष्टि हो नहीं सकती और विना आधार के शक्ति कार्य्य कर नहीं सकती, अतएव जल अर्थात् "मूलप्रकृति" का प्रादुर्भाव हुआ। दैवीप्रकृति जैसे प्रमेश्वर की इच्छा की परिणाम है उसी प्रकार यह मूलप्रकृति भी उसी का परिणाम है। प्रमेश्वर जब अपनी इच्छा शक्ति को अवलम्बन कर द्रष्टा हुआ तो दृश्य का होना भी आवश्यक हुआ और मूलप्रकृति ही दृश्य हुई जो द्रष्टा के संकल्प का परिणाम है और उससे भिन्न नहीं है। ईश्वर की अनेक होने की इच्छा की पूर्ति के लिए यह मूलप्रकृति जो नानात्व का मूल है परब्रह्म पर आवरण की भांति है और परब्रह्म ही इसका अधिष्ठान हैं। जैसा कि शक्ति विना आधार के कार्य्य नहीं कर सकती है, और आधार विना शक्ति से संचालित हुए परिवर्तित हो नहीं सकता, अतएव मूल प्रकृति आधार हुई और दैवीप्रकृति उसका संचालन करनेवाली आधेय हुई।

जैसाकि परमेश्वर की पराशक्ति चैतन्य प्रकाश और विद्या रूपी है और सदाऊर्ध्व की ओर ईश्वरोन्मुख रहती है वैसा

हो उसके विरुद्ध यह मूलप्रकृति अर्थात् अपराशक्ति जड़, तम और अविद्या रूपी है और यह ईश्वरोन्मुख न होकर अधोमुखी है और ईश्वर से दूर लेजानेवाली है। यह मूलप्रकृति चित्र में परमेश्वर के वाम भाग में अन्धकार लाईन का बना हुआ त्रिकोण है जिस का मुख नीचे सृष्टि की ओर है और इसका रज तम सत्व-गुण तीनों भुजा हैं। परमेश्वर की तेजोमयी पराशक्ति जिस को कहीं २ पुरुष भी कहते हैं और जो चेतन और विद्या है उस का, मूल-प्रकृति, जो जड और अविद्या है, के साथ, सम्बन्ध और संघर्ष होनेसे ही सृष्टि की रचना हुई। सृष्टि में जितने लोक, क्षेत्र, शरीर, आकार, वस्तु आदि हैं अर्थात् जितने दृश्य हैं वे सब म० प्रकृति की विकृति होने से बने हैं अर्थात् उनका उपादान कारण मूलप्रकृति है और ए सब मूलप्रकृति की विकृति के रूपान्तर हैं किन्तु उस जड़ मूलप्रकृति को नाना प्रकार के रूपों में परिवर्तन करनेवाली उसके अंदर चिच्छक्ति है जो चेतन होने के कारण परमेश्वर की इच्छाके अनुसार उसको नाना रूपों में परिवर्तन कर रही है और एक आकार को नाश कर फिर दूसरा बनाती है। अतएव इस सम्पूर्ण विश्व में यह त्रिपुटी सर्वत्र देख पड़ती है। प्रथम परमेश्वर, परमात्मा स्वरूप, सृष्टि का संकल्प करनेवाला और सबों का यथार्थ परमआत्मा द्रष्टा की भांति जो सत् चित आनन्द और सबों का अधिष्ठान है, और द्वितीय उस परमेश्वर से अभिन्न उसकी चिच्छक्ति उसके संकल्प (प्लैन Plan) के अनुसार कार्य्य करनेवाली, और तृतीय दृश्य रूपी मूल प्रकृति जो सृष्टि के व्यक्ताव्यक्त वस्तु मात्र दृश्य का आदि कारण है और सबों का मूल है। चिच्छक्ति इस मूलप्रकृति में प्रवेश कर उसको नाना रूप में परिवर्तन कर सृष्टि को उत्क्रमण करती है जिसमें ईश्वर की इच्छा अनेक प्रजा होने की पूर्ति हो और वे सब अंत में प्रकृति के गुणों को पराभव कर अपनी माता उस चिच्छक्ति के आश्रय से परम पिता परमेश्वर में युक्त हों और उनकी महिमा को प्रकट करें। यही उद्देश्य सृष्टि के होने का है। यह त्रिपुटी सृष्टि में अभिन्न रूप से है और एक से दूसरा पृथक् हो नहीं सकता। परमेश्वर के ही दोनों प्रकृति चिच्छक्ति और मूलप्रकृति शक्ति हैं और परमेश्वर दोनोंके नियामक हैं, अतएव ये शक्तियां ईश्वरसे अभिन्न हैं। यह तेज रूपी चिच्छक्ति ही गायत्री है, क्योंकि यह परमेश्वर का

प्रकाश होने के कारण बिना इस प्रकाश की सहायता के परमेश्वर मिल नहीं सकते हैं अतएव यही प्रकृति के गुणमयी और मोहमयी फंदे से त्राण करनेवाली है। लिखा है:—

गायत्री वा इदंसर्वंभूतं यदिदं किञ्च । वाग्वैगायत्री वाग्वा इदं सर्वंभूतम् । गायति च त्रायतेच । १

छान्दोग्योपनिषद् प्रपा-३ ख-१२

यह सब भूत जो कुछ दीखता है वह गायत्री ही है। शब्द का मूल गायत्री है, क्योंकि शब्द ही से यह सब हुआ है। गायत्री ही जीवन का गान है और त्राण करनेवाली है। श्रुति में इसको प्राण भी कहा है जैसा कि छन्दोग्योपनिषद् के ७ प्रपाठक १५ खण्ड १ प्रवाक के १ म मंत्र में प्राण को सब से परे कह कर " प्राणो ह पिता प्राणो माता...प्राणः आचार्य्यः " कहा है और कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषत् के तीसरे अध्याय के तीसरे मंत्र "यो वै प्राणः सा प्रज्ञा यावा प्रज्ञास प्राणः" में इस को ही "प्राण" कह के वर्णन किया है। किन्तु यह समिष्ट प्राण इस स्थूल शरीर के श्वास रूपी प्राण से पृथक है किन्तु यह श्वास रूपी प्राण स्थूल शरीर में उसी का अंश है। प्रश्नोपनिषद् में मूलप्रकृति को रयि और अपराशक्ति को " प्राण " कह के वर्णन किया है। लिखा है:—" आदित्यो हवै प्राणो रयिरेव चन्द्रमाः। रयिर्वा एतत्सर्वं यन्मूर्तं चामूर्तं च तस्मान्मूर्तिरेव रयिः ५। -१ म प्रश्न। प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्। ऋचोयजुंषि सामानि यज्ञः क्षत्रं ब्रह्म च ६ प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम्। मातेव पुत्रान्रक्षस्व श्रीश्च प्रज्ञां च विधेहि १३। २ मं० प्रश्न। आदित्य प्राण हैं और रयि चन्द्रमा हैं और ए सब स्थूल और सूक्ष्म रयि से हैं अतएव सब मूर्तिमान् रयि रूप ही हैं। प्राण में सब कुछ निहित हैं (और भी) ऋक यजु सामवेद के मंत्र, यज्ञ, क्षत्रिय, ब्राह्मण (उस में निहित हैं) ६ तीन लोक में जो कुछ हैं वे सब प्राणके आश्रय में हैं। माता की भांति पुत्रों की रक्षा करो और श्री ज्ञान दो।

किसी २ श्रुति में इन दोनों प्रकृतियों को विद्या और अविद्या कह के भी कथन किया है। गीता में मूलप्रकृति को अपरा प्रकृति और गायत्री शक्ति को परा प्रकृति और दैवीप्रकृति कहा है:—

जैसा किः—

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥ ४ ॥
अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥ ५ ॥

अध्याय ७

(भगवान कहते हैं कि) भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि, अहंकार ये सब आठ प्रकार अपरा प्रकृति के भेद हैं और इस के भिन्न मेरी पराप्रकृति जो है, हे महाबाहो! वह इस जगत को जीव रूप से धारण करती है।

ऊपर के श्लोक में पंच महाभूत आदि आठ प्रकार की प्रकृति को अपरा प्रकृति अर्थात् जड़ प्रकृति कही गई है और पराप्रकृति को जीवशक्ति कही गई, जो इस जगत को धारण करती हैं और भीः—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते स चराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय! जगद्विपरिवर्तते ॥ १०
अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥ ११
मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः ॥ १२
महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥ १३

अध्याय ९

हे कौन्तेय! यह प्रकृति मेरे आश्रय से इस चराचर जगत को उत्पन्न करती है। इसी कारण यह बारबार उत्पन्न होता है १० मैं सब भूतों का महेश्वर हूँ। मेरे इस परम तत्व को न जान कर मूढ़ लोग मुझको मनुष्य शरीरधारी समझ कर अवज्ञा करते हैं ११

विफल आशा वाले, निष्फल कर्म वाले अनर्थक ज्ञान वाले, विक्षिप्त चित्त वाले व्यक्ति तामसी राजसी अहंकार रूपी आसुरी प्रकृति का आश्रय लेते हैं १२ हे पार्थ! महात्मा लोग दैवी प्रकृति का आश्रय लेके मुझको नित्य और सब भूतों का आदि कारण जान अनन्य चित्त से भजन करते हैं १३। यहां १० वें श्लोक में मूल प्रकृति का प्रतिपादन है और ११ वें में महेश्वर का प्रतिपादन है और १२ में त्रिगुणमयी प्रकृति के फंदे में पड़ने से जो लोगों का पतन होता है उसका प्रतिपादन किया गया है और १३ वें में दैवी प्रकृति अर्थात् गायत्री के आश्रय से श्री भगवान की भक्ति महात्मा लोग करते हैं यह प्रतिपादित है। प्रणव के बाद में मूलप्रकृति "अ" है, दैवीप्रकृति "उ" है और "महेश्वर" म् हैं और परब्रह्म अर्द्ध-मात्रा हैं। इन प्रकृतियों का अस्तित्व "परमेश्वर" पर निर्भर है। चिच्छक्ति के संचालन से मूलप्रकृति में विकृति होकर महत्तत्व हुआ जिसके देवता अर्थात् समष्टिचेतन अभिमानी ब्रह्मा हैं और महत्तत्व से अहंकार हुआ जिस के देवता रुद्र हैं। यह समष्टि अहंकार है जो व्यष्टि अहंकार का मूल है। अहंकार से पंचतन्मात्रा शब्द स्पर्श रूप रस गंध और अन्तष्करण आदि की सृष्टि हुई जिन के भी भिन्न २ देवता हैं। पंचतन्मात्रा से पंच-महाभूत आकाश, वायु, अग्नि, जलऔर पृथ्वी की सृष्टि हुई जिनके भी देवता हैं अर्थात् प्रकृति भाग और चेतन पुरुष भाव सर्वत्र है। पंचमहाभूतके पंचीकरण से नाना प्रकार की सृष्टि हुई। मूल प्रकृति का समष्टि रूप में परिवर्तन सात रूपों में अर्थात् सात लोकों में हुआ, १ सत्यलोक २ तपलोक ३ जनलोक ४ महर्लोक ५ स्वर्लोक ६ भुवर्लोक ७ भूलोक। ऊपर से यही क्रम है। जैसे २ प्रकृति का परिवर्तन होता है वैसे २ प्रकृति की सूक्ष्मता कमती है और स्थूलता बढ़ती है, अर्थात् सत्यलोक की प्रकृति से तपलोक की प्रकृति स्थूल है, उसकी अपेक्षा जनलोक की, फिर इसी प्रकार नीचे के लोकों की जबतक सब से स्थूल भूलोक में आकर स्थूलता की अंतसीमा आजाती है। भूलोक के स्थावर वर्ग के प्रस्तरभाग में स्थूलता की चरम सीमा आजाती है जो इतना स्थूल है कि उसके अंदर जो चेतन है वह अपनी शक्ति एकदम काश करने में असमर्थ होजाती है और बाह्य दृष्टि से मालूम पड़ता

कि वहां जीवतत्व का अभाव है। उसके भीतर का जीव अर्थात् चेतन शक्ति धीरे २ अन्दर में उत्क्रमणका कार्य्य कर प्रस्थर से उद्भिज्ज वर्ग को उत्पत्ति करती है जिसमें बाह्य स्थूलता की कुछ कमी होजाती है जिसके कारण भीतर के जीव (प्राण) शक्ति को इतना अवकाश मिलता है, कि वह उसको बढ़ाती है, फैलाती है और फूल फल भी उत्पन्न करदेती है, यद्यपि स्थावरता बनी ही रहती है। उद्भिज्ज में प्राण (जीव) के संचालन का बोध होता है किन्तु सुख दुःख के अनुभव की शक्ति बीज के समान रहती है प्रकट नहीं। उद्भिज्ज के बाद पशु जाति की सृष्टि होती है जिसमें इन्द्रियां प्रकट होती हैं और उनके द्वारा वे सुख दुःख अनुभव कर सकते हैं किन्तु मन की शक्ति उनमें बीज की अवस्था में रहती है, प्रकट नहीं। पशु अपने स्वभाव के अनुसार चलते, और मन की विवेचनाशक्तिके अभाव के कारण वे अपने स्वभाव को कदापि बदल नहीं सकते हैं। और भी इस स्थावर और पशु जगत में जीव अर्थात् प्राणका वास है, किन्तु जीवआत्मा नहीं है, अर्थात् जीव समष्टिरूप में सबमें एक हैं, व्यष्टिरूप अर्थात् व्यक्तिगत प्रत्येक में पृथक् पृथक् नहीं है। पशुके बाद मनुष्य की सृष्टि होती है और मन की शक्ति जो पशु में बीज रूप में थी वह यहां प्रकट हो जाती और सिवाय स्थूल शरीर के जो भूलोक की प्रकृति से बनता है दो अन्य शरीर भी बनते हैं अर्थात् सूक्ष्मशरीर भुवर्लोक की प्रकृति का और कारणशरीर स्वर्लोक की प्रकृति का बना हुआ। ईश्वर की आदि इच्छा "एकोऽहं बहु स्याम्" की पूर्ति का ठीक अवसर इस मनुष्यसृष्टि के बनने से ही होना सम्भव हुआ, क्योंकि मनुष्य इस सृष्टिरूपी वृक्ष का सुन्दर पुष्प है और इसी पुष्प के प्रादुर्भाव के लिए ही सृष्टि के उद्भव में इतने परिश्रम किए गये और परमात्मा अपनी शक्ति से युक्त हो कर प्रकृति द्वारा आवद्ध और आच्छादित हो कर महायज्ञ किया, जिस में इस यज्ञ के फल रूप मनुष्य सृष्टि बने, जो परमेश्वर के साक्षात् अंशको धारण करने योग्य हो और प्रत्येक अंश ईश्वर के समान हो जाय। कर्मयोग पृष्ठ ६६ में इस यज्ञ का किंचित वर्णन है। जैसा कि किसी सुगंधवाले पुष्प के भी डाल, पत्ते, अंकुर सुगंध का प्रकाश नहीं कर सकते, क्योंकि उन की बनावट की प्रकृति ऐसा स्थूल है कि वह पुष्प का गुण प्रकाश नहीं कर

सकती, यद्यपि बीज रूप से सुगंधगुण उस में निहित है। किन्तु जब पुष्प प्रकट होता है तब पुष्प ही सुगंध प्रकट कर सकता है। इसी प्रकार स्थावर और पशु जगत में प्रकृति की अवस्था ऐसी न थी जो वह परमात्मा के अंश को धारण कर सके, किन्तु मनुष्यशरीर में कारणशरीर ऐसी स्वच्छ प्रकृति का बना कि उस में परमात्मा के अंश ने परमात्मा की पराशक्ति की सहायता से आकर वास किया। इसी का नाम "जीवात्मा" है। स्थावर और पशु जगत में जीव शक्ति समष्टि रूप में वर्तमान है किन्तु व्यष्टि अर्थात् व्यक्ति रूप से जीवात्मा बनकर वहां नहीं है। इस जीवात्मा को "प्राज्ञ" भी कहते हैं, क्योंकि प्रज्ञा का बीज इस में है और चित्रमें यह नं० ६ है। गीताअध्याय १५ में इस का यों वर्णन है:—"ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ७, अध्याय १५। जीवलोक में मेरा अंश जीव हो के रहता है जो सनातन है। श्रुति में "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" मंत्र में इस अवस्था का वर्णन है जिस का अर्थ है कि उस ने सृष्टि कर उस में प्रवेश किया। तैत्तिरीयोपनिषत् अनुवाक ६ में इसका यों वर्णन है:—"स य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः, तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः अमृतो हिरण्मयः"। हृदयाकाश में पुरुष का वास है जो मनोमय, हिरण्मय और सनातन है। श्रुति में इस को परमात्मारूपी अग्नि का विस्फुलिङ्ग की भांति माना है। चूंकि परमेश्वर सनातन है अतएव उस का अंश अथवा विस्फुलिङ्ग भी अवश्य अनादि और सनातन है। इस जीवात्मा की सृष्टि में सनकादि कुमारों को सहायता करनी पड़ती है। लिङ्गपुराण में लिखा है:—"तस्मात् सनत्कुमारेति नामास्येह प्रतिष्ठितम्। ततोऽभिध्यायतस्तस्य जज्ञिरे मानसाः प्रजाः १८५ क्षेत्रज्ञाः समवर्तन्त गात्रेभ्यस्तस्य धीमतः १८६ अ० ७०।

इसी कारण उनका नाम सनत्कुमार हुआ। उनके ध्यान करने पर मानसी प्रजा की उत्पत्ति हुई। उन धीमान के शरीर से क्षेत्रज्ञ हुए। अनेक स्थलों में इस जीवात्मा को परमात्मा का प्रतिबिम्ब कहा है। जैसा कि ब्रह्मवैवर्त पुराण में लिखा है:—जीवस्तत्प्रतिबिम्बश्च सच भोगी च कर्मणाम्। १५ ब्रह्मखंड अ० २। यथा समस्त ब्रह्माण्डे श्रीकृष्णांशांशजीविनः। सर्वशक्तिस्वरूपा त्वं तथा तेषु स्थिता तदा १०७। श्रीकृष्णजन्मखंड अ० १५। उस ईश्वर का प्रतिबिम्ब जीव है और वही कर्म के फल को

भोगता है। जैसे समस्त ब्रह्माण्ड में श्रीकृष्ण के अंश के अंश से जीवगण हैं वैसे ही सर्वशक्तिरूपा श्रीराधा (पराशक्ति) भी उन सब में विराजमान हैं। स्थावर, उद्भिज्ज और और पशु जगत में मूलप्रकृति ने क्षेत्ररूप में नाना आकारों की उत्पत्ति की, किन्तु उसमें संचालनशक्ति पराप्रकृतिसे आई और महेश्वर उनका अधिष्ठानरूप चेतन रहा अर्थात् त्रिपुटी बनी रही, किन्तु मनुष्य-शरीर में इस त्रिपुटी के सिवाय चौथा जीवात्मा का प्रादुर्भाव हुआ जो महेश्वर का अंश है।

कारणशरीर अण्डाकार है, शरीर में इसका स्थान हृदय है, इसमें के चेतन की अवस्था सुषुप्ति है। कारणशरीरकी समष्टि अर्थात् समूहप्रकृति हिरण्मय अण्ड कहलाता है और उसके अभिमानी समष्टि चेतन को सूत्रात्मा अथवा ईश्वर कहते हैं जो चित्र में नं ४ है। यह महेश्वर जो चित्र में नं १ है उस से पृथक है। कारणशरीर का जीवात्मा विज्ञानमय है अर्थात् वहां पराशक्ति विज्ञानरूप धारण करती है। स्वर्लोक के नीचे भुवर्लोक है जिसके समष्टि शरीर को हिरण्यगर्भ कहते हैं और उसके अभीमानी समष्टि चेतन को तैजस कहते हैं जो स्वर्लोक का समष्टि चेतनाभिमानी ईश्वर अथवा सूत्रात्मा का प्रतिबिम्ब है और चित्र में नं ५ है। भुवर्लोक के हिरण्यगर्भ रूपी प्रकृति का बना व्यष्टि शरीर को सूक्ष्म शरीर कहते हैं जिसमें कारणशरीर के अभिमानी जीवात्मा का प्रतिबिम्ब पड़ा है और वह प्रतिबिम्ब उस शरीर का व्यष्टि चेतन अभिमानी हुआ जिसका नाम तेजोभिमानी अथवा अन्तःप्रज्ञ है और यह चित्र में नं ८ है। इसकी अवस्था स्वप्न की है और स्थान कंठ है। यहसूक्ष्म शरीर अपञ्चीकृत पञ्चभूत का बना हुआ है और पांच कर्मेन्द्रिय और पांच ज्ञानेन्द्रिय और पांच प्राण के केन्द्र अर्थात् मूल शक्तियां इसी शरीर में हैं। ये पन्द्रह और चार मन चित्त बुद्धि अहङ्कार रूपी अन्तष्करण सब १६ या १६ को मिला कर यह सूक्ष्म शरीर बना है। ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय और भी प्राण यथार्थ में सूक्ष्म शरीर में ही हैं और स्थूल शरीर में केवल इनके गोलक अर्थात् स्थूलोपाधि हैं जिनके द्वारा ए स्थूल जगत के विषय को ग्रहण करते और भोगते हैं। इस शरीर का नियंता

मन है तो उभयात्मक है अर्थात् विषय भोग की ओर प्रवृत्त होने से अशुद्ध हो जाता है और उससे पृथक् अन्तर्मुख होकर आत्मा का आश्रय लेने से शुद्ध रहता है। यथार्थ में संसार-युद्धका स्थान यह सूक्ष्म शरीर ही है। षट्चक्र के केन्द्र भी यथार्थ में इसी शरीर में हैं। स्थूल शरीर की भांति इस के आकार हैं। सूक्ष्म शरीर के आवरण की भांति भूलोक में स्थूल शरीर है जो पञ्चीकृत पंच भूत के स्थूल अंश का बना हुआ है जिस के समूह को समष्टि में विश्वानर प्रकृति कहते हैं। इस विश्वानर का समष्टि चेतन अभिमानी विराट पुरुष है जो भुवर्लोक के समष्टि चेतनाभिमानी तैजस का प्रतिबिम्ब है और चित्र में नं ६ है। उसी प्रकार हमलोगों के व्यष्टि स्थूल शरीरका अभिमानी व्यष्टि चेतन विश्व अथवा वहिःप्रज्ञ कहा जाता है जो सूक्ष्म शरीर का अभिमानी व्यष्टि चेतन अन्तःप्रज्ञ का प्रतिबिम्ब है और चित्र में नं ७ है। यही स्थूल जगत में सुख दुःख शोक मोह अनुभव करता है। समष्टि चेतन में प्रणव का प्रथम पाद "अ" विराट है, द्वितीय पाद "उ" तैजस है, तृतीय पाद "म्" सत्तात्मा है और अर्द्धमात्रा मूलप्रकृति है। उसी प्रकार व्यष्टि चेतन में "अ" विश्व है, "उ" अन्तःप्रज्ञ है, म् "प्राज्ञ" है और दैवीप्रकृति अर्द्धमात्रा है। शब्द की दृष्टि से विश्व वैखरीनाद है, तेजोभिमानी मध्यमा, और प्राज्ञ पश्यन्ती है। शरीर के तीन विभाग के सिवाय पंचकोश का विभाग भी किया गया है। पांच कोश ये हैं:—१ अन्नमय २ प्राणमय, ३ मनोमय ४ विज्ञानमय ५ आनन्दमय। अन्नमय कोश पंच महाभूतों का बना हुआ है जो स्थूल होने के कारण अन्नादि स्थूल पदार्थों के खाने से वृद्धि पाता है। प्राणमय कोश कर्मेन्द्रिययुक्त पंच प्राण का बना हुआ है जिस का कार्य्य वाह्य जगत की घटनाओं का ज्ञान मनोमय कोश को कराना है। शरीर पर जो कुछ वाह्य जगत से स्पर्श अघातादि द्वारा प्रभाव पड़ता है उस का अनुभव मनोमय कोश को करवाना प्राणमय कोशका कार्य्य है। मनोमय कोश ज्ञानेन्द्रियों का बना हुआ है और इस का कार्य्य वाह्य घटनाओं के ज्ञान को पाकर उनपर विचार करना, एक को दूसरे के साथ मिलाना और भी दूसरे से पृथक् करना, अनेक घटनाओं के अनुभवों का एक दूसरे के साथ सम्बन्ध मालूम करना इत्यादि

हैं जिन के कारण विचारशक्ति, तर्क शक्ति, स्मरण शक्ति, अनुमान करने की शक्ति, इत्यादि उस में होती हैं। ज्ञानेन्द्रिय युक्त बुद्धि को विज्ञानमय कोश कहते हैं जो मनोमय कोश की भावनाओं का सार निकालती है और उन में एकत्व निश्चय करती है। आनन्द-मय कोश में आनन्द की प्राप्ति होती है जिसका वर्णन शब्द से होना कठिन है। कोश और शरीर की एकता यों है:--अन्नमय कोश और प्राणमय कोश स्थूल शरीर हैं, मनोमय कोश सूक्ष्म शरीर है और विज्ञानमय कोश और अनन्दमय कोश कारण शरीर है। कोई सूक्ष्म शरीर को प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय कोश का बना हुआ मानते हैं। इस समस्त सृष्टि में महेश्वर और उन से अभिन्न दो प्रकृतियां येही तीनों सबके मूल हैं और सब कुछ इन्हीं तीनों के रूपान्तर हैं। चितको विचार ने से भी यही प्रकट होगा।

श्रीमद्भगवद्गीता के अध्याय १३ के १ से १२ श्लोक में इस त्रिपुटी को क्षेत्र (मूल प्रकृति) क्षेत्रज्ञ (पराशक्ति) और ज्ञेय (महेश्वर) कह के वर्णन किया है, फिर श्लोक १६ से २२ में प्रकृति (मूलप्रकृति) पुरुष (पराशक्ति) और परमेश्वर को परमात्मा मह-श्वर कहा है। अध्याय १४ के ३ और ४ श्लोक में प्रकृति को महद्ब्रह्मरूपी योनि, पराशक्ति को वीज और अपने को महेश्वर कह के श्रीभगवान ने वर्णन किया है। अध्याय १५ के १६ और १७ श्लोल में क्षर (मूल प्रकृति) अक्षर (पराशक्ति) और उत्तम पुरुष और परमात्मा कह के महेश्वर का वर्णन किया है। महेश्वर को महा विष्णु, वासुदेव और विष्णु भी कहते हैं। वह त्रिपुटी एक ही है, क्योंकि सृष्टि के पूर्व दोनों प्रकृतियां ईश्वर में निहित थीं और सृष्टि के अन्त में फिर निहित हो जायँगी.किन्तु ये दोनों अनादि हैं क्योंकि व्यक्त अथवा अव्यक्त भाव में ये दोनों प्रकृतियां सदा वर्त-मान रहती हैं। गीता का वचन है "प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि १६ (अ० १३) अर्थात् प्रकृति और पुरुष दोनों को अनादि जानों। इस त्रिपुटी के कार्य्य और सम्बन्धको विचारनेसे द्वैत, विशिष्टाद्वैत और अद्वैत सिद्धान्तों का भेद मिटजायगा और तीनों में एकता बोध होगी। महेश्वर की दृष्टि से अद्वैत अवश्य है, किन्तु सृष्टि की दृष्टि से तीनों के एक होने पर भी तीनों के भिन्न २

कार्य्य सृष्टि में हैं और परा और अपरा प्रकृति तो आपस में विरुद्ध भी हैं और जो गुण एक में है वह दूसरे में नहीं। अतएव सृष्टि के कार्य्य में तीनों को पृथक् २ मानना पड़ेगा। मनुष्य के कारण शरीर में जो चेतनात्मा है वह महेश्वर का अंश है जो महेश्वर से अभिन्न होने पर भीउपाधि की दृष्टि से सृष्टिकाल में पृथक अवश्य है और विज्ञान की प्राप्ति होने तक उसको पृथक मान कर ही परमेश्वर की प्राप्ति की चेष्टा करनी पड़ेगी। सृष्टि का क्रम यह है कि प्रथम अधोगमनगति प्रारम्भ होती है जिस में प्रकृति सूक्ष्म से स्थूल होती है जिसके कारण उसके भीतर के चैतन्य तत्व की शक्ति और प्रकाश का ह्रास अवश्य होता है, किन्तु प्रकृति की स्थूलता की अंतिम सीमा पहुंच जाने पर फिर ऊर्द्धगति प्रारम्भ होती है अर्थात् स्थूल प्रकृति सूक्ष्म बनाई जाती है और जैसे २ प्रकृति सूक्ष्म और शुद्ध होती जाती है वैसे २ भीतर के चेतन की शक्ति और प्रकाश अधिक २ प्रकट होने लगते हैं। मनुष्यसृष्टि इस ऊर्द्धगति के सर्ग में है, अतएव मनुष्य का धर्म है कि उपाधियों की प्रकृति को शुद्ध और सूक्ष्म बना कर जीवात्मा की शक्ति और प्रकाश का विशेष विकाश करे। चित्र के वाम भाग का सर्ग सृष्टि के उद्भव होने के लिये अधोगमन गति का सर्ग है और दक्षिणभाग ऊर्द्धगमन का सर्ग है। अधोगमन कार्य्य में मूल प्रकृति मुख्य है और ऊर्द्ध्वगमन कार्य्य गायत्रीशक्ति द्वारा होता है। ऊर्द्ध्वगमन में भी दोनों मार्गों का आश्रय लिया जा सकता है। जो लोग दक्षिणमार्ग की अधिष्ठात्री गायत्री और महेश्वर को नहीं मानते वे मूल प्रकृति के मार्ग से परब्रह्म में सम्मिलित होना चाहते हैं जिसके कारण वे तम में आवृत्त रह जाते हैं और तम के पार नहीं जा सकते, क्योंकि प्रकाश देनेवाली और त्रिगुण से त्राण करनेवाली जो पराशक्ति है उसका और उसके पति महेश्वर का आश्रय उनको नहीं मिलता, अतएव विना प्रकाश की सहायता के प्रकृति के राग को अतिक्रम कर नहीं सकते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय ७ में लिखा है:—

"दैवीह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्तिते ॥१४॥ मेरी त्रिगुणात्मिका माया अत्यन्त दुस्तर है। मुझको अनन्यभाव से जो भजते हैं वेही इस माया को तरते हैं। यह मूल प्रकृति की शक्ति नीचे लेजानेवाली है और इसकी सहायता से कोई ऊपर जा नहीं सकता। और भी परब्रह्म जीवात्मा

द्वारा कदापि ज्ञेय नहीं है, अतएव उसकी प्राप्ति अथवा ज्ञान उसका कदापि हो नहीं सकता। इस सृष्टि का आदि कारण परमेश्वर है और यही लक्ष्य है, अतएव जीवात्मा को उसी की प्राप्ति का लक्ष्य रखना चाहिये, किन्तु उस महेश्वर की प्राप्ति बिना उसकी पराशक्ति गायत्री की सहायता के हो नहीं सकती, अतएव सबसे प्रथम यत्न उस विद्याशक्ति के आश्रय में जाने का करना चाहिये। वह कौन है जो विद्याशक्ति की सहायता से महेश्वर में सम्मिलित होगा? वह कारण शरीर का अभिमानी प्राज्ञ ही है जो महेश्वर का साक्षात् प्रियपुत्र है और महेश्वर में सम्मिलित होने के योग्य है और सम्मिलित होकर उनकी आदि इच्छा "बहुस्याम्" की पूर्ति करना उसका परम धर्म है। यह प्राज्ञ अविनाशी है और जन्म २ में विद्यमान रहता है, क्योंकि इसकी उपाधि कारणशरीर भी बीज की भांति है और यह भी मरने के बाद नाश नहीं होती। स्थूल शरीर के नष्ट होनेपर सूक्ष्मशरीर भी कुछ दिनों के बाद नष्ट हो जाता है किन्तु कारणशरीर का नाश नहीं होता और प्रत्येक जन्म का संस्कार इस शरीर में संचित रहता है, अतएव यह बीज रूपी खजाना है। अन्तःप्रज्ञ (नं ८) और विश्व (नं ७) जीवात्मा प्राज्ञ के केवल मजदूर के समान हैं जो सृष्टि में कार्य्य करने के लिए भेजे जाते हैं और प्रत्येक जन्म के बाद विश्व अपना अनुभवरूपी उत्तम फल तेजोभिमानी को देकर और तेजोभिमानी प्राज्ञ को देकर उसमें लय होजाते हैं। देखो कर्म पृष्ठ ३२। इस से यह सिद्ध हुआ कि तीनों में केवल प्राज्ञ ही मुख्य है और इसी को "आत्मा" और "जीवात्मा" भी कहते हैं। किन्तु यह प्राज्ञरूपी आत्मा हमलोगों का एकदम अज्ञात है और इसका अस्तित्व भी साधारण लोगों को अर्थात् उनके स्थूल शरीर के चेतन विश्व को ज्ञात नहीं है। ज्ञानयोग का मुख्योद्देश्य इस प्राज्ञरूपी आत्मा का ज्ञान प्राप्ति कर उसमें स्थिति करना है। साधारण लोगों में यह प्राज्ञ "सुषुप्ति" अवस्था में अज्ञान में पड़ा हुआ है, किन्तु ज्ञानयोग का उद्देश्य है कि वहां विद्या द्वारा अज्ञान को नाशकर इस प्राज्ञ को जागृत करना। बिना इस प्राज्ञ को जागृत और वहां का अन्धकार नाश किए और इस में स्थिति पाये महेश्वर की ओर अग्रसर कोई हो नहीं सकता। क्योंकि जैसा

पहिले कहा जा चुका है प्राज्ञ ही महेश्वर का साक्षात् अंश अथवा प्रिय पुत्र अथवा प्रिय सहचरी शक्ति है जो पराशक्ति रूपी प्रकाश से शुद्ध होकर उसकी सहायता से परम प्रियतम महेश्वर की गोद में जा सकती है और उनके कृपाकटाक्ष का आनन्द लाभ कर सकती है।

परमात्मा एक है, और वही अपनी प्रकृति द्वारा संसार का मूल है जो वाह्य दृष्टि से नानाभाव से भासता है। पराशक्ति चेतनात्मक है और मूल प्रकृति सब उपाधियों और क्षेत्रों का कारण है, जीवात्मा (प्राज्ञ) यथार्थ में अक्रिय है (कुछ नहीं करता) और सब कर्म प्रकृति के गुणों के द्वारा किये जाते हैं, जिस गुणमयी प्रकृति ने जीवात्मा को परदे की तरह आच्छादन कर रक्खा है। एक वस्तु का दूसरी वस्तु में परिवर्तन (बदलना), जन्म, वृद्धि, और नाश ये जो प्राणियों का चक्राकार सतत परिवर्तन है वह प्रकृति के गुणों का कार्य्य है, गुण चक्राकार की भांति घूमते हैं किन्तु आत्मा इन से असंग और निर्लेप रहता है। जीव अविद्या के संग के कारण अपने यथार्थ स्वरूप को भूल के माया के कार्य्यों को अपने में अध्यारोप करता है, उन का कर्ता अपने को जानता है और उन में आसक्ति रखता है अतएव वह फंस जाता है। सब आकार नाशवान होने के कारण असत् हैं केवल एक ब्रह्म सत् है जिस के संकल्प में यह विश्व है अतएव यह सब उन की लीला है। जैसा पूर्व में भी कहा है ज्ञानमार्ग का लक्ष्य क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का ज्ञान प्राप्त करना है जैसा कि क्षेत्र क्या है और कितने हैं? क्षेत्रों में जो क्षेत्रज्ञ (विश्व, तैजस और प्राज्ञ) हैं वे क्या हैं? क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ में क्या सम्बन्ध है? इत्यादि का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करना है। क्षेत्रज्ञ का ज्ञान क्षेत्रों (कोशों) से उसे पृथक् देखने से होता है जो देखना ज्ञानयोग द्वारा होता है। क्षेत्र क्षेत्रज्ञ आदि के विषय के सिद्धान्त वाक्यों का उपदेश आचार्य्य द्वारा पाने पर (श्रवण करने पर) उन के मनन निदिध्यासन * करने में साधक

---

* 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः'

बृहदारण्यक उपनिषत्।

अरे! आत्मा को देखना, सुनना, मनन करना और निदिध्यासन करना चाहिये।

प्रवृत्त होता है और उसे तावत्काल पर्य्यन्त करता रहता है जब तक कि उस को जीवात्मा का अपरोक्षज्ञान कोशों और शरीरों से पृथक् न हो जाय ; इसी मनन निदिध्यासन के अभ्यास को ज्ञानयोग कहते हैं। मनन ज्ञान के विषयों को एकाग्र और अनन्यचित्त हो चिंतन करना है, जिस के अनेक काल के अभ्यास के पश्चात् साधक को उन में संशय और विपरीतभावना तनक भी नहीं रहती। मनन में सिद्धांतों के पूर्वापर विषयों का भी चिंतन किया जाता जो अल्पकाल के लिये नहीं होता किन्तु ऐसा मनन लगातार अनेक काल तक सतत किया जाता है और व्यवहार में भी उस मननात्मक निश्चय को बनाये रहना पड़ता है और उसी अनुसार व्यवहार में भी वर्तना पड़ता है जो ज्ञानयोग में अत्यन्तावश्यक है। मनन द्वारा जो संशय रहित निश्चयात्मक ज्ञान प्राप्त हुआ उस के निचोड़ (मुख्य सिद्धांत) को लेके उस पर निरंतर तब तक ध्यान करते ही रहना जब तक वह ज्ञान प्रत्यक्ष न हो जाय उस को निदिध्यासन कहते हैं। जैसा कि यदि क्षेत्रज्ञ को क्षेत्र से पृथक् देखने की चेष्टा चिंतन मनन द्वारा की जाय तो उस में दोनों की भावना प्रारम्भ में वर्त्तमान रहेगी, क्षेत्र को असत् भावना कर उस में से चित्त को हटा के अनेक काल तक केवल क्षेत्रज्ञ में चित्त रखने की निरंतर चेष्टा करने पर फिर केवल क्षेत्रज्ञ ही की भावना रह जायगी, जिस के बाद निदिध्यासन प्रारम्भ होगा और उस के द्वारा केवल एक क्षेत्रज्ञ में ध्यान करने से उस का अपरोक्ष ज्ञान होगा।

ज्ञान योग में जैसा साधन चतुष्टय की प्राप्ति आवश्यक है, उसी प्रकार मनन निदिध्यासन का निरंतर अभ्यास करना भीपरमावश्यक है। किन्तुशोक है कि जैसे लोग साधनचतुष्टय की प्राप्ति के निमित्त यत्न नहीं करते उसी प्रकार मनन निदिध्यासन का भी अभ्यास नहीं करते और परिणाम यह होता है कि न वे अधिकारी होते और न ज्ञान प्राप्त करते। बिना अविरल मनन निदिध्यासन के ज्ञान का प्रकाश कदापि हो नहीं सकता। ज्ञान केवल विश्वास नहीं है अथवा बुद्धि की धारणा मात्र नहीं है किन्तु यह ऐसाही है जैसा कि प्रकाश होने पर अन्धकार का नाश हो जाना और जो पहिले नहीं देखने में आता था उस को प्रत्यक्ष

देख लेना । द्वीघ निदिध्यासन से कारण शरीर के जीवात्मा का प्रत्यक्ष ज्ञान सम्भव है । लिखा है:—

स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवञ्चोत्तरारणिम् । ध्याननिर्मथनाभ्यासादेवं पश्येन्निगूढ़वत् ॥ श्वेताश्वतरोपनिषत् । अपने शरीर को नीचे की लकड़ी मान और प्रणव (ॐ) को ऊपर की मान अनेक कालतक चलता हुआ ध्यान रूपी रगड़ द्वारा परमात्मा को वहां छिपे हुए की नांई देखो । यही यथार्थ में निदिध्यासन है और इस में प्रणव के जप और उस के अर्थ (जो माण्डूक्योपनिषद् में कथित है) की भावना की भी परमावश्यकता है ।

प्रथम मनन निदिध्यासन द्वारा अन्नमय कोश का ज्ञान प्राप्त करना होगा, फिर उस के बाद प्राणमय कोश का, फिर मनोमय और विज्ञानमय कोश का और ऐसे ही क्रमशः एक कोश के बाद दूसरे कोश के अपरोक्ष ज्ञान को प्राप्त करते २ विज्ञानमय कोश तक पहुंचने पर अंत में क्या है ? इस का ज्ञान (भास) आनन्दमय कोश में होता है । तैत्तिरीयोपनिषद् के तृतीय भृगुवल्ली के प्रथम अनुवाक में इस ज्ञानयोग की इस साधनाका भलीभांति वर्णन है:—वरुण के पुत्र भृगु ने अपने पिता से ब्रह्म के विषय में उपदेश चाहा, वरुण ने भृगु को प्रथम अन्न, प्राण, चक्षु श्रोत्र, मन और वाचा को समझा के ऐसा कहा " जिस से यथार्थ में इन भूतों की उत्पत्ति होती है, उत्पन्न होने पर जिस के द्वारा ये जीते हैं, जिस में ये चले जाते हैं और प्रवेश करते हैं, उसी के जानने की चेष्टा करो, वही ब्रह्म है " भृगु ने पिता के आज्ञानुसार मनन निदिध्यासन किया और यह निश्चय किया कि अन्न ब्रह्म है, क्योंकि उस ने सोचा कि यथार्थ में अन्न ही द्वारा इन भूतों की उत्पत्ति होती है, उत्पन्न होने पर अन्न ही द्वारा ये जीते हैं, अन्न ही में जाते हैं और प्रवेश करते हैं । ऐसा निश्चय कर भृगु ने फिर अपने पिता के निकट जा ब्रह्म के विषय में उपदेश चाहा, उनने कहा " तपसाब्रह्म विजिज्ञासस्व । तपो ब्रह्मेति " । तप अर्थात् मनन ध्यान द्वारा ब्रह्म के पाने की चेष्टा करो ; तपस्या ब्रह्म है । भृगु ने फिर मनन निदिध्यासन किया और तब निश्चय किया कि प्राण ब्रह्म है और ऐसा निश्चय कर फिर अपने पिता के निकट आके ब्रह्म के विषय में उपदेश चाहा ।

फिर पिता ने पहले की भांति वही कहा कि तप (मनन ध्यान) द्वारा ब्रह्म के पाने की चेष्टा करो, तपस्या (मनन ध्यान) ब्रह्म है। फिर भृगु ने मनन ध्यान किया और तब निश्चय किया कि मन ब्रह्म है और फिर ऐसा निश्चय कर फिर अपने पितासे ब्रह्म के विषय में उपदेश चाहा, पिता ने फिर वही कहा जो पहिले कहा था। फिर भृगु ने मनन ध्यान किया और निश्चय किया कि विज्ञान ब्रह्म है और फिर पिता के निकट उपदेश के निमित्त जाने पर पिता ने उन को फिर पहले की भांति वही कहा। फिर भृगु ने मनन ध्यान रूप तप किया और निश्चय कर के जाना कि आनन्द ब्रह्म है जिस आनन्द से यथार्थ में ये भूतगण उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होने पर उसी (आनन्द) से जीते हैं फिर उसी आनन्द की ओर जाते हैं और उसी में प्रवेश करते हैं। ऊपर की कथा से प्रकट होता है कि वरुण आचार्य्य के उपदेशानुसार भृगु ने मनन निदिध्यासन द्वारा प्रथमवार अन्नमय कोश को जाना फिर क्रमशः प्राणमय कोश, मनोमय कोश और विज्ञानमय कोश का ज्ञान प्राप्त कर अंततः आनन्दमय कोश में जीवात्मा को पा कृतकृत्य हुए। ऐसे ही ज्ञानयोगी धीरे २ प्रत्येक कोश का ज्ञान प्राप्त कर अन्ततः आनन्दमय कोश अथवा कारण शरीर में जा जीवात्मा में स्थित होता है। किन्तु यह स्थिति यथार्थ और प्रत्यक्ष है जो निदिध्यासन के दीर्घ अभ्यास से होती है और केवल बुद्धि द्वारा निश्चय करना ज्ञान नहीं हैं और न वह आत्मप्राप्ति है।

ज्ञानी सर्वत्र एक आत्मा को देखता है अतएव उसको आत्मा की दृष्टि से सब समान हैं। वह नीच में भी और उच्च में भी, धूल के परमाणु में भी और सूर्य्य में भी, अधम में भी और उत्तम में भी, दुराचारी में भी और धर्मिष्ठ में भी और ऐसे ही सर्वत्र एक ही आत्मा को देखता है। संसार में प्रत्येक प्रकार के पदार्थ, अवस्था और भाव जो हैं उनके ज्ञान प्राप्त करने की आवश्यकता है और ऐसा ज्ञान प्राप्त करने के बाद ही परम ज्ञान की प्राप्ति होती है, अतएव जीवात्मा जैसे उत्तम, सुन्दर और सुभग वस्तु के द्वारा उनका ज्ञान (तजरुवा) प्राप्त करता है वैसा ही अशुभ, अमंगल और घृणित के द्वारा भी जानना चाहिये, अतएव ज्ञानी के लिये न कुछ निकृष्ट है और न उत्तम है, सब उस एक के अंश हैं

जो वर्तमान सृष्टि के निमित्त आवश्यक हैं। संसार में जो कुछ है उन सबों का अपना २ नियत स्थान है, अपनी २ दशा है, अपने २ काम करते हैं और अपने २ लिये अनुभव (तजरुबा) प्राप्त कर रहे हैं, क्योंकि ब्रह्म अनन्त है, और उस के एक अंश का भी प्रकाश अनन्त प्रकार का होना चाहिये। अतएव श्रीकृष्ण महाराज ने कहा " द्यूतं छलयतामस्मि " मैं छलियों में जूआ हूं। ज्ञानी सब कर्मों को करता हुआ भी अकर्त्ता है और सांसारिक पदार्थों से आवेष्टित रहने पर भी उन सबों से वह न्यारा है, क्योंकि वह शरीरों और कोशों से अपने को पृथक् आत्मा जानता है, और सांसारिक पदार्थों को असत् जान उन में कुछ भी आसक्ति नहीं रखता। महा-भारत शान्तिपर्व अ० १७८ में राजा जनक का वचन है—

अनन्तं बत मे वित्तं यस्य मे नास्ति किञ्चन।
मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे किञ्चन दह्यते॥

अनन्त धन मेरा कहा जाता है तथापि मुझ को यथार्थ में कुछ नहीं है, यदि मिथिला की मेरी राजधानी भी जलने लगे, तथापि मेरा कुछ भी नहीं जलेगा। उपनिषद् का वचन है " सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन "। निश्चय कर के ये सब (एक) ब्रह्म ही के रूप हैं यहां कुछ भी नानात्व नहीं है। इस प्रकार ज्ञान होने से प्रत्येक बंधन टूट जाते, इच्छायें नाश हो जातीं और मन की वृत्तियां स्थिर हो जातीं ऐसा ज्ञानी शरीर और मन से कर्म को करते भी यथार्थ में कुछ भी नहीं करता।

स्मरण रखना चाहिये कि केवल वेदान्त के पुस्तकों के पढ़ने से और तर्क द्वारा वेदान्त के सिद्धान्तों को समझने से कोई ज्ञानी नहीं हो सकता जैसा कि इसके पहले भी कहा गया है। शास्त्र-पठन विवेक के लिए है किन्तु ज्ञान की प्राप्ति अभ्यास द्वारा होती है। शास्त्र में पाण्डित्य होने से विषय का बुद्धि द्वारा ज्ञान अवश्य होता है, किन्तु यह निकृष्ट है और इस से आत्मा का साक्षात्कार नहीं होता। श्रीमद्भगवद्गीता के अध्याय ६ के ४६ वें श्लोक के भाष्य में 'श्रीशंकराचार्य' ने भी इसका कथन किया है जैसाकि ' ज्ञानमत्र शास्त्रपाण्डित्यं " अर्थात् यहां ज्ञान से तात्पर्य्य शास्त्र में पण्डिताई से है। आत्मज्ञान की प्राप्ति बड़ा कठिन है। कठोपनिषद् में लिखा है कि—

अणीयान् ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात् ॥ नैषा तर्केण मतिरापनेया ॥ नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः । नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥

वह (आत्मा) निश्चय ही सूक्ष्म से भी सूक्ष्म और सब तर्क से परे है। यह (आत्मभाव) तर्क से नहीं प्राप्त हो सकता। जिस ने कुत्सित कर्म को करना नहीं छोड़ा, जिस को इन्द्रियां वश न हुईं, जिस का मन एकाग्र न हुआ, और जिस का चित्त शांत न हुआ, ऐसे (पुरुष) केवल पुस्तकजनित ज्ञान के द्वारा आत्मा को प्राप्त नहीं कर सकते। आत्मा की प्राप्ति कैसे हो इस विषय में उपनिषद् का ऐसा वचन है—

तन्दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितङ्गह्वरेष्ठम्पुराणम् । अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥

कठ ।

तिलेषु तैलं दधनीव सर्पिरापः स्रोतःस्वरणीषु चाग्निः । एवमात्मात्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति ॥

श्वेताश्वतर ।

तस्याभ्यासो दमः कर्म्मेति प्रतिष्ठा । वेदाः सर्वाङ्गाणि सत्यमायतनम् ॥

केनः ।

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम् । अन्तःशरीरे ज्योतिर्मयो

हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः ॥ न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा। ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ॥

मुण्डक।

आत्मा कठिनता से देखा जानेवाला है, गुप्त रीति से व्याप्त है, हृदय में टिका हुआ है, गुहा में छिपा है और सनातन है, अध्यात्म योग के ज्ञान द्वारा विद्वान पुरुष परमात्मा को जानकर, हर्ष और शोक को त्याग करता है। जैसा तेल तिल में, घी दही में, जल झरने में और अग्नि काष्ठ में गुप्त रहती है, वैसाही परमात्मा आत्मा में (है), (वह) उस के द्वारा पाया जाता है जो उस को सत्य और ध्यान द्वारा खोजता है। अभ्यास, दम और सदाचार उस (ज्ञान) के आश्रय हैं, वेद अंग हैं और सत्य उस के रहने का स्थान है। यह आत्मा केवल सत्य, ध्यान, सम्यक्ज्ञान और स्थायी शम दम से मिलता है, वह शरीर के भीतर ज्योतिःस्वरूप से जाज्वल्यमान है जिस को यतिलोग पापरहित होने पर देखते हैं। वह (आत्मा) नेत्र से ग्राह्य नहीं हो सकता, वाक्यद्वारा भी नहीं, दूसरी शक्तियों से भी नहीं और केवल ध्यान एवं उत्तम कर्मों के द्वारा भी नहीं (मिल सकता); किन्तु शुद्धांतष्करण हो,के ज्ञान प्राप्त करने हो पर (देखने में आता है), उस के पूर्व नहीं; ध्यान द्वारा वे उस को अनवच्छिन्न देखता है। किन्तु आज कल बहुत से ऐसे हैं जो केवल वचन से ज्ञानी हैं, जो सिद्धांत के वाक्यों को कहा करेंगे किन्तु उन को आत्मा अथवा यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई, जो कहते हैं कि "मैं ब्रह्म हूं" किन्तु प्रत्येक वस्तु के संसर्ग और वटना से क्षुभित होते हैं, जिन को शम दम की प्राप्ति नहीं हुई है और जो इन्द्रियों के विषयों को भोगना चाहते हैं और अपने कुत्सित स्वभाव पर परदा देने के लिये कहते हैं कि "यह केवल शरीर चाहता है, मैं असंग हूं", ऐसे पुरुष भ्रम में पड़े हैं और जान के अथवा अनजाने मिथ्याचारी हो रहे हैं। यथार्थ ज्ञानी गुणों का पराभव कर और आसक्ति को त्याग शरीर-

द्वारा कर्म करता है किन्तु उस में लिप्त नहीं होता, वह गुणों को सांसारिक कर्तव्यों के साधन में लगाता है किन्तु उन से न वह बलात् प्रेरित हो सकता और न क्षुभित हो सकता है। जो विषय-वासना को रोक नहीं सकता और कहता है कि "यह केवल शरीर है जो कर्म करता है, मैं ब्रह्म हूं" ऐसा पुरुषवाचक ज्ञानी है, यथार्थ ज्ञानी नहीं है, और वह ज्ञान की ओट में छिप अपने कुत्सित कर्म के कारण अधोगति को जायगा। ज्ञानी सेवक की भांति गुण-रूपी प्रभु द्वारा प्रेरित हो के कर्म नहीं करता, किन्तु स्वतः स्वच्छन्द और प्रभु की तरह होके अपना कर्तव्य करता है। शरीर और इन्द्रिय के अधीन हो के केवल वचन द्वारा ज्ञानमार्ग का अनुसरण करना और ज्ञान की बातों को कहना किन्तु आचरण ज्ञानी के ऐसा नहीं रखना, ऐसा करने से उस जीव की उन्नति में बाधा पड़ती है और वह प्रमाद में पड़ता है। आज कल साधन-चतुष्टय की प्राप्ति के निमित्त यत्न न कर और निष्काम कर्म और अभ्यास-विहीन रहने पर भी लोग एकदम सीधे ज्ञानी होना चाहते हैं जो कलियुग का प्रभाव है। किसी ने कहा है कि " कलौ वेदान्तिनः सर्वे " कलियुग में लोग विशेष कर वेदान्तवादी होंगे। गोस्वामी तुलसीदासकृत रामायण के उत्तरकांड में लिखा है:—

दोहा।

ब्रह्मज्ञान बिनु नारि नर, कहहिं न दूसरि बात।
कौड़ी कारन मोह बस, करहिं बिप्र गुरु घात॥

आजकल वेदान्त की ओट में कुत्सित आचरण किये जाते हैं, रागी अपने को वैरागी समझते हैं जिस से अनेक हानि हो रही है। पूर्वकाल में केवल अधिकारी को वेदान्त का उपदेश किया जाता था, जिस की इच्छाएं और वासनाएं नाश हो गई थीं, मन और इन्द्रियां वश हो गई थीं और जिस को पूर्ण वैराग्य था उसी को आचार्य्य वेदान्त का उपदेश करते थे और उपदेश पा ही के कोई अपने को ज्ञानी नहीं मान लेता था किन्तु अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त करने के लिये अनेक काल तक ज्ञानयोग का अभ्यास करता था। ज्ञानी वह है जिस का आचरण भी ज्ञानीसदृश है, जो सदा समान रहता है, व्यवहार में भी अपने ज्ञान के अनुसार वर्तता है और जिस

का आत्मा का साक्षात्कार हुआ है। जो व्यवहार और आचरण में अज्ञानी के ऐसा और केवल कथन में ज्ञानी के ऐसा है वह कदापि ज्ञानी नहीं है। ज्ञानमार्ग भी अत्यन्त कठिन है और सब कोई इस के अनुसरण करने योग्य नहीं हैं। कठोपनिषद् का वचन है--

क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया
दुर्गम्पथस्तत्कवयो वदन्ति।

जैसे चोखे छुरे की धार पर चलना कठिन है वैसे ही मनुष्यों के लिये ज्ञानमार्ग से चलना अत्यन्त कठिन है, ऐसा ऋषि लोग कहते हैं। इस में जो पहिले भृगु के ज्ञान प्राप्त करने की कथा लिखी गई है उस से प्रकट होता है कि केवल पढ़ने और सुनने से ज्ञान प्राप्त नहीं होता, अनेक काल तक सिद्धांतवाक्यों का विचार, मनन और निदिध्यासन करने से क्रमशः एक २ सिद्धांत का अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त होता है।

ज्ञानमार्ग का ठीक २ अनुसरण करने से और मनन निदिध्यासन की परिपक्वता से साधक जीवात्मा (प्राज्ञ) जो कारण-शरीर में है वहां तक जाता है और वही इसका मुख्यलक्ष्य है जो पहिले भी कहा जाचुका है। किसी २ ज्ञानी को केवल "जीवात्मा" में यत्परोनास्ति भाव रखने से और भक्तिद्वारा परमात्मा की ओर आगे बढ़ने का यत्न नहीं करने से आत्माभिमान हो जाता है जिस के कारण वह केवल अपनीही मुक्ति चाहता और दूसरों की भलाई करने में प्रवृत्त नहीं होता, अतएव ऐसे ज्ञानी का कभी न कभी अवश्य पतन होता है। केवल ज्ञानी कारणशरीर अथवा आनन्दमय कोश से ऊपर नहीं जा सकता जिस के ऊपर केवल भक्तिद्वारा जाना सम्भव है, अतएव ज्ञान अंतिम मार्ग नहीं है, किन्तु इस के परे भक्तिमार्ग है। यहां हम ने केवल क्षेत्रक्षेत्रज्ञ के ज्ञान प्राप्त करने से जो ज्ञान होता है उस का वर्णन (जिक्र) किया है किन्तु यह ज्ञान उस ज्ञान से भिन्न है जिस का वर्णन श्रीशंकराचार्य्य ने अपने ग्रन्थोंमें किया है जिस को विज्ञान कहते हैं जो भक्ति को प्राप्ति कर सद्गुरु के मिलने पर उन के द्वारा राजविद्या की दीक्षा के मिलने से प्राप्त होता है। दीक्षाओं का

वर्णन इस पुस्तक के अंत के भाग में है। श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय ४ में इस विज्ञान को ज्ञानयज्ञ और अध्याय ९ में "राज-विद्या" कहा है और श्रीभगवानने उक्त राजविद्या क्या यथार्थ में है यह न बताकर उपदेश दिया कि "तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया। उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ३४ (अ० ४) हे अर्जुन। तत्व को प्रत्यक्ष देखनेवाले विज्ञानी जन, प्रणिपात अर्थात् आत्मसमर्पण करने से, परिप्रश्न अर्थात् निरंतर उत्कट अभिलाषा रखने से और सेवा अर्थात् उनके प्रीतिकारी कर्म के करने से तुझ को यह ज्ञान प्रदान करेंगे, ऐसा जान। अध्याय ९ में राजविद्या के सम्बन्ध में श्रीभगवानने कहा कि "महात्मानस्तु मां पार्थ! दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः। भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् १३। हे पार्थ! महात्मा लोग दैवी प्रकृति का आश्रय करके अनन्यचित्त होकर मुझको सारे प्राणियों के मूल और अविनाशी जान कर भजते हैं। राजविद्या दैवीप्रकृति और उस में स्थित महात्मा (सद्गुरु) के सम्बन्ध से ही प्राप्त होती है और इस में श्री भगवान का भजन (भक्ति) करनी मुख्य है यह इस श्लोक से प्रगट हुआ। यह पराशक्ति श्रीभगवानकी प्रिया, दासी, सेविका की भांति है और श्रीभगवान की इच्छा की पूर्ति करनी ही इसका उद्देश्य है, इसकारण इसकी कृपा उसीपर होती है जो उसके समान श्रीभगवान की सेवा और उपासना में भक्तिभाव से प्रवृत्त होते हैं। यथार्थमें विज्ञान बोधरूप है और इस की प्राप्ति होते ही सब प्रत्यक्ष भासने लगते हैं और "पराशान्ति" मिलती है (ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ३९ गीता अ० ४)। शास्त्र के स्वतः पढ़ने से केवल विवेक होता है और साधन-चतुष्टय होने पर योग्य आचार्य्य द्वारा सिद्धान्त श्रवण करने पर और उसका मनन निदिध्यासन करने पर जो ज्ञान होता है उस से कारणशरीर में जो "प्राज्ञ" है वहां तक साधक जा सकता है यदि उपयुक्त साधना और पुरुषार्थ किए जाएँ। किन्तु आज कल क्रम से साधना नहीं की जाने के कारण और ज्ञानमार्ग को सुलभ समझने के कारण यह अवस्था भी बिरले ही लोगों को प्राप्त होती है। साधारण शास्त्र ज्ञानी प्राज्ञ तक भी नहीं जाते, केवल स्थूलशरीर में ही अटके रहते हैं। प्राज्ञ से ऊपर श्रीभगवान की प्राप्ति केवल भक्तिद्वारा सद्गुरु मिलने पर उन की दी हुई राजविद्या की दीक्षा

से ही होती है, जिस अवस्था को कोई विज्ञान, कोई परमबोध और कोई पराभक्ति कहते हैं ।

जो ज्ञानी में सम बुद्धि होती, सब भूतों के प्रति आत्मदृष्टि से दया रहती और उन की भलाई करने में निष्काम भाव से प्रवृत्त होते, उन्हींको भक्ति की प्राप्ति होती है और भक्ति प्राप्त कर ईश्वर-युक्त होते अन्यथा नहीं । अर्थात् ज्ञान के बाद ही भक्ति की प्राप्ति होती है । श्रीमद्भगवद्गीता में लिखा है—

संनियम्येंद्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥
ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति ।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥
भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥

"जो सब इन्द्रियों को वश कर के सब प्राणियों के प्रति समदृष्टि रखते और सब भूतों के हित करने में प्रसन्न रहते, ऐसे ही पुरुष मुझ को प्राप्त करते । जो ब्रह्म में स्थित होकर प्रसन्न रहता, न शोच करता और न इच्छा करता ; सब भूतों में समान दृष्टि रखता, वह मेरी पराभक्ति प्राप्त करता है । भक्ति से वह यथार्थ अपरोक्ष भाव से जानता है कि मैं क्या और कौन हूं, और मेरा अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त कर के वह शीघ्र मुझ में प्रवेश करता है ।" जो ज्ञानी परहितनिरत नहीं हैं केवल अपनी मुक्ति चाहते वे अनेक काल तक साधारण मुक्तावस्था में क्यों न रहें, किन्तु अंततः उन को भक्ति की प्राप्तिनिमित्त फिर जन्म लेना पड़ेगा, क्योंकि जब तक भक्ति द्वारा ईश्वर की प्राप्ति न होती तब तक यथार्थ शान्ति नहीं मिलती । केवल ज्ञान से एक मन्वन्तर तक के लिए मुक्ति की प्राप्ति हो सकती है किन्तु उस के बाद पुनरागमन सम्भव है । तब तक मुक्ति नहीं लेनी जब तक ईश्वर प्रकाशभाव (सगुणरूप) में रह के विश्व के पालन पोषण में प्रवृत्त हैं, यही ज्ञान और भक्ति की

एकता है और उसी के द्वारा साधक सिद्ध होता है। उपनिषद्
का वचन है—

आदिः स संयोगनिमित्तहेतुः परस्त्रिकालाद-
कलोऽपि दृष्टः । तं विश्वरूपं भवभूतमीड्यं देवं
स्वचित्तस्थमुपास्य पूर्वम् ॥५॥

तꣳह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं
प्रपद्ये ॥ १८ ॥

श्वेताश्वर ।

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो
गुहायाम् । तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुः
प्रसादान्महिमानमात्मनः ॥ २० ॥

कठ १ म अ० २ या वल्ली ।

प्रणवो धनुः शरोह्यात्मा ब्रह्मतल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥
भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥

मुण्डक।

यह आदि कारण की तरह मालूम पड़ता है, उसी द्वारा एकता प्राप्त होती है, त्रिकाल से परे है, वरन काल से ही परे है, किन्तु (एकता जभी प्राप्त होती है) जब उस विश्वरूप ईश्वर की जो उपास्य भक्ति स्वाभाविक रूप से की जाती है और जिस को (उस को) अपने चित्त में स्थित करना चाहिये। मैं मुमुक्षुभाव से उस ईश्वर के शरण में जाता हूं जो आत्मज्ञान का प्रकाश करनेवाला है। छोटे से छोटा (तौ भी) बड़े से बड़ा, इस जन्तु के हृदय में आत्मा रहता है, इच्छारहित होके और विगत

शोक होके उस को वह देखता है—ईश्वर के अनुग्रह से आत्मा के महत्व को (देखता है)। ओं धनु है, आत्मा शर है और ब्रह्म निशाना मारने का लक्ष्य है, केवल एकचित्त होने से यह वेधा जा सकता है, जैसे शर लक्ष्य के साथ युक्त हो जाता है वैसे ही उस ब्रह्म के साथ एक हो जाना चाहिये । हृदय की ग्रन्थि टूट जाती, सब संशय नाश हो जाते, कर्म भी नाश हो जाते (फल द्वारा बद्ध नहीं कर सकते) जब कि एक बार भी आत्मा परमात्मा को देख लेता है ।

श्रीगोस्वामी तुलसीदास जी का वचन है :—

चौपाई ।

जाने बिनु न होइ परतीती ।
बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती ॥
प्रीति बिना नहिं भक्ति दृढ़ाई ।
जिमि खगेस ! जल की चिकनाई ॥
बिमल ज्ञान जल पाइ अन्हाई ।
तब रहु रामभक्ति उर छाई ॥

दोहा ।

ब्रह्म पयोनिधि मंदर, ज्ञान संत सुर आहि ।
कथा सुधा मथि काढ़ई, भक्ति मधुरता जाहि ॥
बिरति चर्म असि ज्ञानमद, लोभ मोह रिपु मारि ।
जय पाई सोइ हरिभगति, देखु खगेस ! बिचारि ॥

भक्तियोग
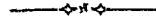
अवतरणिका ।

साकार और अवतार-तत्त्व ।

ज्ञानयोग के प्रकरण में यह कहा गया है कि ज्ञानयोग के सांगोपांग साधना में सिद्धिलाभ होने पर साधक की स्थिति कारणशरीरके "प्राज्ञ" में हो सकती है जिस का लाभ भी इस काल में बड़ा कठिन है किन्तु इस से ऊर्द्ध्व जो श्रीभगवान महेश्वर हैं उन की प्राप्ति बिना भक्ति के लाभ हुए कदापि हो नहीं सकता । जिस विज्ञान की प्राप्ति से परमात्मा का साक्षात्कार होता है वह तो भक्ति ही का रूपान्तर है किन्तु केवल शास्त्रजनित ज्ञान से भक्ति बहुत श्रेष्ठ है ।

लिखा है—

तदेव कर्मिज्ञानियोगिभ्य आधिक्य शब्दात् ,
साम्मुख्येतरापेक्षितत्त्वात् ॥

शाण्डिल्यसूत्र ।

सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा,
फलरूपत्वात् ॥

नारदसूत्र ।

भक्ति ही मुख्य है, क्योंकि भक्त (सकाम) कर्मी (शास्त्र) ज्ञानी और (भक्ति हीन) योगी इन सबों से श्रेष्ठ कहा गया है ।

भक्ति मुख्य है, क्योंकि इतरयोग ज्ञानादिकों में भी इस की अपेक्षा रहती है ॥ वह भक्ति कर्म, ज्ञान, और योग तीनों से बहुत श्रेष्ठ है । क्योंकि कर्म, ज्ञान और योग ये साधन हैं और भक्ति इन का फल रूप है । भागवत १० म स्कंध का वचन है—

श्रेयः स्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो
क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये ।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते
नान्यद् यथा स्थूलतुषावघातिनाम् ॥ ४ ॥

अ० १४ ।

दानव्रततपोहोमजपस्वाध्यायसंयमैः ।
श्रेयोभि र्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते २४

और—

अ० ४७ ।

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥२॥
क्लेशोऽधिकतरस्तेषा मव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गति र्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥५॥

गीता अ० १२ ।

हे भगवन ! तुम्हारी मंगल करनेवाली भक्ति को त्याग करके जो केवल ज्ञानलाभनिमित्त क्लेश करते हैं, उन का क्लेशमात्र ही शेष रहजाता है (क्लेशही फल होता है) और कुछ नहीं रहता (मिलता), जैसे भूसा (जिस के भीतर अन्न की कणा नहीं है) को कूटने से कोई फल प्राप्त नहीं होता । दान, व्रत, तप, होम, जप, यज्ञ, वेदपाठ, इन्द्रियनिग्रह और अनेक प्रकार के कल्याण के उपाय इन सबों के करने का फल यही है कि श्रीकृष्णचंद्र में भक्ति हो ॥ जो पुरुष मुझ में मन को एकाग्र करके रखता है और सात्विक श्रद्धायुक्त होकर मेरे सगुण स्वरूप की उपासना करता है मेरे मत में वही उत्तमोत्तम योग में है ॥ निर्गुणब्रह्म में चित्त को लगानेवाले पुरुषों को अधिक क्लेश होता है, क्योंकि निर्गुण ब्रह्म की प्राप्ति देहाभिमानी को बड़ेही क्लेश से होता है ।

और भी गीता का वचन है:—

भक्त्यात्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं दृष्टुं च तत्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप ॥ ५४

अ० ११

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम् ॥ ५४ ॥

अ० १८

हे परन्तप अर्जुन! ऐसा मैं केवल एक अनन्य भक्ति से जानने, देखने और पूर्णरूपसे प्राप्त होने के योग्य हूं। सब भूतो में समबुद्धि रखनेवाला, ब्रह्म (ब्राह्म रूप चेतन) को प्राप्त हुआ वह प्रसन्नचित्त किसी प्रकार शोक वा अभिलाषा को नहीं करता, और तब मेरी परमभक्ति का लाभ करता है। श्रीमद्भागवत का वचन है—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्थाअप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः ॥ १० ॥

स्कंध १, अ० ७

ज्ञानवैराग्ययुक्तेन भक्तियोगेन योगिनः।
क्षेमाय पादमूलन्ते प्रविशन्त्यकुतोभयम् ॥ ४२ ॥

स्कंध ३, अ० २५

या निर्वृतिस्तनुभृतान्तवपादपद्म
ध्यानाद्भवज्जनकथाश्रवणेन वा स्यात्।
सा ब्रह्मणि स्वमहिमन्यपि नाथ माभूत्
किन्त्वन्तकासिलुलितात्पततां विमानात् ॥ १० ॥

स्कंध ६, अ० ४

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव ! ।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता ॥ २०॥
भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयात्मा प्रियः सताम् ।
भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवात् ॥२१॥

स्कं० ११. अ० १४

भक्तियोगेन मन्निष्ठो मद्भावाय प्रपद्यते ॥ ३२ ॥
तस्माद्देहमिमं लब्ध्वा ज्ञानविज्ञानसम्भवम् ।
गुणसङ्गं विनिर्धूय मां भजन्तु विचक्षणाः ॥ ३३ ॥

स्कंध ११, अ० २५

आत्म (आज्ञ) निष्ठ मुनिलोग जो संसारबंधन से छूटे हुए हैं, वे भी निष्काम भक्ति करते हैं । नारायण की ऐसी महिमा और ऐसे गुण हैं । ज्ञान-वैराग्य मिलित-भक्तियोग से योगी लोग निर्भय होकर आप (श्री भगवान) के चरणों के आश्रित होते हैं । और इसी से उन का कल्याण होता है । जो आनन्द आप (श्रीवासुदेव) के चरणकमलों के ध्यान से होता है या आप की कथा के कीर्तन श्रवण से होता है; वह आनन्द ब्रह्मज्ञान की दशा में नहीं होता । भला वह आनन्द उन को क्यों कर मिल सकता है जो यम के खड्ग से काटेगये विमान पर से गिर जाते हैं । न योग से, न सांख्यज्ञान से, न वेदविहित धर्म से, न वेद के पाठ और ज्ञान से, न तप से, न दानादि से मैं साध्य होता (मिलता) हूं, जैसा कि दृढ़ भक्ति से मिलता हूं । मैं (ईश्वर) सज्जनों का प्यारा प्राण हूं । केवल एक भक्ति ही से और विश्वास से लोग मुझे पा सकते हैं । मेरी भक्ति, कुत्ते का मांस खानेवाले चांडाल को भी उन के जन्म और कर्म के दोषों से, शुद्ध करती है । भक्तियोगसे मुझ (परमेश्वर) में निष्ठा करने से मुझ को प्राप्त होता है । इस कारण इस शरीर को पाकर जिस में ज्ञान विज्ञान की प्राप्ति सम्भव है, गुणके साथ संग त्याग कर बुद्धिमान मुझ (परमेश्वर) की भक्ति करें और भीः—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुंस्वाम् ॥ ३ ॥

मुण्डकोपनिषत् ३ मुण्डक २ खण्ड

यस्य देवे पराभक्तिर्यथादेवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिताह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः प्रकाशन्ते महात्मन इति ॥ २३ ॥

श्वेताश्वतरोपनिषत् अध्याय ६

न वेदाध्ययन से, न धारणा से, न बहुत शास्त्रों के ज्ञान से इस परमात्मा का लाभ होता है। जिस को यह अपना दर्शन देना चाहता है उसी को यह मिलता है और उसी को यह अपना रूप प्रकट करता है। जिस की इष्टदेव में पराभक्ति रहती है और इष्टदेव की भक्ति के समान गुरु में भी भक्ति रहती है उसी सत्पुरुष को वेद प्रतिपादित ब्रह्म का प्रकाश होता है। प्रकाश होता है।

जैसे विश्व का केन्द्र अर्थात् मूलबीज रूपी आधार महेश्वर हैं उसी प्रकार मनुष्य जीवन का केन्द्र कारणशरीर का "प्राज्ञ" है, जिस का ज्ञान और प्राप्ति सब से प्रथम आवश्यक है, क्योंकि बिना उस में स्थित हुए उस के उर्द्ध महेश्वर की प्राप्ति के लिए अग्रसर होना असम्भव है। ज्ञानयोग का मुख्य उद्देश्य कारण शरीरस्थ जीवात्मा की प्राप्ति करनी है, जिस के लिए प्राकृतिक बाह्य दृश्य और उसकी बनी उपाधि से "चेतन" को पृथक् करना ही उस की साधना है। ज्ञानमार्ग के साधक संसार को अनोर्वचनीय माया का कार्य्य मान उस को असत् समझता और उस से निः संग और पृथक रहने का यत्न करता है और उस का मुख्योद्देश्य सत् और चित् भाव को अपनी आत्मा में प्रत्यक्ष करने का रहता है किन्तु भक्ति मार्ग का उद्देश्य इससे उच्च है। भक्तिमार्ग में आने पर साधक का श्रीभगवान की प्राप्ति के लिए श्रीभगवान की पराशक्ति के आश्रय में आने की आवश्यकता होती है और उस

की कृपा से श्रीभगवान के परम "आनन्द" भाव का रसास्वादन करना इस मार्ग का मुख्योद्देश्य है, जो ज्ञानमार्ग में हो नहीं सकता। ज्ञानमार्ग में साधक को केवल अपने जीवात्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में आनन्द की प्राप्ति आनन्दमय कोश में स्थिति होने पर होती है, जिस रसास्वाद में अविद्या का लेश रहने के कारण उस से उस की तृप्ति नहीं होती और न परमशान्ति मिलती है और तब उस को आनन्द के सागर श्रीभगवान की प्राप्ति के लिए प्रबल पिपासा उत्पन्न होती है, जो उस को ईश्वरोन्मुख करती है। यह पिपासा भक्तिका बीज है। कितने लोग आनन्दमय कोश के ही रसास्वादन में लिप्त रह जाते हैं और उस के आगे बढ़ने की चेष्टा नहीं करते और यह नहीं समझते कि यह आनन्द यथार्थ आनन्द का केवल प्रतिबिम्बमात्र है, यथार्थ नहीं है, और अविद्याजनित होने से शान्तिप्रद नहीं है। जैसा कि गीता में लिखा है कि "तत्र सत्वं निर्मलत्वात्प्रकाशक मनामयम्। सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञान सङ्गेन चानघ ६। अ० १४। हे निष्पाप! उन में सत्व गुण निर्मल होने के कारण प्रकाशक और निरुपद्रव है। किन्तु वह देही को सुख और ज्ञान के सङ्ग से बांधता है। ज्ञानमार्गावलम्बी साधक प्रकृति को बंधन का कारण मान उस के कार्य्य संसार दृश्य को भी अनर्थ का मूल मानता है और उस से सम्बन्ध रखना नहीं चाहता है, क्योंकि उस को भय होता है कि बाह्य में फंसने से मैं चेतन रूपी केन्द्र से, जिस को बड़े परिश्रम से मैंने प्राप्त किया है, च्यूत हो जाऊंगा और फिर अपने यथार्थ स्वरूप को भूल कर प्रकृति के जाल में फंस जाऊंगा। पर भक्तों की दृष्टि भिन्न है। भक्त साधक जिस ने अपना सम्बन्ध श्रीभगवानकी पराप्रकृति के साथ जोड़ा है, सम्पूर्ण दृश्य को केवल मूल प्रकृति का कार्य्य न मान उस के अंतरस्थित पराशक्ति को ही मुख्य संचालक शक्ति मान उसी को दृष्टि से दृश्य को देखता है। और चूंकि वह समझता है कि उक्त पराशक्ति स्वतः निर्विकार शुद्ध और आनन्दमय है और श्रीभगवान की इच्छाके अनुसार ही उनके इस विश्व रूपी लीला के सम्पादन में प्रवृत्त है, अतएव भक्त इस विश्व को दुःखात्मक और भयावह समझने के बदले इस को श्रीभगवान और उन की पराशक्ति से परिपूर्ण देखता है और कारण के समान

इस कार्य्य को भी श्रीभगवान की आनन्दमय लीला ही जानता है, जो न उस को बंधन में डाल सकती है और न कोई हानि कर सकती है। भक्त तो ज्ञान की दृष्टि से संसार में दुःख में भी सुख का ही लक्ष्य करता है, अमंगल में भी मंगल ही देखता है, अशुभ में भी शुभ का बोध करता है, अपवित्रता में भी पवित्रता का भास मानता है, अधर्म में भी धर्म का अस्तित्व जानता है; क्योंकि वह इन सब के यथार्थ अभिप्राय को जानता है और उन के अंतिम परिणाम की दृष्टि से उन सब को आवश्यक ही समझता है। देखो पृष्ठ ४८, ५५ ६५। इस सृष्टि रूपी लीला में योग देकर श्रीभगवान की प्रसन्नता सम्पादन करना साधक अपना परम कर्त्तव्य समझता है। भक्तसाधक श्रीभगवान के आनन्द भाव को रसमय देखता है और मधुररस, मनोहररस, सुन्दररस, शृङ्गाररस, आदि को उस के अन्तर्गत देखता है। पराभक्ति श्रीभगवान की आनन्दोपासना है। तैत्तिरीयोपनिषत् का वचन है। "रसो वै सः। रसं ह्येवायंलब्ध्वानन्दी भवति" वह रस रूप है जिस रस को प्राप्त कर आनन्द प्राप्त करता है। भक्त-साधक की दृष्टि में सृष्टि के उद्भव का उद्देश्य और परिणाम श्रीभगवान की विभूति, महिमा, अनुकम्पा और उन के परम मधुर भाव का विकाश करना है। अतएव सृष्टि में जहां कहीं दैवी सौन्दर्य्य, माधुर्य्य, मनोहर भाव, मैत्रीभाव, पवित्र भाव, करुणा भाव, आनन्द भाव, प्रेमभाव देखा जाता है, वहां भक्तसाधक शक्ति सेवित श्रीभगवान का अस्तित्व समझता है और तन्मय भाव से उन में संयुक्त हो उन में ही श्रीभगवान की पूजा उपासना करता है। लिखा है:—"मधुरं मधुरं वपुरस्य विभोर्मधुरं मधुरं वदनं मधुरम्। मधुगन्धि मृदुस्मितमेतदहो मधुरं मधुरं मधुरं मधुरम्॥" यह व्यापक भगवान का शरीर मधुर मधुर है और मुख भी मधुर मधुर मधुर है। अहा! कैसा कोमल मधुगन्ध से मिश्रित यह है। मधुर है मधुर है मधुर है। श्री भगवान ने गीता के १० वें अध्याय में जो अपनी विभूति का वर्णन किया है उस से भी यही सिद्ध होता है, कि सृष्टि में जो कुछ सुन्दर, पवित्र, उत्तम मधुर, मनोहर आनन्दप्रद हैं, वह सब श्रीभगवान की विभूति है और उन विभूतियों के प्रादुर्भाव का उद्देश्य यह है कि उन की भावना कर के सात्त्विक साधक श्रीभगवान से सहज में सम्बन्ध जोड़ सकें। लिखा है:—

खं वायुमग्निं सलिलं महीञ्च ज्योतींषि सत्वानि दिशो द्रुमादीन् । सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत्किं च भूतं प्रणमेदनन्यः ४१

भगवत स्कंध ११ अ० २

आकाश, पवन, अग्नि, जल, पृथ्वी, सूर्य्य, चन्द्र, नक्षत्रादि, जीव जन्तु, वृक्षादि, नदी, समुद्र इन सब को श्रीभगवान का शरीर समझ भेद बुद्धि छोड़ कर प्रणाम करे ।

आनन्द का अन्वेषण करना, अपने अस्तित्व को सदा बनाए रखना तथा सुन्दरता और मधुरता से आकर्षित हो जाना यह जीवमात्र का स्वभाव है, जिस का कारण यह है कि ये भाव अर्थात् सतभाव, आनन्दभाव, सुन्दर और मधुरभाव श्रीभगवान के परमोच्चभाव हैं। और चूंकि जीवात्मा श्रीभगवान का अंश है; अतएव इन भावों की खोज उस के लिए स्वाभाविक है जिनको प्राप्ति बिना इस को शान्ति नहीं मिल सकती है। जीव मात्र श्रीभगवान के इस रसमय परमानन्द भाव का ही अन्वेषण कर रहा है और यही सब का आन्तरिक लक्ष्य है। यह जीवात्मा श्रीपरमात्मा से बिछुड़ कर संसृतिचक्र में पड़ गया है; किन्तु इस को उस के बिना शान्ति कहां? जब तक इस को अपने प्रियतम से मिलन न हो और मिलन होने पर आत्मा रूपी प्रेम पुष्प उन के चरण कमल में समर्पण कर उन की पूजा न करे तबतक वियोग दुःख से छुटकारा नहीं । कर्मी कर्म में, योगी योग में, ज्ञानी ज्ञान में इसी परमात्मा के आनन्द भाव का ही अन्वेषण करते हैं, बल्कि सांसारिक लोग भी धन, कुटुम्ब, स्त्री, भवन, भूषण, वस्त्र स्वादिष्ठ भोजन, सुन्दर दर्शन, गंध सेवन, गीत श्रवण आदि द्वारा इसी आनन्द का अन्वेषण करते हैं, क्योंकि इन में भी उस का आभास है। यह विषयजनित सुख भी सत्व, रज और तम के भेद से तीन प्रकार का है। उस का गीता अध्याय १८ श्लोक ३७ से ३९ तक में वर्णन है जिस का संक्षेप यह है। जो सुख आरम्भ में विष के तुल्य कटु किन्तु परिणाम में अमृतसदृश मीठा और जो आत्मविचार में संलग्न बुद्धि की निर्मलता के कारण होता है,

वह सात्विक है। कुत्सित विषय और इंद्रियों के संयोग से जो सुख उत्पन्न होता है, जो आरम्भ में अमृत के तुल्य मीठा किन्तु अंत में विष के तुल्य है, वह राजस कहलाता है। और जो सुख आरम्भ तथा अन्त में चित्त को मोहित करता है और निद्रा आलस्य और प्रमाद से उत्पन्न होने वाला है, वह तामस कहलाता है। सृष्टि में तीनो प्रकृति अर्थात् आसुरी (तम), राजसिक (प्रवृत्ति) और सात्विक (निर्मल) का होना आवश्यक है, क्यों कि तमोगुण के अतिक्रम करने से रजोगुण का उदय होता है और रजोगुण को पराभव करने से सत्वगुण का प्रादुर्भाव होता है और यही विकाशक्रम है। ज्ञानमार्ग में सात्विक सुख का ही अनुभव होता है; किन्तु उस में भी आनन्द भाव का आभास मात्र ही है, जिस से शान्ति मिल नहीं सकती है, अतएव भक्ति द्वारा आनन्द के सागर श्रीभगवान में निमग्न होने पर ही जीवात्मा को प्रबल पिपासा शान्त होगी और श्रीभगवान से विच्छेद जन्य विरहानल की ज्वाला मिटेगी अन्यथा कदापि नहीं। धन्य हैं वे साधक जिन में कर्म, अभ्यास और ज्ञान मार्ग के अनुसरण करने के कारण ऐसी पिपासा और ज्वाला प्रत्यक्ष रूप में प्रकट हो गई है और जिन के चित्तरूपी भ्रमर का केवलमात्र लक्ष्य श्रीभगवान का पदसरोज है, अन्य कुछ नहीं। यहां से भक्तिमार्ग प्रारम्भ होता है।

साधक कर्म, अभ्यास और ज्ञान मार्ग के अनुसरण द्वारा श्रीभगवान की पूजा और चिन्तन उन की सांसारिक विभूति में करते हैं। जैसा कि कर्मयोग में, सूर्योपासना द्वारा सूर्य में, होम द्वाराअग्नि में, जल सिंचन द्वारा अश्वत्थ में, राजभक्ति द्वारा राजा में, गोरक्षा और गोसेवा द्वारा गौ में, ब्राह्मण को परितुष्टि कर ब्राह्मण में, गंगा में श्रद्धा से स्नान कर गंगामें, गायत्री जप द्वारा गायत्री में, अपने व्यवसाय को धर्म और निष्काम भाव से पालन कर उक्त व्यवसाय में, धर्म युक्त शासन और दण्ड से अपने परिवार-वर्ग को सच्चरित्र बनाने से दण्ड में, नीति का पालन करने से नीति में, दीन दुःखी के दुःख मिटाने से दीन दुःखियों में, स्वयं श्रीभग-वान की पूजा करते हैं। अभ्यास योग में मन को शुद्धि और निग्रह से मन में, और श्रीभगवान के नाम के जप करने से वाणी और नाम में, और सत्य, क्षमा, धारणा आदि सद्गुणों के अभ्यास

से उन सद्गुणों में श्रीभगवान की पूजा की जाती है। ज्ञान योग में बुद्धि को शुद्ध और विचक्षण कर बुद्धि में, प्रणव का-मनन कर प्रणव में, अध्यात्मविद्या और ज्ञान के अभ्यास से अध्यात्मविद्या और ज्ञान में, सत्वगुण की प्राप्ति से सत्व गुण में और कारण शरीरस्थ आत्मा की प्राप्ति से आत्मा में, श्री भगवान की पूजा की जाती है। ये सब श्रीभगवान की विभूतियां हैं और उन में उन का वास है। इन विभूतियों में श्री भगवान की उपासना करने से भी साधक को पूरी तृप्ति नहीं होती है, क्योंकि ये पदार्थ विभूतियां प्रायः श्रीभगवान की महिमा को प्रकाशित करती हैं और इस कारण विभूति कही जाती हैं अर्थात् साक्षात भाव नहीं हैं। अब साधक की यह प्रबल आकांक्षा होती है कि श्रीभगवान को वह ऐसे साक्षात् गुण और भाव में उपासना करें जो उन का साक्षात स्वरूप हो और जिस की प्राप्ति होने पर साधक का हृदय तृप्त हो जाय। ऐसा भाव "श्रीभाव" है अर्थात् श्रीभगवान को उन के परम पवित्र सौन्दर्य्य और माधुर्य्य भाव में उपासना करनी। इस भाव की उपासना को रगड़ से साधक में प्रेम का प्रकाश होना सहज है। श्रीमद्भगवद्गीता के अध्याय ११ श्लोक ४१ में जो "श्री" भाव का उल्लेख है, वह यही सौन्दर्य्य और माधुर्य्य भाव है और उत्कृष्ट होने के कारण ही यह अंत में कहागया है। इसका श्रीमद्भगवद्गीता के प्रमाण से किंचित वर्णन इस विषय के अंत में किया जायगा। ऐसा साधक, संसार के सब पवित्र, सुन्दर और मधुर विभूति में अपने प्राणप्रिय श्रीआनन्दकन्द चिद्घनानन्द को देखता है और अपने पवित्र हृदयरूपी बाग के परम दुर्लभ प्रेम-पुष्प को समर्पण कर उस की पूजा करता है। इस प्रेम-यज्ञ में साधक अपने प्रियतम की प्रीति के लिए सब प्रकार के अपने सुख, सम्पत्ति और ऐश्वर्य्य को स्वाहा करता है और उस के बदले में कुछ भी नहीं चाहता; किन्तु इस का परिणाम स्वयं यह होता है कि साधक निर्मल हो जाता है; क्योंकि प्रेमयज्ञ को ज्वाला किसी प्रकार की कालिमा रहने नहीं देती। इस भाव को भी यथार्थ प्राप्ति श्रीभगवान की पराशक्ति की कृपा पर निर्भर है, अन्यथा नहीं। हृदय के शुद्ध और प्रेम से द्रवित होने पर ही इस भाव का आना सम्भव है। इस भाव द्वारा स्वतः श्रीश्याम सुन्दर अपनी कृपा से साधक के प्रेम पूर्ण हृदय को अपनी किसी पवित्र और

सुन्दर विभूति को नेत्रगोचर कर अपनी ओर खींच लेते हैं और जैसे चुम्बक लोहे को आकर्षण करता है वैसेही वह आपसे आप आकर्षित हो जाता है और उस मनोहर रूप को देख कर उस का हृदयरूपी प्रेम-पुष्प विकसित हो जाता है, जिस को अपने प्रियतम को समर्पण कर वह तृप्त और गद्गद हो जाता है और इस प्रेमसुधा को पान कर कृतकृत्य हो जाता है। यह प्रेम केवल पवित्र सुन्दर स्वरूप में ही हो सकता है, जिस में पवित्र भाव और आभ्यन्तरिक विशुद्धगुण हों, अन्यथा इस प्रेम की उत्पत्ति हो नहीं सकती, क्योंकि पवित्र और मधुर सुन्दरता ही श्रीभगवान की विभूति है। इस भाव में उस पवित्र विशुद्ध मनोहर रूप में श्रीभगवान का प्रगट रूप से वास मान उन्हीं की उपासना की जाती है न कि उस वाह्य आकार की। यह सम्पूर्ण विराट सृष्टि ही श्रीभगवान का विश्व रूप है अर्थात् इस सृष्टि द्वारा वे अपने आपको प्रकाशित कर रहे हैं। संसार में जो कुछ यथार्थ प्रिय है वह श्रीभगवान के उसके अभ्यन्तर प्रकाशित रहने से ही कारण है, न कि केवल वाह्य स्वरूप के कारण। उपनिषद् का वचन है:—"न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियोभवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति। न वा अरे भूतानां कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्त्यात्मनस्तु कामाय भूतानि प्रियाणि भवन्ति।" पति के कारण पति प्रिय नहीं है किन्तु (उसके अभ्यन्तर) परमात्मा के कारण प्रिय है। सब भूत स्वतः सब भूत होने के कारण प्रिय नहीं हैं किन्तु परमात्मा के कारण प्रिय हैं।

इस सृष्टि में जितने उत्तम पदार्थ हैं उन सबों में श्रीभगवान का प्रकट प्रकाश है और उनकी उत्तमता की मात्रा उस प्रकाश की प्रकटता की मात्रा पर निर्भर है। जिस पदार्थ ने जितने अधिक श्रीभगवान के प्रकाश को अपनी शुद्धता और स्वच्छता के कारण प्रकट किया है उतना ही अधिक वह उत्तम और श्रेयस्कर है, और जो पदार्थ जितना ही शुद्ध स्वच्छ और पवित्र होगा उतना ही अधिक श्रीभगवान का प्रकाश उसमें प्रकाशित होगा। श्रीभगवान की विभूति वे पदार्थ कहे जाते हैं जिन में श्रीभगवान के प्रकाश और स्वरूप विशेष रूप से उन पदार्थों की विशेष पवित्रता के कारण प्रकट हैं और उनके वाह्य स्वरूप श्रीभगवान के प्रकाश को

छवि के द्योतक होते हैं जो (श्रीभगवान) उनके अभ्यन्तर में प्रकाशित हैं। जैसा कि जहां सत्य है, क्षमा है, निः स्वार्थ परोपकार है वहां श्रीभगवान अवश्य प्रकाशित रहते हैं। इसी प्रकार सुन्दरता श्रीभगवान को विभूतियों में बड़ी श्रेष्ठ विभूति है, क्योंकि यह श्रीभगवान का स्वतः स्वरूप है और यह रूपरस सब रसों और भावों में उच्च है। श्रीभगवान "शान्तं शिवं सुन्दरम्" हैं अर्थात् वे शान्त (आनन्द स्वरूप), शिव (कल्याण स्वरूप) और सुन्दर (प्रकाश स्वरूप) हैं। यथार्थ में ये तीनों भाव एक और अभिन्न हैं। जो सुन्दर है वह शान्त और कल्याण स्वरूप भी है और जो शान्त और कल्याणस्वरूप है वही सुन्दर है। जो शान्त और कल्याणरूप नहीं है वह कदापि यथार्थ सुन्दर हो नहीं सकता, यद्यपि बाह्य आकार चर्मदृष्टि में सुन्दर भी देख पड़े। बाह्यभाव अन्तर्भाव का द्योतक है। यथार्थ सुन्दरता श्रीभगवान के स्वरूप का द्योतक और प्रकाशक है, जैसे पहिले कहा जाचुका है। जहां श्रीभगवान अपनी विभूति को प्रकट करते हैं वहां उन के दैवीगुण भी उस में प्रकट होते हैं और वहां ही श्रीभगवान के रूपरस का भाव सुन्दरता भी प्रकट होती है। ये तीनों एक साथ रहते हैं और जहां श्रीभगवान के प्रकाश और गुण प्रकट नहीं रहते वहां सुन्दरता कदापि नहीं आती। यह पवित्र सुन्दरता केवल ऐसे भाग्यवान साधक-भक्त के पवित्र हृदय को आकर्षित करती है जो अपने आन्तरिक विशुद्ध भाव के कारण उसमें श्रीभगवान के दुर्लभ दर्शन और उपासना करने के योग्य है। इस सृष्टि में नाना प्रकार से और नाना भाव में श्रीभगवान जीवों को उनकी अवस्था के अनुसार अपनी ओर आकर्षित कर रहे हैं। मनुष्यशरीर श्रीभगवान का परमप्रिय मन्दिर है जिस में उनके दिव्य स्वरूप का निवास है। श्रीमद्भागवत पुराण में लिखा है:—" मनुजो निवासः " (स्कंध २ अ० १ श्लोक ३६) अर्थात् मनुष्य श्रीभगवान् का निवासस्थान है। मनुष्य श्रीभगवान की श्रेष्ठ विभूति है जिसके कारण मनुष्य शरीर में नाना प्रकार से श्रीभगवान की पूजा करनी उत्तम पूजाओं में है। इस में सुविधा यह है कि उस ओर स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। स्त्री पति में, पुत्र माता पिता में, गृहस्थ अतिथि में, दयावान दीन-दुःखियों में, यथार्थ मित्र मित्र में इत्यादि प्रकार से श्रीभगवान ही की पूजा करता है और श्रीभगवान ही के उन पात्रों के भीतर रहने

के कारण इस भाव की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार श्रीभगवान ने अपनी श्रेष्ठ विभूति मनुष्य रूप में अपने परम श्रेष्ठ सौन्दर्य्य-भाव को प्रकाशित कर उसके द्वारा मनुष्य को अपनी ओर आकर्षित करने का सुगम मार्ग दिखलाया, क्योंकि श्रीभगवान के सौन्दर्य्य भाव को उत्तम प्रकार से प्रकाशित करने योग्य मनुष्य-शरीर ही है, अन्य नही, और मनुष्य को मानवी सुन्दरता जिस प्रकार आकर्षित कर सकती है उस प्रकार दूसरी नहीं।

प्रायः बालक बालिका बाल्यावस्था में स्वाभाविक अवस्था में रहने के कारण विकार और दोष से रहित होती हैं और वे स्वभावतः पवित्र और आनन्दरूप होती हैं। इसी कारण श्रीभगान की सुन्दरता-विभूति उन में उन के आन्तरिक अवस्थानुसार न्यूनाधिक में अवश्य रहती है। जो भाग्यशाली बालक-बालिका अपने पूर्वजन्म के संस्कारानुसार पवित्र और शुद्ध रहती हैं और श्रीभगवानके कृपापात्र हैं उन में श्रीभगवान की सुन्दरता-विभूति का प्रकाश अधिक रहता है। ऐसे किसी बालक बालिका की पवित्र सुन्दरता यदि किसी साधक भक्त के हृदय को स्वभावतः पूण रूप से आकर्षित करती है और ऐसे आकर्षण के कारण यदि उन के पवित्र हृदय में परम पवित्र भगवत्प्रेम का संचार उस सुन्दर रूप के प्रति होता है, तो वे उन को श्रीभगवान के दुर्लभ रूप-रस का प्रकाशक जान उन में श्रीभगवान की उपासना करते हैं। ऐसे साधक उन्हीं सुन्दर और पवित्र मूर्ति में श्रीभगवान की भावना करते हैं, उन्हीं मे अपने पवित्र अहैतुक प्रेम को समर्पित करते हैं और उचित रूप से उन्ही की सेवा कर श्रीभगवान में उस सेवा को समर्पित करते हैं। यह प्रतीक उपासना है। इस द्वारा भाविक-साधक के हृदय में प्रेम का अंकुर सहज में उत्पन्न होजाता है। क्योंकि मनरूपी भ्रमर को श्रीभगवान के चरण सरोज के सौन्दर्य्य-गंध पर आसक्त होना सहज है। इस गंध के आनन्द में वह मग्न रहता है और उस के कारण उस की चंचलता और मल दूर होजाते हैं। जो बालक श्रीभगवान का लीला-स्वरूप धारण करते हैं उन के प्रति ऐसा भाव अधिक कर के उत्पन्न होता है और इसी कारण भक्तों ने श्रीभगवान की लीला को भक्ति का श्रेयस्कर

साधन माना है। कुमारी बालिका को साक्षात् श्रीभगवती जगन्माता का रूप मान कुमारीपूजा की विधि जो शास्त्र में है वह भी इस उपासना के अन्तर्गत है।

ऐसे भाव का आना यत्न-साध्य नहीं है और यह श्रीभगवान की कृपा ही से स्वतः उत्पन्न होता है। इस सौन्दर्य्योपासना का भाव उसी में आता है जिस में काम क्रोधादि नहीं रहते और जो पवित्र सुन्दरता को श्रीभगवान की श्रेष्ठ-विभूति समझता है और मनुष्य-सृष्टि का उद्देश्य श्रीभगवान के पवित्र गुण और सुन्दर मधुर रूप रस को प्रकाशित करना जानता है। "एकोऽहं बहुस्याम्" का भक्तिमार्ग में यही अर्थ है।

स्मरण रहे कि इस पवित्र सौन्दर्य्योपासना के अधिकारी केवल पवित्र हृदयवाले साधक-भक्त हैं अन्य नहीं। जिन के हृदय और भाव अपवित्र और कलुषित हैं उन के ऊपर न इस पवित्र सुन्दरता का पवित्र प्रभाव पड़ सकता और न वे इस उपासना के अधिकारी हैं और ऐसे लोग यदि हठात् इस में प्रवृत्त होंगे तो उन को लाभ के बदले केवल हानि होगी। अपवित्र हृदय वाले तो अपवित्र ही रूप पर अपवित्र भाव से लुब्ध होते हैं जहां आसुरी भाव वर्तमान रहता है और उस मोहकरी आसुरी शक्ति के फंदे में पड़ कर उन का अधःपतन होता है। पवित्र हृदय वाले को उक्त आसुरी रूप जो विषयी लोगों को लोभाता है भयंकर मालूम पड़ता है और वे कदापि उस में आसक्त नहीं होते।

जैसा कि पहिले कहा जा चुका है, भक्त संसार को श्रीभगवान के परमानन्द से पूर्ण पाता है। यथार्थ में प्रेम ही संसार का मूल है, प्रेम ही पर इस की स्थिति है, प्रेम ही इसका प्राण है और प्रेम द्वारा ही जीवात्मा फिर प्रेम के केन्द्र श्रीभगवान की ओर आकर्षित हो रहा है। संसार की सूक्ष्मगति के आन्तरिक अभिप्राय पर विशेष विचार करने से यह सिद्ध होता है।

भक्त प्रथम श्रीभगवान की उनके विश्वरूप में भावना करता है। इसके बाद वह विश्व में श्रीभगवान की विभूति में उनकी उपासना करता है जिन में विशेष प्रकाश रहता है। श्रीभगवान ने अर्जुन से ऐसा कहाः—

एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः॥ ७॥

गीता अ० १०

जो पुरुष मेरे इन सब विभूति और ऐश्वर्य्य को ठीक २ जानता है वह निश्चय करके उन विभूतियों के ध्यानयोग सें मुझ में सम्मिलित होता है, इसमें सन्देह नहीं। इस श्लोक की टीका में श्रीहनुमान ने यों लिखा है:—"सोऽविकम्पेन निश्चयेन योगेन ध्यानरूपोपायेन युज्यते युक्तो भवति" जिस का अर्थ यह है कि वह निश्चय करके योग से अर्थात् (विभूतियों के) ध्यान द्वारा श्री-भगवान में सम्मिलित होता है। यहां श्रीभगवान ने अपनी विभूति की उपासना की श्रेष्ठता बतलाई जिस के कारण अर्जुन का श्री-भगवान से विभूतियों का नाम पूछना आवश्यक हुआ, ताकि वे विभूति-उपासना करें, और इसी कारण अर्जुन ने पूछा:—

कथं विद्यामहं योगिं स्त्वां सदा परिचिन्तयन्।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया! १७
विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिञ्च जनार्दन!
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्॥१८॥

गीता अ० १०

हे योगिन्! मैं सर्वदा तुम को ध्यान कर किस प्रकार जानूंगा। हे भगवन्! किस २ भाव (विभूति) में तुम मेरे ध्यान करने योग्य हो। हे जनार्द्दन! अपने ऐश्वर्य्य और विभूति को फिर विस्तार से कहिये। क्योंकि आप के मुख से निकले वाक्यामृत सुन के मेरी तृप्ति नहीं होती है। यहां प्रथम के १७ वें श्लोक में चिन्ता का अर्थ ध्यान है। श्रीशंकराचार्य्य ने इस श्लोक के भाष्य में लिखा है "चिन्त्योऽसि ध्येयोऽसि" तुम चिन्त्य अर्थात् ध्यान करने योग्य (जिन विभूति में) हो। श्रीबलदेव ने भी अपनी टीका में लिखा है "चिन्त्योऽसिध्येयोऽसि" जिस का भी वही ध्यान अर्थ है। श्रीमधुसूदन ने अपनी टीका में लिखा है "परिचिन्तयन् सर्व्वदा ध्यायन्। ननु मद्विभूतिषु मां ध्यायन्

ज्ञास्यसि ” जिसका भी अर्थ ध्यान करने ही का है । श्रीविश्वनाथ ने अपनी टीका में लिखा है “ तच्चिन्तनभक्तिर्मया कर्त्तव्या इत्यर्थः ” अर्थात् (जिन विभूति का) ध्यान कर मैं भक्ति कर सकूं । दूसरे १८ वें श्लोक के भाष्य में श्रीशङ्कराचार्य्य ने लिखा है “विभूतिश्च विस्तरं ध्येय पदार्थानां” अर्थात् अपनी विभूति को जिस में आप का ध्यान किया जाता है विस्तार से कहिए। श्रीमधुसूदन ने लिखा है—“ विभूतिश्च ध्यानालम्बनं ” अर्थात् विभूति जो ध्यान करने का अवलम्ब है। श्रीनीलकण्ठ ने लिखा है “ विभूतिं ध्यानालम्बनम् ” जिस का भी वही अर्थ है। ऊपर के श्रीभगवद्वाक्य और अर्जुन के प्रश्न से प्रकट है कि श्रीभगवान की प्राप्ति में उन की विभूति की उपासना परमावश्यक सीढ़ी है। पहिले भी दिखलाया जाचुका है कि कि कर्म, अभ्यास और ज्ञानयोग का अनुसरण भी श्रीभगवान की विभूति-उपासना ही है। इस विभूति-उपासना में श्रीभगवान के “ श्रीभाव ” अर्थात् सौन्दर्य्य की उपासना करनी परमोत्तम भावोपासना है, जैसा कि पहिले भी कहाजाचुका है। सौन्दर्य्य पदार्थ-विभूति न हो कर श्रीभगवान की गुण-विभूति है और उस में भी यह उच्चतम आनन्द-विभूति है। इसी कारण श्रीभगवान ने गीता में पदार्थ-विभूति आदि के कहने के बाद अन्त में इस गुण-विभूति का वर्णन किया, जिस को अपने तेज का अंश बतलाया। इस प्रकार श्रीभगवान ने अपने श्रीमुख से इस “ श्रीभाव ” अर्थात् सौन्दर्य्योपासना को श्रेष्ठ स्थान दिया। श्रीगीतामें श्रीमुख-वचन इस में यों हैः—

यद् यद्विभूतिमत् सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंशसम्भवम् ॥ ४१ ॥

अ० १०

जो २ पदार्थ ऐश्वर्य्य शाली, सौन्दर्य्यशाली और बलशाली हैं वे सब मेरे तेज के अंश से उत्पन्न हैं, ऐसा जानो। यहां “श्री” शब्द का अर्थ सुन्दरता है लक्ष्मी नहीं है। यहां विभूति शब्द में अर्थात् ऐश्वर्य्य में लक्ष्मीभाव विद्यमान ही है अतएव यह “श्री” शब्द श्रीभगवान का सौन्दर्य्यसूचक ही है। श्रीलक्ष्मी जी भी श्रीभगवान

सौन्दर्य्य का प्रकाश है और उसका स्वरूप ही है, अतएव लक्ष्मी से भी यहां सौन्दर्य्य ही का तात्पर्य्य है। इस श्लोक की टीका में श्रीआनन्दगिरि ने "श्रीमत्" का अर्थ "शोभावद्वा कान्तिमद्वा" किया है, जिस का अर्थ सुन्दरता ही है। श्रीरामानुजाचार्य्य ने अपने भाष्य में "श्रीमत्कान्तिमत्" अर्थ किया है जो भी सुन्दरता ही है। श्रीबलदेवने "श्रीमत् सौन्दर्य्येण वा युक्तं" किया है जिस का अर्थ भी सौन्दर्य्य ही है। श्रीमधुसूदन ने "शोभा कान्ति र्वा तया युक्तं" किया है जिस का भी अर्थ सुन्दरता ही है। श्रीनीलकण्ठ ने "शोभा वा" किया है जिस का भी अर्थ सुन्दरता ही है। और भी उक्त अध्याय १० के ३४ वें श्लोक "कीर्तिः श्रीर्वाक् च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा" में श्री का अर्थ सुन्दरता स्पष्ट है। श्रीबलदेवने अपनी टीका में इस का अर्थ "कायद्युतिः", श्रीमधुसूदन ने "शरीरशोभा वा कान्तिर्वा" और विश्वनाथ ने "श्रीः कान्तिः" लिख के सुन्दरता अर्थ को स्पष्ट कर दिया है।

श्रीमद्भागवतपुराण के २ रे स्कन्ध के छठवें अध्याय के निम्नलिखित श्लोक में भी श्रीभगवान की इस श्री-विभूति का वर्णन है:—

यत्किंच लोके भगवन्महस्वदोजः सहस्वद्बलवत्क्षमावत्। श्रीह्रीविभूत्यात्मवदद्भुतार्णं तत्त्वं परं रूपवदस्वरूपम् ४४

और इस लोक में और जो कोई वस्तु-ऐश्वर्य, तेज, इन्द्रियों का बल, मन की शक्ति, शरीरशक्ति वा विशेष क्षमा से युक्त, अथवा जिसमें सुन्दरता, निन्दित कर्म के निमित्त लज्जा, सम्पत्ति और बुद्धि यह विशेषरूप से हो तथा जिसका रूप अद्भुत हो तिसपर भी वह वस्तु रूपवान हो वा जो अरूप हो उन सबों को ईश्वर का ही रूप जान ४४ यह अनुवाद श्रीधरस्वामी की टीका के अनुसार ही है और यहां सौन्दर्य और रूपरस का श्रीभगवान का स्वरूप होना स्पष्ट रूप में वर्णित है।

संसार में जहां देखिये वहां क्या स्वभाव के द्वारा और क्या कृत्रिम रूप में सर्वत्र इस सुन्दरता ही के प्रकाशित करने की चेष्टा

है और इसी के लिए सब आयोजनायें हैं, मानों यही सब का इष्ट है। पहाड़ के शिखर में, जंगल की हरिआली में, वन के एकान्त में, बिजली की चमक में, मेघ की घटा में, सूर्य चन्द्र की रश्मि में, पक्षियों के रंग में, पशुओं के विचरण में, मृग की कूद में स्त्री की कांति में, पुरुष के त्याग में, बालक के वचन में, माता के वात्सल्य-प्रेम में, पुत्रके मातृस्नेहआदि में जहां देखो वहां सौन्दर्य्य ही का विकाश है। आहार और विहार में, खान और पान में, वस्त्र और वाहन में, गृह और परिवार में, खेल और तमाशे में, पशु और पक्षी में, वन और पर्वत में, नदी और तड़ाग में, फूल और फल में, धन और धर्म में, दान और मान में, पिता और पुत्र में, स्त्री और पुरुष में, मित्र और सुहृद् में, स्वामी और दास में, नृत्य और गीत में, भजन और भाव में, स्मरण और वन्दन में, दर्शन और दृश्य में, दाता और याचक में, प्रेमी और प्रेयसी में। जहां देखिए वहां सर्वत्र इस सौन्दर्य्य ही की खोज है और यही एक लक्ष्य है। सम्पूर्ण संसार इस सौन्दर्य्य के लिए ही पिपासित है और इसी के लिए इतनी दौड़-धूप है। चेतन की कौन कहे स्थावर भी इसके लिए व्याकुल हैं। जीवात्मा रूपी पपीहा केवल सौन्दर्य्य रूपी स्वातीबून्द ही की चाह रखता अन्य की नहीं। इस उपासना की उत्कर्षता स्वयंसिद्ध है, क्योंकि श्रीभगवान का परमदुर्लभ सौन्दर्य्य और आनन्दभाव इस में प्रत्यक्ष है। कौन ऐसा हृदय है जिस पर पवित्र रूप रस का मधुर प्रभाव नहीं पड़ता और इस रसामृत के आस्वादन की चाह नहीं होती, और उस को पान कर आनन्द में मग्न नहीं हो जाता इस भाव का साधक में आना परम सौभाग्य है, क्योंकि जिन के हृदय में श्रीभगवान का सौन्दर्य्यप्रेमरूपी बीज नहीं है वहां श्रीभगवान की दुर्लभ साकारोपासना रूपी मधुर पुष्प-जिस में ही सौन्दर्य्य की पराकाष्ठा है—प्रकट हो नहीं सकता, क्योंकि उस बीज के स्नेहरूपी जल से सिंचनद्वारा वृक्षाकार होने पर ही इस से उक्त दुर्लभ पुष्प का उदय होना सम्भव है।

या देवी ! सर्वभूतेषु कान्तिरूपेण संस्थिता ।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ॥

दुर्गा सप्तशती

सौन्दर्यदेवि ! परमे मधुरे विशुद्धे,
आनन्दशान्तिमयरूपिणि भक्तिहेतो ।
कामादिकल्मषविनाशिनि विश्ववन्द्ये !
प्रेमामृतेन सकलान् परितर्पयस्व ॥

जो देवी सब प्राणियों में सौन्दर्य्यरूप से स्थित हैं उनको नमस्कार है, नमस्कार है, नमस्कार है और बारंबार नमस्कार है।

हे सौन्दर्य्यदेवि ! आप परे हैं, मधुर हैं, विशुद्ध हैं, आनन्द और शान्तिके रूप हैं और भक्ति के कारण हैं, कामादि दोषों की नाशकरनेवाली हैं और विश्व में वन्दनीय हैं। अपने प्रेमामृत से सबों को तृप्त कीजिये।

अन्य अवस्थाओं में जैसे रसास्वादन विघ्न है वैसे वह इस अवस्था में भी है। साधक को केवल इस रस के आस्वादन के आनन्द में ही लिप्त रह कर स्थगित नहीं हो जाना चाहिये, किन्तु श्रीभगवान के साक्षात् मिलन की उत्कंठा की जागृति कर अपने मार्ग में अग्रसर होना चाहिये।

चूंकि इस उपासना के पात्र में श्रीभगवान का आनन्दभाव आंशिक रूप में रहता है अर्थात् उसका केवल लेश रहता है, अतएव वह भाव भक्त के हृदयरूपी कन्दरा से प्रेम के स्रोत को ऐसा आकर्षण नहीं करसकता है कि वह पूर्णमात्रा में प्रकट हो कर अविच्छिन्न रूप से निरंतर बहा करे और कदापि उसमें टूट न हो। इस प्रकार का सांगोपांग प्रेमोत्पादन केवल भगवान की साक्षात् माधुरी मूर्ति की दैवी झलक के हृदयगोचर होने ही से हो सकता है कदापि अंशमात्र से नहीं। जैसा कि चुम्बक का छोटा खण्ड केवल लोहे के छोटे टुकड़े को आकर्षण कर सकता है, बड़े खण्ड को नहीं, जिसको केवल चुम्बक का बड़ा खण्ड ही आकर्षण कर सकता है, इसी प्रकार विभूति-उपासना को भी समझना चाहिए। जब साधक भक्त अपने प्रेमस्रोत के प्रवाह में रुकावट पाता है और हृदयरूपी भक्ति कमल को प्रेम-वारि बिना शुष्क पाकर उसके विकसने में बाधा देखता है, तो वह चन्द्रमा के प्रकाश से तृप्त न हो कर (जिसमें भी सूर्य्य ही का प्रकाश है किन्तु साक्षात् नहीं है प्रतिबिम्ब की भांति है) सीधे

श्रीसूर्य्य के प्रकाश के पानेके लिए लालायित होता है जिसके बिना उसकी विकलता शान्त नहीं हो सकती। इस अवस्था के साधक भक्त में श्रीभगवान के चरणकमल के आश्रय में पहुंचने की प्रबल उत्कंठा प्रकट होती है और अब वह उनके साक्षात सम्बन्ध बिना रह नहीं सकता है। उसको संसार के सब सुखद पदार्थ फीके मालूम पड़ते हैं, बल्कि दुःखद बोध होते, उसको अपनी शारीरिक आवश्यकताओं का भी पता नहीं रहता, केवल पिपासा श्रीभगवान से साक्षात् सम्बन्ध होने की रहती है। वह समझता है कि उसका जन्म व्यर्थ हुआ, क्योंकि वह श्रीभगवान के श्रीचरणों से दूर है। वह अपने को निःसहाय मान निराश होजाता किन्तु इतने पर भी उसकी उत्कंठा बढ़ती ही जाती है जिसके कारण वह विशेष व्याकुल हो जाता है। वह इस अवस्था में व्याकुल होकर इधर-उधर जिस से तिस से सहायता भी चाहता है और व्याकुलता के कारण उसका हृदय यथार्थ में रोता और क्रंदन करता है। यह विरहक्रंदन श्रीभगवान के ध्यान को शीघ्र आकर्षित करता है और तब श्रीभगवान उस साधक भक्तपर कृपाकर अपने मिलने के मार्ग को किसी गुरु द्वारा प्रकाश कर देते हैं। ऐसे साधकको प्रायः स्वप्न में भी सहायता मिलती है। तब से साधक श्रीभगवान को अपना इष्टदेव बनाता है। यहां से श्रीभगवान की यथार्थ साकारोपासना प्रारम्भ होती है, क्योंकि भक्त की आन्तरिक हार्दिक पिपासा किसी अन्य प्रकार की उपासना द्वारा शान्त हो नहीं सकती है। श्रीविष्णुपुराणके छठे अंशके सातवें अध्याय में श्री भगवान की उपासना का यही क्रम है जो पूर्व में कथित है। वहां लिखा है,—

यत्र विष्णोः परं रूपमरूपस्याजमक्षरम्। विश्व-स्वरूप वैरूप्यलक्षणं परमात्मनः।५४। न तद्योगयुजां शक्यं नृप चिन्तयितुं यतः। ततःस्थूलं हरेरूपं चिन्तये-द्विश्वगोचरम्।५५। हिरण्यगर्भो भगवान्वासवोऽथ प्रजापतिः।....मनुष्याः पशवः शैलाः समुद्राः

सरितो द्रुमाः ।५७।—मूर्तमेतद्धरे रूपं भावनात्रितयात्मकम् ॥ ५८ ॥

हे राजा! यह विष्णु का परम रूप है जो बिना रूप के अजन्मा और अविनाशी है और विश्व के रूप से विलक्षण प्रकार का है। उस परमात्मा के उक्त पररूप का ज्ञान और ध्यान योगीजनों के लिए भी असाध्य है। इस निमित्त श्रीभगवान के स्थूल रूप का, जो विश्वात्मक है, ध्यान करना चाहिए। वे भगवान हिरण्यगर्भ वसु, प्रजापति—......मनुष्य, पशु, पर्वत, समुद्र, नदी, वृक्ष आदि हैं। ये सब श्रीभगवान की मूर्ति विभूति हैं जिनमें तीसरे प्रकार का ध्यान करना चाहिए। इसके बाद लिखा है:—

समस्तशक्तिरूपाणि तत्करोति जनेश्वर। देवतिर्यङ्मनुष्यादिचेष्टावंति स्वलीलया। ७०। जगतामुपकाराय न सा कर्मनिमित्तजा। तद्रूपं विश्वरूपस्य तस्य योगयुजा नृप। चिंतयात्मविशुद्ध्यर्थं सर्वकिल्विषनाशनम् ७२ तत्र मूर्तं-हरेरूपं यादृक् चिन्त्यं नराधिप। तच्छ्रूयतामनाधारे धारणा नोपपद्यते ७८ प्रसन्नचारुवदनं पद्मपत्रोपमेक्षणम्। सुकपोलं सुविस्तीर्णं ललाटफलकोज्ज्वलम्। ७९ प्रलम्बाष्टभुजं विष्णुमथवापि चतुर्भुजम् ८१

हे राजा! वह (विष्णु) अपने अमूर्त भाव से अनेक प्रकार के रूप (अवतार) देव, पशु, मनुष्य आदि स्वरूप में अपनी लीला से जगत के उपकार के लिए प्रकट करते हैं जो उनके शक्ति-रूप ही हैं, किन्तु ये कर्मज नहीं हैं। उस विश्वरूप का उक्त रूप योगी अपनी आत्मा की शुद्धि और सब मलोंके नाश के लिए ध्यान करे। हे राजा! वह श्रीहरिका रूप जिस प्रकार ध्यान किया जायगा वह सुनो, क्योंकि बिना आधार के धारणा नहीं हो सकती है।

प्रसन्न और सुन्दर मुख, कमल पत्रके समान नेत्र। ४४ सुन्दर कपोल, बड़ा ललाट पट्ट, लम्बा आठ अथवा चार भुजा के विष्णु (का ध्यान करे)। श्रीमद्भागवतपुराण के द्वितीय स्कन्ध के प्रथम अध्याय में भी यही क्रम है अर्थात् प्रथम विश्वरूप में उपासना करने का आदेश है पश्चात् साकार रूप में। जैसा कि:—

राजोवाच। यथा संधार्यते ब्रह्मन्धारणा यत्र सम्मता। यादृशी वा हरेदाशु पुरुषस्य मनोमलम् २२ श्रीशुक उवाच। जितासनो जितश्वासो जितसंगो जितेंद्रियः। स्थूले भगवतो रूपे मनः संधारयेद्धिया। २३ विशेषस्तस्य देहोऽयं स्थविष्ठश्च स्थवीयसा। यत्रेदं दृश्यते विश्वं भूतं भव्यं भवच्च यत् २४ वयांसि तद्व्याकरणं विचित्रं मनुर्मनीषा मनुजो निवासः। गंधर्वविद्याधरचारणाप्सरःस्वरःस्मृतीरसुरानीकवीर्यः २६ इयानसावीश्वरविग्रहस्य यः सन्निवेशः कथितो मया ते। संधार्यतेऽस्मिन् वपुषि स्थविष्ठे मनः स्वबुद्ध्या न यतोऽस्ति किञ्चित् २

राजा ने पूछा। हे ब्रह्मन्! वैसी धारणा जो पुरुष के मन के विषय-वासना रूप दोष को शीघ्र नाश करती है उस को किस स्वरूप में कैसे लगावे इस विषय में आप का जो मत हो वह मुझ से कहिये। श्रीशुकदेवजी ने कहा—" साधक अपने आसन को जीत कर अर्थात् एक ही आसन से दीर्घकाल तक बैठने का अभ्यास प्राप्त कर, श्वास को जीत (शान्त) कर ममता और स्पृहा को त्यागे, इन्द्रियों को वश में करे, ऐसी धारणा करके श्रीभगवान के स्थूल रूप में बुद्धि की सहायता से मन को लगावे। तिन श्रीभगवान का यह विस्तृत स्वरूप, सम्पूर्ण महान् वस्तुओं से भी बड़ा है, जहां भूत भविष्य और वर्तमान इन तीनों कालों में

होने वाला यह चराचर जगत देखने में आता है। नाना प्रकार के पक्षी उन की विचित्र शिल्पचातुरी हैं, मनु उन की बुद्धि और मनुष्य उन का निवासस्थान है, गन्धर्व, विद्याधर, चारण, अप्सरा ये सब उन के स्वर हैं तथा दैत्यों के समूह में श्रेष्ठ प्रहलाद जी उन की स्मृति हैं। यह इतनी जो भगवान के शरीर की रचना मैंने तुम से कही इस महान विराट स्वरूप में अपनी बुद्धि की सहायता से मन की धारणा की जाती है क्योंकि इस स्वरूप के विना जगत में कोई भी वस्तु नहीं रहसकी। इस के बाद दूसरे अध्याय में साकारोपासना की विधि है जो यों है:—

केचित्स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तम्। चतुर्भुजं कञ्जरथाङ्गशङ्खगदाधरं धारणया स्मरन्ति। ८। प्रसन्नवक्त्रं नलिनायतेक्षणं कदम्बकिंजल्कपिशंगवाससम्। लसन्महारत्नहिरण्मयांगदं स्फुरन्महारत्नकिरीटकुण्डलम् ९ उन्निद्रहृत्पङ्कजकर्णिकालये योगेश्वरास्थापितपादपल्लवम्। श्रीलक्ष्मणं कौस्तुभरत्नकंधरमम्लानलक्ष्म्या वनमालया चितम् १० विभूषितं मेखलयांगुलीयकैर्महाधनैर्नूपुरकङ्कणादिभिः। स्निग्धामलाकुंचितनीलकुंतलैर्विरोचमानाननहासपेशलम्। ११। अदीनलीलाहसितेक्षणोल्लसद्भ्रूभङ्गसंसूचितभूर्यनुग्रहम्। ईक्षेत चिंतामयमेनमीश्वरं यावन्मनो धारणया वतिष्ठते १२

हे राजन्! कितने ही योगी अपने शरीर के भीतर हृदयाकाश में रहनेवाले प्रादेश (दशअंगुल) मात्र रूपवाले पुरुष की धारणा से स्मरण करते हैं, जो पुरुष चारभुजावाला और उन प्रत्येक

भुजाओं में क्रमसे, कमल, चक्र, शंख, और गदा को धारण किये हुए हैं। जिनका मुख प्रसन्न, नेत्र कमल के समान प्रफुल्ल, और पीताम्बर कदम्ब के पुष्प के केसर को समान पीतवर्ण है जिस के शोभायमान बाहु भूषण रत्नजटित सुवर्ण के हैं और जिनके कुण्डल तथा किरीट देदीप्यमान महारत्नों से रचित हैं जिस के कमलसमान कोमलचरण को बड़े २ योगी अपने हृदयरूपी प्रफुल्लित कमल के मध्य में ध्यान करने के निमित्त धारण करते हैं। उन ईश्वर के वक्षःस्थल पर लक्ष्मी का चिन्ह है, कण्ठ में कौस्तुभ मणि है, और कदापि न कुम्हलानेवाली वनमाला से जिन का सकल शरीर ढक गया है। कमर में मेखला है, हाथ की अंगुली में बहुमूल्य अंगूठी, चरणों में नूपुर, और हाथों में कड़े आदि भूषणों से परमात्मा शोभित हैं, मस्तक पर चिकनी निर्मल घुंघराली नीली अलकें आपके मुख को परम शोभा दे रही हैं और उन का हास्य तो अत्यन्त ही सुन्दर प्रतीत होता है। उन्हों ने उदार लीला युक्त हास्य सहित अवलोकन से शोभित भौंको कुछ एक इधर उधर को चला कर, भक्तों के ऊपर अपना परम अनुग्रह दिखाया है, इस प्रकार ध्यान में प्रकट होनेवाले जो श्रीभगवान तिन को, जब तक अपना मन उन में धारणा द्वारा स्थिर न होय, अवलोकन करे।

साधना का क्रम यह है कि साधक सब से पहिले इस स्थूल विश्व को श्रीभगवान का स्वरूप देखे और उन को सर्वत्र सर्वों में वर्तमान जान कर सब से प्रेम करे, किसी से द्वेष न करे और प्राणियों का यथा सामर्थ्य उपकारसाधन द्वारा श्रीभगवान की विश्व-पूजा करे। किसी भी प्राणी के कष्ट को श्रीभगवान का कष्ट समझे जो उन के भीतर हैं और उस कष्ट के दूर करने का यथासाध्य यत्न करे नकि स्वयं कष्ट दे। यही दृष्टि धर्म और कर्मयोग की भित्ति है। श्रीभगवान के इस विश्वरूप में जो श्रीभगवान की विभूतियां हैं उन की उपासना करे और इसी की छाया पर पंचमहायज्ञादि कर्म हैं। सौन्दर्योपासना इस विभूति-उपासना के अन्तर्गत है। इतने के बाद साधक श्रीभगवान के दिव्य रूप को यथार्थ उपासना करने के योग्य होता है जो साकारोपासना है। श्रीभगवान का यह साकार दिव्य रूप स्थूल दृष्टि से एक देशी होने के बदले विश्वमात्र का बीज है और देशकाल का कारण है और उस में सम्पूर्ण विश्व निहित है।

यह परम दिव्योपासना है और इसी कारण इस में अधिकार सब से पीछे होता है।

सूर्य्य का प्रकाश सूर्य्य के मण्डल में आवेष्टित और आच्छन्न रहने से सूर्य्य को हमलोग देखते हैं और उनके प्रकाश से लाभ उठाते हैं, पर यदि वह अपने मण्डल में आबद्ध और आच्छन्न होकर अपने तेज को ह्रास नहीं करता, तो उस अनन्त राशि तेजः पुंज को देखने की बात तो दूर रही किन्तु उसकी प्रबलज्वाला के कारण पृथ्वी के मनुष्य पशु वनस्पति आदि सभी नष्ट हो जाते। इसी प्रकार भक्त की उत्कंठा की पूर्ति और अपनी प्राप्ति के मार्ग और आनन्द को प्रकट करने के लिए श्रीभगवान परमात्मा ने अपनी पराशक्ति के बने हुए दिव्य सुन्दर शरीर को धारण किया। जैसा कि बालक के जन्म के पूर्व उसके लिए दुग्ध मातृ-स्तन में जमा रहता है उसी प्रकार श्रीभगवान ने भक्त की आकांक्षा की पूर्ति के लिए साकार रूप धारण किया। कहा है,—"निर्गुणोऽपि निराकारो लोकानुग्रह-रूप धृक् १४। बृहन्नारदीय पुराण अ० ३१ महेश्वर ने निर्गुण निराकार होने पर भी लोगों पर अनुग्रह करके रूप धारण किया"। और भीः—अगुन अलेख अमान एक रस। राम सगुन भये भक्त-प्रेमबस।" मानस रामायण। श्रीभगवान सच्चिदानन्दने अपनी दैवी प्रकृति का अवलम्बन कर लक्ष्मीनारायण, गौरीशंकर, आदि-गणेश आदि मूर्त्ति को भिन्न २ प्रकार के भक्त की भिन्न २ रुचि और स्वभाव के अनुकूल उपास्य होने के लिए और भी भिन्न २ कार्य्यों के सम्पादन के लिये धारण किया।

जब सब कामनाओं और आसक्तियों के दूर होने पर साधक के हृदय में अपने उपास्य देव के लिए अनन्य अनुराग उत्पन्न होता है तब वह उनको अपने जीवन का एकमात्र लक्ष्य और आश्रय बनाता है और तब उसकी ऐसी अवस्था हो जाती है कि जैसे प्राण विना शरीर रह नहीं सकता उसी प्रकार उपास्यदेव के बिना वह रह नहीं सकता, इस अवस्था का आना ही यथार्थ भक्ति मार्ग का प्रारम्भ होना है और तभी उपास्यदेव कृपा कर अपनी झलक को उसके हृदयगोचर कर देते हैं और तब साधक अपने इष्टदेव को जानता है। श्रीभगवान का साकार होना सनातन भाव है, क्योंकि ऐसा नहीं है कि अमुक समय के पूर्व यह भाव

नहीं था। सृष्टि अनादि है और जब २ सृष्टि होती है तब २ श्रीभगवान साकार रूप अवश्य धारण करते हैं जिसके विना सृष्टि के होने के उद्देश्यकी पूर्ति जो श्रीभगवान के भावों को प्रकट करना है, हो नहीं सकती है। अतएव यह परमभाव है। श्रीरामचरितमानस में लिखा है:—

निर्गुण रूप सुलभ अति, सगुण न जानै कोय।
सुगम अगम नाना चरित, सुनि मुनिमन भ्रम होय॥

अपनी पराशक्ति से संयुक्त होकर श्रीपरमात्मा साकार होते हैं। अतएव प्रत्येक साकार रूपके साथ उनकी आनन्दमयी शक्ति भी सेवानिमित्त साकार रूप धारण करती है जिसकी कृपा और सम्बन्ध विना प्राप्त किए उपास्य देव की प्राप्ति होनहीं सकती है। श्रीनारायणकी शक्ति श्रीलक्ष्मी हैं जिन (श्रीलक्ष्मी) की कृपा के विना न श्रीनारायणकी भक्ति प्राप्त हो सकती है और न श्रीनारायण मिलसकते हैं। यही कारण है कि श्रीरामानुजाचार्य्य के वैष्णवसम्प्रदायको श्रीसम्प्रदाय कहते हैं जिस की श्रीलक्ष्मी जी आचार्य्य (भक्ति प्रदान कर्त्री) हैं और श्रीनारायण मुख्य उपास्य देव हैं। इसी प्रकार श्रीभगवान शंकर की शक्ति श्रीगौरीजी हैं जिन की कृपा विना श्रीशंकर की भक्ति और प्राप्ति हो नहीं सकती है। चूंकि साधक के लिए प्रथम उपास्य की आनन्दमयी शक्ति की कृपा प्राप्त करनी आवश्यक है, अतएव उपास्य के नाम के प्रथम शक्ति के नाम का संयोग करना पड़ता है और पीछे उपास्यदेव का नाम आता है। जैसा कि श्रीलक्ष्मीनारायण, श्रीगौरीशंकर किन्तु नारायण लक्ष्मी और शंकरगौरी करने से दोष होता है। उपास्य देव अपनी आनन्दमयी शक्ति सहित सदा लीला और विहार करते हैं और दोनों यथार्थ में एक हैं। साधक भक्त शक्ति की कृपा से जब त्रिगुण से पार होकर श्रीभगवान के धाम में पहुंचता है तो वहाँ वह भी उस लीलाविहार के अलौकिक रस का आस्वादन करता है और स्वतः आनन्दमय और रसमय हो जाता है।

चूंकि बहुत लोग ठीक २ नहीं समझते हैं इस कारण फिर भी यह कहना आवश्यक है कि श्रीमहेश्वर की प्राप्ति निराकारभाव में

चिंतन करने से कदापि नहीं होगा, क्योंकि निराकार भाव जीवात्मा के लिये सीधे गम्य नहीं है और न निराकार की ध्यान-उपासना हो सकती है और न उस के लिए प्रेम उत्पन्न हो सकता है जो परमात्मा की प्राप्ति के लिए परमावश्यक है। एक कारण यह भी है कि चित्त बिना अवलम्ब के कहीं ठहर नहीं सकता और न बिना अवलम्ब के ध्यान होसकता है और न बिना ध्यान के ध्येय की प्राप्ति हो सकती है। साकार जीवात्मा के हृदयरूपी सरोवर के प्रेम-सरोज को आकाश और वायु के समान निराकार के साथ सतत संग रहने पर भी वे उस को विकसित नहीं कर सकते किन्तु श्रीभगवान का साकार भावरूपी सूर्य्य की निर्मल किरण के पड़ते ही वह विकसित हो जाताहै। प्रेमरूपी सूत्र को भक्ति की ग्रन्थि देकर उपासना की शक्तिसे श्रीभगवान के सुन्दर साकार रूप के प्रति फेंकने पर ही श्रीभगवान बँधा सकते हैं अन्यथा नहीं। साकारतत्त्व परम रहस्य विषय है और इसको श्रीभगवान के कृपापात्र ही समझते हैं। उपासकों की भिन्न २ रुचि और अवस्था के अनुसार भिन्न २ प्रकार के उपास्य-देवों की आवश्यकता है, क्योंकि कोई एक भाव सब प्रकार के उपासकों के अनुकूल पड़ नहीं सकता। इसी कारण श्रीभगवान ने भिन्न २ प्रकार के रूप धारण किये और उनके द्वारा उपासकों की भिन्न २ रुचि की पूर्ति की—श्रीमद्भागवतपुराण में लिखा है:—

त्वं भावयोगपरिभावितहृत्सरोज आस्से श्रुतेक्षित-पथो ननु नाथ पुंसाम्। यद्यद्धिया त उरुगाय विभाव-यन्ति तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय॥ ११ स्कं ४ अ ६

तान्येव तेऽभिरूपाणि रूपाणि भगवंस्तव। यानि यानि च रोचन्ते स्वजनानामरूपिणः॥२१॥ अ० २४

हे प्रभो! श्रवणद्वारा जिनका पथ देखा है ऐसे भक्तजनों के भक्तिद्वारा शुद्ध हृदयकमलमें निःसंदेह तुम निवास करतेहो। हे महानुभाव! वह तुम्हारे भक्त अपने मनमें तुम्हारा जो स्वरूप चिन्तन करते हैं, उस स्वरूपको तुम भक्तों पर अनुग्रह करने के निमित्त प्रकट करते हो। हे भगवान! वास्तव में तुम निराकार

हो, तथापि तुम्हारे भक्तों को जो जो रूप प्रिय लगते हैं वेही सब तुम्हें प्रिय लगते हैं अर्थात् उन्हीको तुम धारणकरते हो । भिन्न २ कारणों से ही श्रीभगवान के ये सब भिन्न २ रूप यथार्थ में एक ही हैं ।

भक्त के वश में श्रीभगवान हैं और भक्त जो २ भाव उनमें स्थापित करता है और जिन २ भावों में दर्शन की आकांक्षा उसके पवित्र हृदय में होती है उनकी पूर्ति श्रीभगवान उन भावों को धारण कर करते हैं। जब भक्तों की यह प्रबल वाञ्छा हुई कि साक्षात् श्रीभगवान परमसुन्दर मनुष्य मूर्ति धारण कर अपनी रहस्य-लीला को जगत में प्रगट कर भक्तों के हृदय को तृप्त और दुर्गम भक्ति-मार्ग को सुगम करें और अपने पावन चरित्ररूपी सूर्य्य को उदय कर संसार के अधर्म-तम का नाश करें तो श्रीभगवान ने सहर्ष इस आकांक्षा की पूर्ति की। श्रीमद्भागवत का वचन है:—

अनुग्रहाय भक्तानां मानुषं देहमाश्रितः ।
भजते तादृशीःक्रीडा याःश्रुत्वा तत्परो भवेत् ॥

भक्तों के प्रति कृपा कर श्रीभगवान ने मनुष्यशरीर को धारण किया और ऐसी लीला को, जिसके श्रवण से सांसारिक लोग भी ईश्वरोन्मुख होजाते हैं। श्रीभगवान यथार्थ में दयासागर हैं और उनकी कृपा जीवों पर असीम है। संसार के हित के लिये श्रीभगवान ने केवल मनुष्य रूप में अवतार लेने का ही कष्ट अपने ऊपर नहीं लिया किन्तु वे अपनी पवित्र लीला और गुण को दिखला कर संसार से उद्धार होने का सुगम सेतु बांध गये।

भक्तप्रवर श्री प्रह्लादजी पर जब घोर प्राणसंकट आन पड़ा और उनके पिता हिरण्यकशिपु ने उनको खम्भे में बांध कर और खड्ग हाथ में लेकर जब उनको हनन करने पर तत्पर हुआ और उनका अंत समय जान पूछा, कि "मेरे सिवाय यदि कोई अन्य ईश्वर तुम्हारा रक्षक है तो वह कहां है" और जब श्री प्रह्लादजी ने निर्भीक होके श्रीभगवान में अपने दृढ़ और प्रगाढ़ प्रेम और भक्ति के आधार पर कहा कि हे पितः हम में तुम में खड्ग खम्भ में जहां देखो तहां राम" उसी क्षण भक्तप्रवर श्री प्रह्लाद की भक्ति और प्रेम से आकर्षित

हो स्वयं श्रीभगवान उस खम्भे से प्रकट हुए और हिरण्यकशिपु को नाश कर अपने भक्त का त्राण किया। अहा! श्रीभगवान की भक्तवत्सलता और भक्त की महिमा यथार्थ में अकथनीय है, कारण भक्तप्रवर श्रीप्रह्लाद के निमित्त श्रीभगवानने इतना बड़ा कष्ट अपने ऊपर लिया कि वे खम्भे में से प्रकट हुए। यह कार्य्य श्रीभगवान को अपने किसी पार्षद् के भेजने से भी होता किन्तु यहां तो भक्त की दृढ़ोक्ति को सच्चा करना था, जिसके कारण स्वयं प्रगट हो गये।

श्रीप्रह्लादको श्रीनृसिंह जी बड़े सुन्दर और मधुर देखने में आए, क्योंकि उनके और संसार के हित के लिए ही यह अवतार हुआ। उस समय ऐसे अनेक नास्तिक थे जो ईश्वर के अस्तित्व को भी नहीं मानते थे और कितने ऐसे थे जो साकार भाव को कल्पित समझते थे और इस कारण श्रीभगवान के नाम और यश के कीर्तन के विरोधी थे। उक्त अवतार द्वारा केवल श्रीभगवान का अस्तित्व ही सिद्ध न हुआ किन्तु उनका साकार-भाव भी प्रकट हुआ। श्रीनृसिंहावतार प्रथम नराकृति उपास्य अवतार हैं। श्रीभगवान के पार्षदों ने उस समय ऐसा कहा,—

अद्यैतद्धरिनररूपमद्भुतं ते दृष्टं नः शरणद सर्वलोकशर्म। सोऽयं ते विधिकर ईश विप्रशप्तस्तस्येदं निधनमनुग्रहाय विद्मः ५६।

श्रीमद्भागवत स्कंध ७ अ० ८।

हम भक्तों के आश्रय दाता भगवन्! सकल लोगों का मङ्गलकारी यह तुम्हारा आश्चर्य्य नृसिंह रूप हमने आज ही देखा है, पहिले कभी नहीं देखा था। हे प्रभो! यह हिरण्यकशिपु यथार्थ में आपका दास था और ब्राह्मणों के शाप के कारण दैत्य हो गया था। अब उसका बध करना उसके ऊपर अनुग्रह करने के निमित्त ही हुआ है, ऐसा हम समझते हैं। यहां श्रीप्रह्लाद जी की स्तुति के केवल दो श्लोक श्रीमद्भागवतपुराण से उद्धृत किए जाते हैं, जिन से भक्त और भक्ति की महिमा प्रकट होगी:—

मन्ये धनाभिजनरूपतपःश्रुतौजस्तेजःप्रभाव-
बलपौरुषबुद्धियोगाः । नाराधनाय हि भवन्ति
परस्य पुंसो भक्त्या तुतोष भगवान् गजयूथपाय ॥६॥

स्कंध ७ । अ० ६ ।

काहं रजःप्रभव ईश तमोऽधिकेऽस्मिन् जातः सुरेतर-
कुले क तवानुकम्पा । न ब्रह्मणो न तु भवस्य न
वै रमाया यन्मेऽर्पितः शिरसि पद्मकरः प्रसादः ॥२६॥

धन, श्रेष्ठ कुल में जन्म, सुन्दरता, तपस्या, पाण्डिताई, इन्द्रिय-सौष्ठव, कान्ति, प्रताप, शरीर की सामर्थ्य, उद्योग, बुद्धि और अष्टांग योग ये बारहों गुण लोक में और शास्त्र में यद्यपि श्रेष्ठ मानकर प्रसिद्ध हैं तथापि वे परम पुरुष भगवान् को सन्तुष्ट करने में समर्थ नहीं होते हैं, ऐसा मैं मानता हूं, क्योंकि केवल भक्ति से ही भगवान गजेन्द्र के ऊपर सन्तुष्ट हुए थे। ६। हे भगवन्! जिसमें तमोगुण अधिक है और जो रजोगुण से ही उत्पन्न हुआ है ऐसे असुरकुल में उत्पन्न हुआ मैं कहां! और तुम्हारी कृपा कहां! क्योंकि ब्रह्मा, रुद्र और लक्ष्मी के मस्तक पर जो कभी भी नहीं रक्खा वह कमल के समान सकल सन्तापों को दूर करने-वाला पुरुषार्थ रूप अपना हाथ तुमने मेरे मस्तकपर रखा है। श्रीप्रह्लादजी ने श्रीभगवान से प्रार्थना की कि मेरे पिता का दोष क्षमा किया जावे। भक्त अपने शत्रु की भी भलाई ही चाहते हैं यह श्रीप्रह्लादजी ने उक्त प्रार्थना द्वारा दिखलाया।

इसके बाद माधुर्य्य भक्ति के विकाश का क्रम आया। अनेक भक्त जो श्रीभगवान के रूपरस आदि भावों के प्रेमी थे उनकी तृप्ति श्रीनृसिंहावतार से न हुई। वे श्रीभगवान को परम-सुन्दर पूर्ण नर रूप में देखने के लिए और उनके परमाद्भुत लीलामृत के रसास्वादन करने के लिये लालायित ही रहे। भक्तों को इस प्रबल वाञ्छा को श्रीभगवान ने दो अवतारों के द्वारा पूर्ण किया। मर्यादापुरुषोत्तम श्रीभगवान रामचन्द्र और वृन्दावन-विहारी श्रीभगवान कृष्णचन्द्र के परमपावन अवतार और 'अद्भुत-

लीला से भक्तों के चिरकालीन मनोरथ पूर्ण हुए और प्रेम-भक्ति के पूर्ण विकास के लिए पूरी सामग्री प्रकट हो गई जिसका इसके पूर्व सर्वथा अभाव था। इन अवतारों द्वारा भक्तों के सब भावों की पूर्ति हुई। इन दो अवतारों के रहस्य का वर्णन करना असम्भव है। भक्ति-प्रेम का भी पूरा विकास संसार में इन अवतारों के प्रकट होनेपर ही हुआ और यही मुख्योद्देश्य था। इन अवतारों की पावन लीला का किंचित दिग्दर्शन इस पुस्तक के परिशिष्ट भाग में होगा।

भक्तिमार्ग अंतिम मार्ग होने के कारण इस मार्ग में ही सद्गुणों की परिपक्वता होती है और साधना की चरम सीमा यहां ही पहुंच जाती है। अतएव भक्तियोग के वर्णन में प्रायः उन सब सद्गुण और साधनाओं का उल्लेख पाया जायगा जो पीछे के योगों में भी हैं। वे सब सद्गुण और साधनायें भक्तियोग में परमोच्चभाव में आये हैं और यहां ही उनकी पूर्णता और पूरी सफलता होती है। भक्ति-मार्ग में सब मार्गों की छाया आनी आवश्यक है, क्योंकि यह सब मार्गों का अन्तिम लक्ष्य है।

श्रीगणेश ! श्रीसरस्वती !
श्रीगुरुदेव ! श्रीसीताराम ! श्रीराधेश्याम ! श्रीगौरीशंकर,
श्रीभक्तगण ! नमोनमः ।

भक्तियोग ।

भक्ति का स्वरूप ।

श्री शाण्डिल्य ऋषि का वचन है:—"सा परानुरक्तिरीश्वरे" । भक्तमीमांसा । श्रीसच्चिदानन्द परमेश्वर में परम अनुराग होना ही भक्ति है। श्रीनारदजी का उन के भक्तिसूत्र में कथन है—"सा तस्मिन्परमप्रेमरूपा" । उस श्रीभगवान में परम प्रेम ही भक्ति है।, श्रीनारदपंचरात्र का वचन है :—

सर्वोपाधिविनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्म्मलम् ।
हृषीकेण हृषीकेशसेवनं भक्तिरुच्यते ॥
अनन्यममता विष्णौ ममता प्रेमसङ्गता ।
भक्तिरित्युच्यते भीष्म प्रह्लादोद्धवनारदैः ।
मनोगतिरविच्छिन्ना हरौ प्रेमपरिप्लुता ।
अभिसन्धिविनिर्मुक्ता भक्तिर्विष्णुवशंकरी ।

इन्द्रियगणद्वारा श्रीभगवान हृषीकेश में तत्परत्व (सेवा) को भक्ति कहते हैं जो (सेवा) सब उपाधियों से रहित और निर्मल है। दूसरे सब के प्रति ममता छोड़कर केवल श्रीभगवान में जो ममता करनी वही प्रेम है। इसी प्रेम को भीष्म, प्रह्लाद, उद्धव, और नारदादि ने भक्ति कही है। श्रीभगवान में अभिसन्धि रहित और प्रेमपरिप्लुत और निरवच्छिन्न मन की गति ही भक्ति है। यही भक्ति श्रीविष्णुभगवान को वश करती है। और भीः—

"स्नेहपूर्वमनुध्यानं भक्तिरित्युच्यते बुधैः । श्रीरामानुजभाष्य, गीता ७म अध्याय १म श्लोक। स्नेहपूर्वक श्रीभगवान के ध्यान को भक्ति कहते हैं। श्रीमद्भागवत पुराण का वचन है ;—

देवानां गुणलिंगानामानुश्रविककर्मणाम् । सत्व-एवैकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या ३२ अनि-मित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी।"

स्कन्ध ३ अ० २५।

पुरुषों की विषयों के ज्ञान करानेवाली और वेद में कहे कर्म करानेवाली इन्द्रियों की बिना यत्न के सिद्ध हुई जो निष्काम प्रवृत्ति सत्वमूर्त्ति श्रीभगवान के प्रति होती है वही भक्ति है। जो अणिमादिसिद्धियों से बड़ी है।

ऊपर के वाक्यों से प्रकट है कि साधक के पवित्र हृदय रूपी गोमुख से अहैतुक और अनन्य प्रेम रूपी पावन गंगा का प्रकट होकर दयासागर श्रीभगवान की ओर निर्विच्छिन्न भाव में प्रवाहित होना भक्ति है। निर्मल हृदय के प्रेमवारि से श्रीभगवान के चरण सरोज को केवल उनके प्रीत्यर्थ सदासर्वदा सिंचन करना भक्ति है और यह चरणामृत रूपी गंगा श्रीचरण से निकल कर संसार में प्रवाहित होती हैं और जगत का कल्याण करती हैं। श्रीयज्ञ-पुरुष भगवान के निमित्त प्रेमरूपी स्रुवाद्वारा श्रीभगवान को साकार मूर्ति रूपी तेजपुंज में आत्मसमर्पण करना भक्ति है, जिस-से साधक विशुद्ध नवीन जीवन-लाभ करता है और तब से श्रीभगवान को अहैतुकी सेवा करनी ही उसका मुख्य व्रत होता है। भक्ति शब्द "भज सेवायां" धातु से निकला है और यह यथार्थ में श्रीभगवान की सेवा ही है। यह सेवा अहैतुकी है सकाम कदापि नहीं। श्रीशाण्डिल्योक्त परानुरक्ति अहैतुकी भक्ति ही है। इस पुस्तक की साधना के क्रम के अनुसार भक्तियोग का साधक अहैतुकी भक्ति के ही मार्ग से प्रारम्भ करता है। इस अवस्था के साधक के लिए सकाम भाव बड़ा ही तुच्छ है जिस को उस ने कर्मयोग के सिद्धावस्था में ही त्यागा और जो अवशेष रह गया उस को ज्ञानयोग में। जब जीवात्मा को इसलोक और परलोक के विषयभोग से शान्ति नहीं मिलती और जब विचार से उन को परिणाम में दुःखदायी समझ कर उन की स्पृहा को त्यागता है तब वह ज्ञानयोग के मार्ग में पग देने के योग्य होता है। किन्तु जब ज्ञानयोग से भी उस

की आत्मा को पूरी शान्ति नहीं मिलती तो वह व्याकुल हो कर अपने चित्त को सब ओर से हटा कर केवल शान्तिसागर श्रीभगवान की खोज में प्रवृत्त होता है और तभी वह भक्ति-मार्ग के निकट आने के योग्य होता है। फलाकांक्षा से श्रीभगवान का भजन करना भजनानुष्ठान है भक्ति नहीं। निष्कपट अहैतुकी सेवा-वारि से ही भक्ति अंकुरित होती है, इस सेवा के सिंचन से ही इस की वृद्धि होती है और इसी की शक्ति से उस में परम प्रेम रूप पुष्प का विकाश होता है जो भी सेवा ही में समर्पित होता है और सब का अन्तिम परिणाम पराभक्ति भी परासेवा ही है। इस का आदि, मध्य और अन्तिम परिणाम सब सेवा ही है। भक्ति की आवश्यकता ज्ञानयोग के अन्त में और भी इस का तात्पर्य्य और सर्वव्यापकता इस योग की अवतरणिका में प्रदर्शित हो चुकी है, यहां विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं है। पहिले कहा जा चुका है कि जीवात्मा श्रीभगवान का अंश है जिस के कारण दोनों में अंश अंशी भाव हुआ और भी कोई श्रीभगवान-रूपी आनन्दसागर को जीवात्मा का तरंग मानते हैं; दूसरे श्रीपरमात्मा रूपी प्रज्वलिताग्नि को जीव का विस्फुलिंग (चिनगारी) जानते हैं और अन्य श्रीपरमात्मारूपी सूर्य्य की जीव को किरण कहते हैं। जीवात्मा और परमात्मा के विलक्षण आध्यात्मिक सम्बन्ध का संसार के किसी सम्बन्ध द्वारा ठीक २ वर्णन नहीं हो सकता है, क्योंकि यह अभिभूत है और वह अध्यात्म है। किन्तु यह निश्चित है कि जीवात्मा श्रीभगवान का अंश होने के कारण उन का स्वरूप ही है और श्रीभगवान आत्मा की भी आत्मा (परमात्मा) होने के कारण जीवात्मा के सर्वस्व हैं और उत्पत्ति, स्थिति, विश्राम, कल्याण, शान्ति और बोध के एक मात्र कारण और आलय हैं। लिखा है कि:—

गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम् १२

गीता अ० ६।

मैं (श्रीभगवान) गति, पोषण करनेवाला, स्वामी, साक्षी, निवासस्थान, रक्षक, सुहृद, उत्पादक, लय करनेवाला, आधार,

अंतिम विश्रामस्थान और अविनाशी बीज हूं। जीवात्मा श्रीभगवान का है और श्रीभगवान जीवात्मा के हैं और इन दोनों का यह अनादि पारस्परिक सम्बन्ध अभेद और अटूट है। ये दोनों एक दूसरे से ऐसे आबद्ध और संयुक्त हैं कि शुद्ध स्वरूपभाव में क्षण भर के लिए भी पृथक् हो नहीं सकते। अब विचारने की यह बात है, कि वह कौन सी अद्भुत शक्ति है जिस के कारण ये दोनों ऐसे घनिष्ठ रूपसे आबद्ध हैं और जो कालान्तर में दोनों को एक बना देती है, जिस एक में सब कुछ वर्तमान भी रहता है और आवश्यक होने पर उस की इच्छा से फिर उदय भी होता है। यह श्रीभगवान की परा शक्ति है जिस को जीवात्मा और परमात्मा के बीच की आकर्षणशक्ति कह सकते हैं और भी यह दोनों के बीच मिलानेवाला सूत्र, सीढ़ी अथवा सेतु की भांति है। अब दूसरा प्रश्न यह होता है कि—

इस पराशक्ति का क्या रूप है? यह श्रीभगवान का प्रेमभाव है जिसे आनन्द भी कहते हैं। प्रेम और आनन्द एक ही हैं। जहां प्रेम है वहां आनन्द है और जहां आनन्द है वह प्रेम ही का परिणाम है। प्रेम ही आनन्द है और आनन्द ही प्रेम है। प्रेम की मनोहर और लह-लहाती लता का आनन्द सुन्दर पुष्प है अथवा प्रेमरूपी सरोवर में आनन्द एक सरोज है। इस पुस्तक के पृष्ठ ६६ में जो सृष्टि-यज्ञ का वर्णन है वह प्रेम-यज्ञ ही है, क्यों कि श्रीभगवान की सृष्टि-रचना की इच्छा ही प्रेम है और प्रेम ही उसका कारण है। परब्रह्म के अज्ञात अज्ञेय होनेपर भी इतना अवश्य कहना ही पड़ेगा कि उसमें महेश्वरभाव का आना उसका स्वभाव है कि जिसके बिना सृष्टि हो नहीं सकती है। परब्रह्म के इस स्वभाव ही का नाम प्रेम है। यह प्रेम ही है जो अज्ञेय को ज्ञेय बनाता है, निर्गुण को सगुण करता, निराकार को साकार बनाता, तमको प्रकाश करता, गुप्त को प्रकट करता, यहाँतक कि सूक्ष्म को स्थूल बनाता। प्रेमही ने सबसे प्रथम एक को दो बनाया, क्योंकि बिना दो के प्रेमानन्द का अनुभव प्रकट हो नहीं सकता है। यह प्रेम ही है जो एक ईश्वर को अनेक बनाता है ताकि वे अनेक होकर प्रेमका आनन्द प्राप्त करें। सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और उद्भव और लय के क्रम का ज्ञान होनेसे श्रीभगवान का असीम प्रेम जो जीवों के प्रति है उसकी कुछ झलक मिल सकती है। यह प्रेम ही है

जिसके कारण श्रीभगवान नर अर्थात् जल (प्रकृति) में वास करते हैं जिससे नारायण नाम हुआ और जिनके बिना प्रकृति ठहर नहीं सकती। यह प्रेम ही है जिसके वश वे प्रत्येक प्राणी के शरीररूपी पुर में वास करते हैं और पुरुष कहलाते हैं जिनके बिना यह शरीर शव (मुर्दे) की भांति है। यह प्रेम ही है जिससे प्रेरित हो श्रीभगवान ने विराट विश्वरूप धारण किया और सृष्टि-मात्र में सर्वत्र व्याप्त रहकर विष्णु कहलाते हैं जिनके बिना यह जगत क्षणभर भी स्थित नहीं रह सकता है। यह प्रेम ही की महिमा है, जिससे आबद्ध हो श्रीभगवान विश्व के प्रत्येक पदार्थ के भीतर प्रकृति से आवेष्टित हो कर प्रकृति को धीरे २ शुद्ध और उन्नत करते हैं जिसमें करोड़ों करोड़ वर्ष लगते हैं किन्तु वे इस कार्य्य में धैर्य्य से प्रवृत्त रहते हैं जिसके बिना यह क्रमोन्नति का कार्य्य हो नहीं सकता। यह प्रेम ही है जो श्रीभगवान को सृष्टि के धारण और पालन कार्य्य में नियुक्त करता है और मर्त्यलोक में अवतार लेनेतक के लिए बाध्य करता है जिसके बिना सृष्टि चल नहीं सकती है। प्रेम ही ब्रह्मा को उत्पत्तिकार्य्य में नियुक्त करता, प्रेम ही विष्णु से धारण और पालन करवाता और प्रेम ही शंकर से परिवर्तन करवाता। जब किसी नियत पदार्थ के प्रादुर्भाव का उद्देश्य पूर्ण हो जाता है और उसकी आवश्यकता नहीं रहती है तब उसका परिवर्तन कर उससे भी उत्तम अन्य आवश्यक पदार्थ का प्रकट करना ही श्रीशंकर का कार्य्य है जिससे भी सृष्टि का हित ही होता है। सृष्टि के आदि में सप्तर्षि, पितृ, रुद्र, वसु, मनु, देवतादि जो सृष्टि के कार्य्य में प्रवृत्त होते हैं उसका भी कारण प्रेम ही है। श्रीभगवान स्वयं प्रेमरूप हो कर प्रेम ही से सृष्टि करते, प्रेम ही से अनेक बनते, प्रेम ही का जीवन देते, प्रेम ही से धारण करते, प्रेम ही से पालन करते, प्रेम ही से रक्षा करते, प्रेम ही से आकर्षण करते, प्रेम ही से आकर्षित होते, प्रेम ही की चाह रखते, प्रेम ही नैवेद्य लेते, प्रेम ही में लय करते और प्रेम ही सबका लक्ष्य है। सृष्टि में प्रेम ही द्रष्टा है, प्रेम ही दर्शन है और प्रेम ही दृश्य रूप है। प्रेम ही ज्ञाता है, प्रेम ही ज्ञान है और प्रेम ही ज्ञेय है। प्रेमही आत्मा है, प्रेम ही प्राण है, प्रेम ही बल है, प्रेम ही ऐश्वर्य्य है, प्रेम ही धर्म है,

प्रेम ही सद्गुण है और प्रेम ही सौन्दर्य्य है, जिस का वर्णन अवतरणिका में हो चुका है।

ऊपर का वर्णन अत्युक्ति नहीं है, किन्तु सृष्टि की रचना और क्रम के ज्ञान से यह स्वयं सिद्ध है। सृष्टि के क्षुद्रातिक्षुद्र पदार्थ भी केवल अणुओं के आकस्मिक सम्मेलन से नहीं बनते, किन्तु इस प्रेमशक्ति के दीर्घ परिश्रम के ही फल हैं। एक समय किसी ने देखा कि जगन्माता आनन्दमयी शक्ति बड़ी एकाग्रता से और सावधानी से किसी वस्तु के बनाने में व्यस्त हैं, जिस से दर्शक को बोध हुआ कि देवी किसी बड़े महापुरुष का मस्तिष्क बना रही होंगी। अनुसन्धान से जान पड़ा कि वह एक मक्खी की पिछली टांग को सुधार रही हैं। इस कहानी पर मनन करने से आनन्दमयी प्रेमदेवी के प्रेम-यज्ञ का कुछ आभास मालूम पड़ेगा और बोध होगा कि प्रत्येक जीव के स्वरूप और उनके उपभोग और आवश्यक वस्तु के निर्माण में कितने त्याग और परिश्रम करुणामयी जगन्माता को केवल प्रेम के कारण करने पड़ते हैं।

प्रेमका पूर्ण प्रकाश करना ही सृष्टि का उद्देश्य है, अतएव सब के सब, छोटे बड़े, जड़ चेतन, स्त्री पुरुष, बालवृद्ध, पशुपक्षी, ज्ञानी अज्ञानी इस की ओर जारहे हैं और यही सबका लक्ष्य है। श्रीभगवान के सत्चित भाव के समष्टिमें प्रकाशित होने पर ही अंत में आनन्द (प्रेम) का प्रकाश होता है और यही नियम व्यष्टि (व्यक्ति) में भी है। यही कारण है कि चींटी से लेकर ब्रह्मा-पर्य्यन्त सब के सब इस प्रेमानन्द के अन्वेषण में ही व्यग्र हैं जिस के मिले विना किसी को कदापि शान्ति नहीं मिल सकती है। अवतरणिका में इस विषय का किंचित वर्णन होचुका है। यह प्रेम-धारिणी और आकर्षिणी शक्ति है जो अनेकों को एक बना एक में मिलादेती है जो सृष्टिका अंतिम उद्देश्य है; किन्तु इनकी कृपा उसी पर होती है जो स्वार्थ को हनन कर परोपकार रूपी नैवेद्य समर्पण कर इनकी आराधना करते हैं, जो कठिन अवश्य है। इनकी प्राप्ति सहज भी है क्योंकि यह सब के बीजरूप हैं और शुद्ध हृदयसे और करुण स्वरसे पुकारने से शीघ्र कृपाकरती हैं। सब को इनकी शरण कभी न कभी अवश्य लेनीपड़ेगी, वह क्या अब हो अथवा करोड़ों वर्ष के बाद, क्योंकि विना इनके जीवका

अन्य कोई आश्रय नहीं है। ये प्रेममयी पराशक्ति ऐसी हैं कि हमलोगों के इनके भूलजानेपर और इनके अस्तित्व को भी नहीं मानने पर और इनके विरुद्ध चलनेपर भी ये अपने प्रेम को नहीं त्यागतीं किन्तु अपनी दयादृष्टि से हमलोगों को आकर्षित करती ही रहती हैं और कभी न कभी अपने आश्रयमें अवश्य लेलेती हैं। किसकी सामर्थ्य है कि इस परात्पर शक्ति के विरुद्ध ठहर सके। जब कि स्वयं श्रीभगवान इस प्रेम-यज्ञ को कर रहे हैं तो जीवके लिये उन के विरुद्ध चलना कबतक सम्भव है। देखिए, सृष्टि में सर्वत्र प्रेम ही का राज्य है और इसी का अभ्यास है। ये प्रेम ही है जिसके कारण शरीर के अणु और परमाणु अपने २ स्वार्थ को त्याग कर एकत्र रहते हैं और एक हो कर शरीरस्थजीवात्मा के कार्य्य के साधन में आत्मोत्सर्ग करते हैं। प्रेम ही के कारण पृथ्वी सब के भार को सहन करती है और अपने गर्भ से रत्न, धातु, अन्न, औषधि, लतागुल्म आदि पदार्थों को उत्पन्न कर संसार का पालन करती है। प्रेम के आवेग से ही नदीआदि जलाशय अपने जल को स्वयं न पीकर दूसरे के अर्थ उसको अर्पण करते हैं। यह प्रेम ही की महिमा है जिसके कारण वृक्षों में सुन्दर फल, फूल और पत्तियां देखने में आतीं जिनको वे अपने अर्थ में न लगाकर सहर्ष दूसरों को दान करते हैं। यह प्रेम ही का चमत्कार है जो गाय, बैल, हाथी, घोड़ा आदि पशुओं को मनुष्य के उपकार में प्रवृत्त करता जिस कष्ट को वे सानन्द स्वीकार करते हैं। यह प्रेम ही का जादू है जिसके कारण सूर्य्य चन्द्र अपने प्रकाश से संसार को तृप्त करते हैं, मेघ अपने परिश्रम-सञ्चित जल को सहर्ष संसार के लिये वर्षा करते हैं, वायु अपने सुगन्धसंचार से सबको तृप्त करती और अग्नि अपनी शक्ति से नाना प्रकार के संसार के आवश्य कार्य्योंको सम्पादन करती हैं। जब कि स्थावर जंगम-जगत में प्रेम का ऐसा प्राबल्य है तो मनुष्य पर उस का विशेष प्रभाव पड़ना क्या आश्चर्य है? जितने उपकारी काम संसार में किये जाते हैं उन का प्रेम ही कारण है। तड़ाग, कूआं, धर्म्मशाला, अतिथिशाला, चिकित्सालय, पाठशाला, कुष्ठ्याश्रम, अनाथशाला आदि का निर्माण, सदाव्रत और विविध प्रकार के दान आदि इस प्रेम ही की प्रेरणा का परिणाम है। मित्र का मित्र के निमित्त सौहार्द, पुत्र का पिता के प्रति

सत्कार-सेवक को अपने स्वामी को सेवकाई, सती स्त्री का अपने पति के निमित्त आत्मत्याग, माता का अपने पुत्र निमित्त आत्मोत्सर्ग आदि अद्भुत-कर्म्म इस विश्वव्यापी प्रेम ही की लीला है। सर्वत्र प्रेम ही का प्रकाश है, प्रेम ही का निवास है, प्रेम ही का विकास है, प्रेम ही का विलास है, प्रेम ही जिज्ञास्य है, प्रेम ही लक्ष्य है, प्रेम ही जोवन है, प्रेम ही को तृषा है और प्रेम ही की वर्षा है। यहां तक कि पण्डित शास्त्र में, साधु वैराग्य में, याज्ञिक यज्ञ में, वैदिक स्वाध्यायमें, तपस्वो तप में, भोगी भोग में, योगी योग में, ज्ञानी ज्ञान में, इस प्रेम ही को खोजते और ढूंढ़ते हैं। सारांश यह है कि इस सृष्टि के प्राणी मात्र, कुछ जानकार और अधिकांश अनजान, इस प्रेमदेवी ही की ओर धावमान हैं, क्यों कि जैसा कि पहले कहा जाचुका है कि केवल यह देवी ही सृष्टि को उत्पत्ति, स्थिति और लक्ष्य हैं और प्राणी मात्र के स्वरूप में विद्यमान हैं। किन्तु बड़े आश्चर्य्य को बात है कि इतनी दौड़धूप, इतने परिश्रम, इतने त्याग, इतने अनुसन्धान, इतने क्लेश करने पर भी संसार में शान्ति नहीं दीख पड़ती किन्तु सब के सब व्यग्र ही देख पड़ते। इस प्रेम राज्य के रहते भी हिंसा, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मद जो प्रेम के विरोधी हैं उन की भी प्रबलता देखी जाती है। इस विषम समस्या का क्या अर्थ है?

इस प्रश्न के उत्तर को ठीक समझाने के लिए सृष्टि-विकाश क्रम का उल्लेख करना आवश्यक था किन्तु उस के लिए न यहां स्थान है और न प्रसंग है। संक्षेप में उत्तर यों है—ज्ञानयोग में कहा जाचुका है कि पराप्रकृति के सिवाय उस के विरुद्ध स्वभाववाली अपरा प्रकृति भी है और इन दोनों के संयोग से सृष्टि होती है। चूंकि उत्तम गुणों की उत्तमता उनके विरुद्ध दुर्गुणों की भयानकता ही के साथ तुलना करने पर प्रगट होती है, प्रकाश की उत्तमता उसके विरोधी अन्धकार ही से स्पष्ट होती है, और भी किसी सद्गुण का लाभ उसके विरोधी गुण को पराभव करने से ही होता है और तभी उसकी महिमा बढ़ती है, अतएव इस सृष्टि में द्वन्द्वों का रहना आवश्यक है जिनके बिना सृष्टि का कार्य्य चल नहीं सकता। इसी कारण अपरा प्रकृति की आवश्यकता हुई जो यद्यपि परा प्रकृति की विरोधिनी है किन्तु उसका यथार्थ उद्देश्य विरुद्धता दिखला कर और प्रेम-शक्ति से पराभव हो कर परा प्रकृति

का महत्व, शोभा, गुण, शक्ति और विशेषता को प्रगट करना और दिखलाना है। इस कारण अपरा प्रकृति परा प्रकृति और परमात्मा का आवरण बन जीवात्मा और इनके बीच अनेक आवरण डालती है जिनके कारण परमात्मा जीवात्मा से अलक्षित हो जाता है और जीवात्मा भी परमात्मा को भूल जाता है। फिर अपरा प्रकृति जीवात्मा को भी अनेक आवरणों में डालकर अपने स्वरूपका विस्मरण करादेती है जिसके कारण वह प्राकृतिक शरीर को ही अपना स्वरूप समझता है और प्राकृतिक पदार्थों में ही आसक्त रहता है। यही कारण है कि संसार में द्वंद्व, अर्थात् परस्पर विरोधी पदार्थ, और गुण के विरोधी जोड़े देखे जाते हैं जैसाकि धर्म और अधर्म, प्रेम और द्वेष, क्षमा और हिंसा, सत्य और असत्य, पवित्र और अपवित्र, धैर्य्य और अधैर्य्य, वैराग्य और लोभ, त्याग और काम इत्यादि इत्यादि। कभी २ अधर्म्म और दुर्गुण की इतनी प्रबलता हो जाती है कि अनेक लोग समझने लगते हैं कि संसार में अधर्म्म ही का राज्य है और वही उन्नतिओं का मूल है। इस भ्रम में पड़ कर वे अपरा प्रकृति (सांसारिक विषय भोग) को ही अपना लक्ष्य बनाते हैं और अपनी पिपासा की शान्ति के लिये उसी की ओर दौड़ते हैं। जैसे गर्मी में मृग तृषित होकर उज्ज्वल मैदान को जलाशय समझ कर उसकी ओर दौड़ता है किन्तु उससे उसकी तृष्णा की शान्ति नहीं होती है क्योंकि वहां जल नहीं है, उसी प्रकार विषयी लोग अपरा प्रकृति को मृगतृष्णा में पड़ कर सुखकी प्राप्ति के लिए बड़े २ परिश्रम और यत्न करते हैं किन्तु परिणाम में कुछ भी नहीं मिलता, कारण अपरा प्रकृति स्वयं असत् है और जो स्वतः असत् है उससे दूसरे को क्यालाभ हो सकता है? जैसे मेघ थोड़े काल के लिये सूर्य्य को आच्छादन करलेता है किन्तु कुछ कालके बाद तितर-बितर हो जाता है और सूर्य्य पूर्व के समान देदीप्यमान हो रहते हैं, उसी प्रकार अपरा प्रकृति (बाह्य जगत) परा प्रकृति (परमार्थ) को दीर्घ कालतक आच्छादित कर नहीं सकती है। बल्कि सृष्टि का उद्देश्य है कि अपरा प्रकृति भी परा प्रकृति के संसर्ग से ऐसी स्वच्छ हो जाये कि आवरण करने के बदले उस (परा प्रकृति) के प्रकाश को उत्तमतासे प्रकाशित कर सके अर्थात् तमोगुण और रजोगुण का पराभव हो कर सत्वगुण की वृद्धि हो। तमोगुण और रजोगुण और उनके विकार काम, क्रोध,

लोभ, मोह, हिंसा, मत्सर आदि के होने का उद्देश्य यह नहीं है कि जीवात्मा उनमें लिप्त हो कर अपने को नष्ट करे किन्तु यह है कि उनके पराभव करने में यत्न कर अपनी आन्तरिक प्रेमानन्द-शक्ति का विकास करें और विकास करके उसको प्रसारित करे। प्रकृति के आवरण में पड़ने पर भी जीवात्मा अपने स्वरूप के अन्य भाव को भले ही कुछ काल के लिए भूल जाय किन्तु परमोच्च आनन्द (प्रेम) भाव को एकदम कदापि नहीं भूल सकता है। (इसका किंचित वर्णन पृष्ठ ५३ और ६६ में हो चुका है।) किन्तु इतना अवश्य होता है कि आवरण के कारण वह उसको ठीक स्थान में न खोजकर अयथार्थ स्थान में खोजता है और इस प्रकार दुःख पाता है। विषयीलोग प्रकृति के वश में होकर जो इन्द्रियों के विषयभोग में बड़े वेगसे प्रवृत्त होतेहैं उसका कारण इस आनन्द काही अन्वेषण करना है। वे नानाप्रकार के सांसारिक विषयभोग में इस प्रेमानन्द ही का अन्वेषण करते हैं, क्योंकि उनमें इसका प्रतिबिम्ब अवश्य है जो भ्रम में डालता है। जीवात्मा रूपी हंस को मानससरोवर रूप प्रेमानन्द सागर के जल बिना विषय रूपी नाले के गंदे जलसे कदापि तृप्ति नहीं हो सकती। जीवात्मा क्रमशः तामसिक सुख की आसक्ति का पराभव कर राजसिक सुख में प्रवृत्त होता है और राजसिक को पराभव कर सात्विक में जाता है। सात्विक वृत्ति में आनेपर और सात्विक सुख का अनुभव करने पर जीवात्मा समझता है कि आनन्द उसके भीतर है और उसका स्वरूप ही है कदापि विषय में नहीं है (इस विषय का किञ्चित वर्णन इस पुस्तक में हो चुका है जिसका पृष्ट ५० से प्रारम्भ है।) तब उसको प्रेम की किञ्चित झलक अपनेमें मालूम पड़ने लगती है। जैसा कि कर्म्मयोग के पृष्ठ ८७ में कहा जाचुका है, प्रेम का धीरे २ प्रसार होता है। प्रेम सङ्कुचित और विच्छिन्न कदापि रह नहीं सकता। इसका स्वभाव वर्षा के समान सर्वत्र वृष्टिकर सब को तृप्त करना है, जिस में अपने पराये का कुछ भी विचार नहीं कियाजाता। दान से ही इसकी उन्नति होती है और त्याग से ही इसकी वृद्धि होती है। दया इसका मित्र है और स्वार्थ इसका शत्रु है। अन्न आदि को यज्ञ द्वारा हवन करने से वृष्टि होती है और उस वृष्टि द्वारा अन्न आदि की उत्पत्ति होती है जो फिर यज्ञ में प्रयुक्त किया जाता है और इस चक्राकार गति में समर्पित

पदार्थों की कमी न होकर वृद्धि ही होती है। इसी प्रकार सूर्य्य मेघ द्वारा जल की वर्षा कर फिर उस जल का आकर्षण करते हैं और फिर वर्षाकर उसकी वृद्धि करते हैं। यहां भी वही चक्राकार गति है। ठीक ऐसी ही गति प्रेम की भी है। प्रेम व्यय करने से बढ़ता है और कृपणकी भांति केवल संचय से घटता है। जहां इसका दान नहीं वहां इसका वास नहीं। इस सृष्टि का प्रत्येक पदार्थ प्रेम यज्ञ द्वारा बना है और उसी से परिपालित होता है। प्रत्येक आकार अनेकानेक अणुओं का समूह है और उन अणुओं के प्रेमयज्ञ का परिणाम है। अतएव इस सृष्टि का कोई भी पदार्थ कदापि अपने ही लिये अर्थात् स्वार्थ के लिये नहीं बना है किन्तु इस लिये कि वह दूसरे को प्रिय हो अर्थात् उसका हित-साधन करे और वह दूसरा अन्य दूसरे का प्रिय हो और फिर वह अन्य दूसरे अन्य का प्रियहो और इस प्रकार उत्तरोत्तर इस प्रेम और त्याग के कार्य्य का प्रसार होता रहे जैसे पहिले कहा जा चुका है। जो कोई इस प्रेम यज्ञ के प्रेमपुरुष की उपासना नहीं करता और प्रेम यज्ञ के व्रत को धारण नहीं करता उसके लिए इस प्रेम राज्य में कहीं भी स्थान नहीं। जिसके जीवन का उद्देश्य प्रेमदान के बदले स्वार्थ साधन है वह प्रेम के स्वर्गराज्यसे नीचे गिरता है और माया के समुद्र में पड़कर उसकी गुणमयी लहरों में चक्कर खाता रहता है ऐसा पुरुष केवल प्रेमरूपी नौका का आश्रय लेनेही से उस विकराल महासागरसे पार हो सकता है।

जीवात्मा में श्रीभगवान प्रति प्रेम का विकाश क्रमशः इस क्रम से होता है। पहिले अपने परिवार के लिए। पीछे पड़ोस के लोगों के लिए, उसके बाद ग्राम भर के लिये, तत्पश्चात् अतिथि अभ्यागत के लिए, फिर दीन-दुखियों के लिए, फिर क्रमशः देशभर के लिए, और भी पशु, पक्षी और उद्भिद और फिर अन्यान्य पदार्थों के लिए, धीरे २ इस प्रकार प्रेम का प्रसार होता है। यह भी श्रीभगवानकी एक प्रकार की विभूति उपासना है जिसका जिक्र पहिले होचुका है। इतने पर भी जीवात्मा को यथार्थ शान्ति नहीं मिलती है। पूर्वकथित विषम समस्या के मुख्य भाग का यहां उत्तर दियाजाता है। इस के पहिले जो कुछ लिखा जाचुका है उस से प्रगट है कि जीवात्मा श्रीभगवान का अंश है और श्रीभगवान जीवात्मा के सर्वस्व हैं और भी कहा जाचुका है कि मनुष्यशरीर श्रीभग-

वान का प्रिय मन्दिर है, और जीवात्मा और परमात्मा में प्रेम का सम्बन्ध है। श्रीभगवान की असीम कृपा जो जीवों पर है उस का भी किञ्चित वर्णन हो चुका है। इन सब से स्पष्ट है कि जीवात्मा श्रीभगवान का बड़ा ही प्रेमपात्र है जिस के लिये ही वे इस सृष्टि-रूपी महायज्ञ को करते हैं और जीवात्मा के श्रीभगवान ही मधुरातिमधुर प्रियतम हैं, क्योंकि केवल वेही प्रेमानन्द और कल्याण के एकमात्र मूल हैं। गुणमयी प्रकृति द्वारा आवेष्टित होने पर भी यह जीवात्मा यथार्थ में श्रीभगवान ही की खोज करता रहता है और उस खोज की यात्रा में नानाप्रकार का अनुभव प्राप्त करता है जो उसके लिए आवश्यक है। जीवात्मा को संसाररूपी बाग में भेजने से श्रीभगवान का यह उद्देश्य है कि वह इस के उत्तम अनुभवरूपी सुन्दर पुष्पों को चुनकर प्रेमाञ्जलि द्वारा उनके चरणसरोज में अर्पण करे, अतएव विना इस उद्देश्य की पूर्त्ति के जीवात्मा को शान्ति कैसे मिल सकती है। अवतरणिका में कहा जा चुका है कि जीवात्मा की पूरी तृप्ति श्रीभगवान की किसी विभूति में प्रेम करने से हो नहीं सकती है, क्योंकि वहां केवल अंश है। एक अंश को अपने समान अन्य अंश के साथ मिलन होने से आनन्द की वृद्धि अवश्य होती है किन्तु शान्ति नहीं मिल सकती, चाहे वह अंश उससे कहीं बृहत् और स्वच्छ हो। कारण यह है कि जीवात्मा को शान्ति उसके प्रेम के पूर्ण विकाशही से होगी और यह पूर्ण विकाश केवल पूर्णही की प्राप्ति से हो सकता है और वह पूर्ण केवल श्रीभगवान हैं। अतएव जीवात्मा की पिपासापूर्ण प्रेमानन्दसागर श्रीभगवानही मिटासकते हैं अन्य उनके कोई अंश नहीं। लिखा है:—

यो वै भूमा तत् सुखं नाल्पे सुखमस्ति
भूमैह सुखं भूमाह्येव विजिज्ञासितव्यः।

छान्दोग्योपनिषत् ७ म प्र॰ २३ खण्ड।

सर्वव्यापी ब्रह्म में आनन्द है किन्तु परिच्छिन्न जड़ पदार्थों में आनन्द नहीं है, ब्रह्म आनन्दरूप ही है, अतएव उसी को जिज्ञासा करनी चाहिए। और भी:—

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।

पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

जीवात्मा की अवस्था मृग के समान रहती है जो अपनी मृग-नाभि के कस्तूरी के सुगन्ध की खोज में इधर-उधर दौड़ता फिरता है पर उसे नहीं पाकर व्याकुल रहता है, किन्तु उसको यह मालूम नहीं कि उक्त सुगंध उसके पास है। जब जीवात्मा को साधनद्वारा अपने प्रेमभाव में स्थित होने पर और गुरुकी कृपासे श्रीभगवान के यथार्थ स्वरूप का परिचय मिलता है जो प्रेमानन्द का एकमात्र मूल है और जिसका केवल कणामात्र इस जगत में है, और जब उसको अपने प्रति श्रीभगवान की असीम दया और अवर्णनीय प्रेम का परिचय मिलता है और बोध होता है कि जब मैंने श्रीभगवान को विस्मरण कर संसार से स्नेह किया तब भी श्रीभगवान मुझ पर अपनी महती कृपा करतेही रहे, और जिसभांति माता अबोध बालक की रखवाली करती है उसी प्रकार मेरे भीतर रह कर मेरी रक्षा करते ही रहे, ऐसी अवस्था आनेपर वह अधीर और व्याकुल हो सबका ममत्व त्यागकर, श्रीभगवान की शरण में जाता है और प्रेमोपहार-स्वरूप शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, आत्मा तक अर्पण करता है। तब से ऐसे साधक का केवल लक्ष्य श्रीभगवान होते हैं और इस संसार को भी वह केवल श्रीभगवान से ही परिपूर्ण देखता है। उसका मन स्वाभाविक रूप से सतत और अनन्यभाव से केवल एकमात्र हृदयस्थ श्रीभगवान में आकृष्ट और संनिवेशित होजाता है और वह जो कुछ करता, बोलता, सोचता, निश्चय करता, वह सब एक मात्र केवल अपने प्रियतम श्रीभगवान के लिये ही करता, जिनमें उसने उनके परम धन अपनी आत्मा को भी अर्पण कर दिया है। यह आत्मारूपी धन श्रीभगवान ही का है जो श्रीभगवान में ही समर्पित होनाचाहिए और श्रीभगवान ही के निमित्त व्यवहृत होनाचाहिये अन्य प्रकार नहीं, और जबतक ऐसा नहीं कियाजाता तबतक जीवात्मा मृग की भांति यहांवहां केवल भटकता ही फिरेगा और कदापि उस को शान्तिपथ दृष्टिगोचर न होगा। प्रेम श्रीभगवान की थाती है जो इसलिए दी गई है कि श्रीभगवान की विभूति में और श्रीभगवान के परोपकारादि आदेश के पालन में व्यय होकर उस की वृद्धि की जाय और परिवर्द्धित होकर फिर

श्रीभगवान को समर्पित हो। जो ऐसा न कर इस प्रेम को स्वार्थ-साधन में लगाता है वह इसका दुरुपयोग करता है पर उस में इस प्रेम का शुद्ध स्वरूप कदापि प्रगट नहीं होता, केवल उसकी छायामात्र आती है जिस को स्पृहा आसक्ति आदि कहते हैं, और जिसका परिणाम आनन्द के बदले क्लेश होता है। श्रीभगवान के प्रति जो सच्चा स्नेह और अनुराग है वही प्रेम है अन्य को प्रेम कह नहीं सकते। भक्ति-प्रेम के मुख्य पात्र केवल श्रीभगवान ही हैं और श्रीभगवान ही से उसकी उत्पत्ति है, उन्ही से इसकी स्थिति है और वही एकमात्र इसके लक्ष्य हैं। साधक के प्रगाढ़ अहैतुक प्रेम की तुलना असम्भव है।

गाय का जैसे अपने बछड़े में प्रेम रहता है जिस के कारण चरते घूमते में दूर रहने पर भी उस का चित्त बछड़े ही में लगा रहता है कदापि अन्य ओर जाता नहीं, मृग जैसे नाद के सुनने में ऐसा व्यस्त हो जाता है कि उस को अपने शरीर की भी सुधि नहीं रहती, पतंग जैसे दीपक पर आसक्त होकर प्राण तक उस से मिलने के लिए दे देता है, मीन जैसे जल के बिना रह नहीं सकता और यदि पृथक किया जाय तो प्राण का त्याग करता है, लोभी का जैसे चित्त सदा सर्वदा धन में ही आसक्त रहता है और सतत उसी की धुन उस को लगी रहती है, पनिहारिन जैसे जल से पूर्ण घट को सिर पर लेकर चलती है और बातें करती भी जाती है, किन्तु अपनी सुरत (ध्यान) को पूर्ण भाव से उस घट पर ही रखती है, जिस के कारण वह घट सिर से कदापि गिरता नहीं, इसी प्रकार जब साधक तन्मयभाव से श्रीभगवान का चिंतन करता है और श्रीभगवान और श्रीगुरुदेव की कृपा से उस के पवित्र और निर्मल हृदयवाटिका में विशुद्ध प्रेम-पुष्प का पूर्ण विकास होता है जो श्रीभगवान का प्रिय धन है और जब श्रीभगवान को "त्वदीयंवस्तु गोविन्द ! तुभ्यमेव समर्पितम्" के अहैतुक भाव से वाटिका सहित पुष्प को समर्पण करता है और दक्षिणा में अपनी आत्मा को भी अर्पण कर देता है, तब से वह श्रीभगवान का हो जाता है और जो कुछ करता, सोचता, बोलता वह सब श्रीभगवान और उन के कार्य्य साधना के निमित्त ही करता और अपने को तो वह एक दम भूल ही जाता और अहर्निश बिना विराम श्रीभगवान में ही सब प्रकार से प्रेमाबद्ध

रहता है, कदापि उन से अलग नहीं, ऐसी अवस्था को श्रीनारदजी ने परमप्रेम कहा है और यही भक्ति का रूप है । इस प्रेम का किंचित वर्णन आगे भी होगा । श्रीमद्भागत पुराण १० म स्कन्ध क वचन हैः—

श्रीर्यत्पदाम्बुजरजश्चकमे तुलस्या लब्ध्वापि वक्षसि पदं किल भृत्यजुष्टम् । यस्याः स्ववीक्षण-कृतेऽन्यसुरप्रयास स्तद्वद्वयं च तव पादरजःप्रपन्नाः २७ अ० २६ गतिस्मित-प्रेक्षण-भाषणादिषु प्रियाः प्रियस्य प्रतिरूढमूर्तयः । असावहं त्वित्य-बलास्तदात्मिका न्यवेदिषुः कृष्णविहारविभ्रमाः ३ तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः । तद्-गुणानेव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरुः ४३ ।

अ० ३० ।

श्रीगोपी जन श्री भगवान से कहती हैं—जैसे श्रीलक्ष्मी जिन के कृपाकटाक्ष की प्राप्ति के लिये ब्रह्मादि देवतागण तपस्या-आदि-द्वारा उद्योग करते हैं उनका अनादर कर और तुम्हारे वक्षःस्थल में सापत्न्यभाव-रहित स्थान को पाकर भी अपनी सपत्नी तुलसी के साथ भी बहुत सेवकों द्वारा सेवित तुम्हारे चरणकमल के रज की इच्छा करती हैं, उसी प्रकार हम भी उस चरण की ही शरण आई हैं । गोपियों का उन के प्रिय श्रीकृष्ण की गति, हास्य, दर्शन और भाषण आदि की ओर ही मन लगा हुआ था । इतना ही नहीं, किन्तु देह भी तन्मय हो रही थी और भी श्रीकृष्ण के समान ही लीलाविहार का प्रारम्भ हो रहा था, श्रीकृष्ण में ऐसी तन्मय हुई और उन्हीं श्रीभगवान की प्रिय गोपियां, कृष्ण में ही हूं ऐसा परस्पर कहने लगीं । इस प्रकार भगवान श्रीकृष्ण ही जिन को आत्मा हैं ऐसी गोपियोंने भगवान श्रीकृष्ण के न मिलने पर उन्हीं में मन लगा कर, परस्पर उन्हीं की वार्त्ता करती हुई, उन्हीं

को लीलाएं करती हुई और उन्हीं के गुणों का गान करती हुई सबों ने अपने घर की सुधि भी बिसार दी ।

भक्ति के अधिकारी कौन हैं ?

पहिले कहा जाचुका है कि भक्ति, ज्ञान और योग से, श्रेष्ठ है और श्रीभगवान की प्राप्ति का एकमात्र उपाय है। इस ज्ञान और योगके भी बहुत थोड़े ही लोग यथार्थ अधिकारी हैं। ज्ञान के लिये विचक्षण बुद्धि और विद्या का बल होना चाहिये जिन की प्राप्ति करने की योग्यता सबों को नहीं है और भी इनकी प्राप्ति के अवसर के बीतजाने पर इनका लाभ होना असम्भव है। हठयोग के साधन के लिये उत्तम स्वास्थ्य, नवीन वयस, ब्रह्मचर्य्य आदि का नियम पालन, उपयुक्त स्थान, उपयुक्त भोजन, और सिद्धगुरु आदि की आवश्यकता है जिन सबों का एकत्र संयोग बड़ाही कठिन है और प्राप्तहोने पर भी उक्त क्रिया से विशेष लाभ नहीं होता। ऐसी अवस्था में यह भावना होनी स्वाभाविक है, कि भक्ति का विरलाही कोई, करोड़ों में एक, अधिकारी पायाजाता है। किन्तु ऐसा होने से यह संसार श्मशान की भांति परम अमंगल रूप धारण करता, क्योंकि जहां श्रीभगवान की भक्ति नहीं वह स्थान मरुस्थान से भी भयानक है। किन्तु अनेकानेक धन्यवाद उस करुणावरुणालय जगन्नियंन्ता श्रीभगवान को है जिसने अगोचर और अगम्य होनेपर भी जीवों के हित के लिये साकार रूप धारणकर अपने को गोचर और गम्य बनाया और ऐसा कर के अपने मिलने के मार्ग को सुगम और सुलभ किया। ऐसा सुगम मार्ग रहते भी जो हमलोग उसका अनुसरण नहीं करते और नानाप्रकार से संतापित और पीडित हो रहे हैं उस में सोलहआने दोष हमलोगों का ही है, क्यों कि श्रीभगवान ने मार्ग को सब पर विदित कर दिया है। श्रीभगवान ने इस सर्वोच्च भक्ति का सबको अधिकार दिया है; किसी को इससे वञ्चित नहीं रक्खा। इस में जातिपांति का विचार नहीं—चाण्डाल तक को भी अधिकार है; स्त्री पुरुष का विचार नहीं—स्त्री के लिये तो अधिक सुविधा है; वयस का विचार नहीं—बालक, वृद्ध जवान सभी कर सकते हैं

जिस में बालक वृद्ध को भी किसी अवस्था में कुछ सुभीता है; विद्या-बुद्धि का विचार नहीं—पण्डित और मूर्ख दोनों कर सकते हैं बल्कि संशय के अभावके कारण मूर्ख के लिये कुछ सुभीता है, धनी गरीब का विचार नहीं—बल्कि गरीब के लिये सहज है, समय और स्थान का विचार नहीं—सब समय में का जा सकती है और जङ्गल पर्व्वत आदि निर्जन स्थानों की अपेक्षा जहां रहना कठिन है ग्राम नगर ही इस के लिए अच्छा है, इस के लिए अपने शरीर को अथवा दूसरे को क्लेश देने की आवश्यकता नहीं- क्यों कि श्रीभगवान करुणासिन्धु हैं और करुणासिन्धु अपनी प्राप्ति के लिये क्लेश का उपहार कदापि नहीं चाहता। इस को सामग्री की आवश्यकता नहीं क्यों कि यह खरीदने की वस्तु नहीं है। इतनी सुविधा रहनेपर भी एक विलक्षणता इसमें यह है और जिसका यहां लिखना आवश्यक है कि यह परमावश्यक है कि इसकी थोड़ी भी स्फूर्ति चित्त में आनेसे अपना सौभाग्य समझ इसके अनुसरण करने में शीघ्र प्रवृत्त होजाना चाहिये और कदापि विलम्ब नहीं करना चाहिये। बीज बीजावस्था में रक्षित रहता है किन्तु उसके अंकुरित होने पर यदि उसकी रक्षा और पुष्टि न की जाती है तो वह मुरझा जाता है। वही अवस्था यहां भी है। और भी शरीर क्षणभंगुर है और जीने का एक क्षण के लिये निश्चय नहीं है। कुछ भी अमृत के मिलने पर जो शीघ्र उस का पान न कर उसे रख देता जिस के कारण वह उस को फिर प्राप्त नहीं भी करसकता है वह जैसी मूर्खता करता है उसी प्रकार भक्ति में विलम्ब करना है। अब यहां भक्ति का अधिकार सबोंको होनेके विषय में कुछ प्रमाण दियेजाते हैं। लिखा है कि:—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः। स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥ ३२

(गीता अध्याय ९)

श्री भगवान कहते हैं कि हे अर्जुन! मेरा आश्रय पाकर निकृष्ट श्रेणी में जन्म लेने वाले, स्त्रियां, वैश्य और शूद्र भी उत्तम गति को पाते हैं। और भी लिखा है:—

नास्ति तेषु जाति-विद्या-रूप-कुल-धन-क्रियादि-भेदः ॥ ७२ ॥

(नारद-सूत्र)

आनिन्द्ययोन्यधिक्रियते ।

(शाण्डिल्य-सूत्र)

भक्तों में जाति, विद्या, रूप, कुल, धन और क्रिया के भेद का विचार नहीं है। श्रीभगवान की भक्ति में निन्दितयोनि (चाण्डादि) को भी अधिकार है। और भीः--

व्याधस्याचरणं ध्रुवस्य च वयो विद्या गजेन्द्रस्य का, कुब्जायाः किमु नाम रूपमधिकं किन्तत् सुदाम्नो धनं। वंशः को विदुरस्य यादवपतेरुग्रस्य किम्पौरुषम्, भक्त्या तुष्यति केवलं न च गुणै-र्भक्तिप्रियो माधवः ॥

व्याध को क्या आचरण था ? ध्रुव का क्या वयस था ? गजेन्द्र की क्या विद्या थी ? कुब्जा को क्या सुन्दरता थी ? ब्राह्मण सुदामा को क्या धन था ? विदुर को क्या वंश था ? यादवपति उग्रसेन को क्या बल था ? तौभी श्रीभगवान ने उनलोगों के प्रति विशेष कृपा दिखलायी। इस से सिद्ध होता है कि श्रीभगवान भक्ति के भूखे हैं, भक्ति से प्रसन्न होते हैं किन्तु गुण से नहीं। मनुष्य का तो कहनाही क्या, पशु पक्षी आदि भी भक्ति के अधिकारी हैं। श्रीमद्भागवत का वचन हैः—

केवलेन हि भावेन गोप्यो गावो नगा मृगाः ।
येऽन्ये मूढधियो नागाः सिद्धा मामीयुरञ्जसा ॥

(स्कन्ध ११ अध्याय १२)

श्रीभगवान कहते हैं कि केवल भावसे ही गोपी, गौ, यमला-र्जुन आदि वृक्ष, मृग और जो दूसरे मूढ़ बुद्धि कालियादि सर्प अनायास ही में मुझ को पाकर कृतार्थ हुए। और भी एक विशेषता इसमें यह है, कि इस की प्राप्ति के लिये कोई नियत समय नहीं है। हो सकता है सात दिन ही में इसका पथ मिल जाय अथवा अनेक जन्म लग जायें। अन्य साधनाओं में प्रायः ऐसा होता है कि उसकी सिद्धि होने के पहिले रुक जाने से किये सब कर्म व्यर्थ होजाते हैं, किन्तु भक्ति में ऐसा नहीं है। इसकी कोई साधना कदापि व्यर्थ नहीं होती। इतना कहने पर भी इस विषय में एक बड़ा गम्भीर प्रश्न रहगया जिस का अच्छी-तरह से विचार करना आवश्यक है, क्योंकि यह महत्व-पूर्ण है और इस के विषय में लोगों में अनेक भेद और भ्रम हैं। इस प्रश्न को व्यवसाय से सम्बन्ध है जो ऐसा व्यापी है कि प्रत्येक व्यक्ति को किसी न किसी रूप में इस को अवश्य करना पड़ता है। आज-कल अनेकों को ऐसी धारणा है कि व्यवहार और परमार्थ एक साथ नहीं निबह सकते अर्थात् वे परस्पर विरोधी हैं। क्या वास्तव में यह आपत्ति ठीक है? क्या वास्तव में भक्ति और व्यव-हार परस्पर विरोधी हैं। क्या किसी व्यवसाय में भक्ति द्वारा बाधा पड़सकती है? अथवा किसी व्यवसाय के कारण भक्ति में रुकावट आसकती है? इन का एकमात्र उत्तर यह है कि भक्ति न किसी व्यवसाय को बाधा देती है और न किसी व्यवसाय से बाधा पासकती है, इतना ही नहीं, किन्तु प्रत्येक व्यवसाय के साथ भक्ति जोड़ना परमावश्यक है, क्योंकि जो व्यवसाय भक्ति-विहीन हो कर और भगवद्विमुख हो कर कियाजाता है उस में यथार्थ सफलता कदापि प्राप्त हो नहीं सकती और उस का परि-णाम अवश्य बहुत ही शोचनीय होता है। वही व्यवसाय मंगल-जनक है जो भक्तियुक्त हो कर कियाजाय। व्यवसाय वही है जिस का सम्पादन समाज के हित के लिये आवश्यक है अन्य नहीं। अब एक नया प्रश्न यह आगया कि क्या कारण है कि व्यवसाय की पूरी सफलता भक्ति पर निर्भर है और बिना भक्ति के व्यवसाय हानिप्रद है? इस का कुछ उत्तर कर्म्मयोग में हो चुका है। इस के उत्तर के लिये भक्ति के तात्पर्य्य का विचारना आवश्यक है जो संक्षेप में किया जाता है।

भक्ति का तात्पर्य्य।

पूर्व्व में भक्ति का तात्पर्य्य दिखलाया जा चुका है किन्तु विषय की गम्भीरता के कारण और व्यवहार में इस की उपयोगिता दिखलाने के कारण उसका संक्षेप में यहां दो-बारा लिखना आवश्यक है। संसार में जितने मनुष्य हैं वे सब श्रीभगवान सच्चिदानन्द के चैतन्य अंश हैं और उनके शरीर और जगत् के सबदृश्यमान पदार्थ गुणमयी प्रकृति के विकार हैं और जड़ हैं। श्रीभगवान का उद्देश्य इस जड़चेतन सम्बन्ध से यह है कि चैतन्य जीवात्मा अपनी प्राकृतिक उपाधि के दोषों का पराभवकर उनको शुद्ध बनावे और अपने वशमें करे ताकि श्री भगवान के आनन्दादि भाव और शक्तियों का जो जीवात्मा में निहित हैं उनके द्वारा प्रकाश और विकास हो और जीवात्मा अपनी सबशक्तियों को श्रीभगवान के प्रीत्यर्थ कार्य्य करने में और उन की इच्छा की पूर्ति में समर्पण और नियुक्त कर श्रीभगवान की ओर क्रमशः अग्रसर होता जाय और अन्त में आनन्द के सागर श्रीभगवान में सम्मिलित हो। जिस शक्ति के बल से यह उद्देश्य सिद्ध होता है और प्रकृति का पराभव होता है वह श्रीभगवान की भक्ति है और उस का अन्य नाम प्रेम है और धर्म इस का एक अंग है। जो श्रीभगवान की इस शक्ति का आश्रय नहीं लेते वे जड़ प्रकृति की भुलावे में पड़ कर लक्ष्य से भ्रष्ट होकर क्लेश में पड़ते हैं, क्योंकि जड़ प्रकृति में केवल आनन्द का अभावही नहीं है, किन्तु वह विरुद्ध गुण वाली है। जड़ प्रकृति शुद्ध और वश में होने पर तो दासी की भांति जीवात्मा की बहुत बड़ी सहायता करती है किन्तु यदि विरुद्ध इस के जीवात्मा ही रजस्तमोमय प्रकृति के वश में हो जाय तो वह इस को विषय-भोग में फंसा कर बहुत ही क्लेश देती है, जैसा कि पहिले कहा जाचुका है। यह स्वयंसिद्ध है कि इस संसार के सब जीवों का लक्ष्य केवल आनन्द की प्राप्ति है और जो कुछ वे करते हैं वे सब इसी के लिये ही करते हैं। यहां तक कि वे इसी के लिये जीते हैं और इसी के लिये मरते हैं। इस विषय पर विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं है। इस कारण मनुष्यमात्र का यह कर्त्तव्य है कि उस आनन्द की प्राप्ति के एकमात्र उपाय श्रीभगवान की भक्ति का अनुसरण

करे। इस भक्ति की जितनी मात्रा बढ़ेगी, उतनीही आनन्द की वृद्धि होगी। जैसा कि पहिले कहा जाचुका है--सबजीव ईश्वर की इच्छा के अनुसार उसी ओर जारहे हैं और जो कोई इस के विरुद्ध चल कर प्रकृति में फँस जायगा, उस को भी कर्म का दुःखरूपी थप्पड़ लगने पर और अपनी होश में आने पर फिर लक्ष्य की ओर आनाही पड़ेगा, किन्तु विलम्ब होगा और दुःख होंगे। शोक है कि हम लोग इस आनन्द को इस के मिलने के स्थान में न खोज कर प्रकृति के पदार्थों में खोजते हैं, जहां इस का कदापि वास नहीं है। इस का परिणाम यह है कि इस जगत में अनेक परिश्रम, बड़े कष्ट, बृहत् पुरुषार्थ, लम्बी कूद-फांद, गम्भीर चिन्ता और अनेक प्रकार के व्यय आदि किये जाने पर भो कहीं शान्ति-देवी के दर्शन नहीं होते वरन सर्वत्र हाहाकार ही देख पड़ता है। सब के सब व्यग्र और पिपासित हो कर मायारूपी मृगतृष्णा की ओर दौड़ रहे हैं किन्तु शान्तिजल नहीं मिलता। संसार में अनेकप्रकार के व्यवसाय अवश्य किये जाते हैं, करोड़ों रुपये एकत्र भी होते हैं, बड़े और विशाल भवन भी बनते हैं, भोगसामग्रियों का तो पारावार नहीं है, पर इन में एक आदमी भी ऐसा नहीं देखा जाता जिसने शान्तिरूपी अमृत का पान किया हो और यथार्थ में सुखी हो, विरुद्ध इस के यह देखने में आता है कि जितनीही अधिक मायादेवी की कृपा अपने भक्त पर होती है उतनीही अधिक उस भक्त की चिन्ता और क्लेश बढ़ते हैं। विचारने से जान पड़ेगा कि बड़े उच्च पद वाले, बड़े धन वाले, बड़ी बुद्धि वाले, बड़े बल वाले, बड़े पदार्थवाले, बड़ी भूमिवाले कदापि शान्ति नहीं लाभ करते, वरन यथार्थ में तृष्णा की वृद्धि के कारण बड़े ही चिन्तित और उद्विग्न रहते हैं। बड़े लोगों का बाह्याडम्बर बाहरसे भड़कीला रहने पर भी यथार्थ में सारशून्य रहता है। किसी कार्य्य का गुण-दोष उस के तात्कालिक फल से जाना नहीं जा सकता किन्तु जो उस का अन्तिम परिणाम है वही उस की असल कसौटी है। पर शोक है कि आजकल के लोग सांसारिक कार्य्यों के तात्कालिक लाभ को ही उन्नति का रूप मानते हैं और परमार्थ की अवज्ञा करते हैं। यह उन की बड़ी भूल है, क्यों कि प्रकृति स्वयं क्षणभंगुर और अस्थायी है अतएव इस के सब कार्य्य परिवर्त्तनशील और नाशवान् हैं। जो व्यक्ति अथवा

जाति केवल प्राकृतिक (सांसारिक) उन्नति को ही अपना लक्ष्य बनावेगी वह अवश्य धोखा खायगी और विपत्ति में पड़ेगी। प्राचीन और वर्तमान इतिहास भी इस का साक्षी है। वर्तमान समय में यूरोपीय महासमर जो अभी समाप्त हुआ, इस का ज्वलन्त दृष्टान्त है। पूर्वकाल में भी पाश्चात्य देशों में अनेक सभ्यतायें बहुत ऊंची उठगई थीं, जैसा कि इजिप्त (मिश्र), वैवीलोन, एसिरिया, रोम, ग्रीक आदि की, किन्तु वे सब केवल पार्थिव (प्राकृतिक) होने के कारण और उन के मूल धर्मशून्य होने के कारण नष्ट होगईं, क्योंकि प्रकृति स्वयं सदा परिवर्तनशील है और कदापि एक रंग रह नहीं सकती। भारतवर्ष की सभ्यता जो इन सभ्यताओं से बहुत ही प्राचीन है और उन के प्रारम्भ के भी अनेक काल पूर्व से चली आती है इस के अब तक जीवित रहने का और अपनी छोटी बहनों की भांति नष्ट न हो जाने का रहस्य यह है कि भारतवर्ष की इस सभ्यता की भित्ति परमार्थ है और लक्ष्य परमात्मा है। परमात्मा सत्य और आनन्दरूप है, अतएव उस की ओर जाने की जितनी चेष्टा की जायगी और जितना मार्ग-अतिक्रम होगा वह कदापि व्यर्थ नहीं होगा, और जितना निकट हमलोग पहुंचेंगे उतनाही अधिक यथार्थ समृद्धि और आनन्द की प्राप्ति होगी और प्राकृतिक दुःखों की निवृत्ति होगी। गुणमयी प्रकृति स्वयं असत्य और मृगतृष्णा की भांति है और जो इस को लक्ष्य बनावेंगे वे अवश्य धोखा खायँगे और अन्त में अवश्य हताश होंगे। अतएव हम भारतवासियों को, जो पाश्चात्य सभ्यता की बनावटी चमकदमक को देखकर और उस पर मुग्ध होकर अपनी प्राचीन रीतिनीति और आदर्श को बड़े वेग से त्याग रहे हैं, अवश्य शिक्षाग्रहण करना चाहिए। अनेक काल अनेक स्थानों में अनेक वार धर्म-विहीन केवल पार्थिव उन्नति को मुख्य लक्ष्य मान कर उस की प्राप्ति के लिये अनेक चेष्टायें और आयोजनायें की गईं, किन्तु सब अन्ततोगत्वा विफल हुईं। वर्त्तमान समय कलियुग में तो केवल इस पार्थिवता की ही प्रधानता है, किन्तु इस का शोचनीय फल प्रगट है। पूर्वसमय में जैसे कि श्रीभगवान रामचन्द्रजी के राज्य में जब भक्ति प्रधान थी, लोग कैसे सुखी थे और किसी दुःख का नाम तक नहीं था, इस पर विचारने से जान पड़ेगा कि

सांसारिक सुख का कारण भी भक्ति ही है। वक्तव्य यह है कि ऐसा समझना कि विना परमार्थ की परवाह और रक्षा किये और केवल धर्मविरुद्ध सांसारिक कर्म्मों और व्यवहारों द्वारा सांसारिक उन्नति होसकती है और स्थायी सुख-सम्पत्ति मिल सकती है, यह सर्वथा भूल है ; यह सांसारिक घटनाओं पर विचार करने से भली भांति सिद्ध होगा। ऐसे प्राकृतिक लाभ से थोड़े दिनों के लिये उन की चमकदमक के कारण बालक्रीड़ा के समान भलेही कुछ तृप्ति क्यों न होजाय किन्तु वह निःसार होने के कारण कदापि नहीं ठहरेगी और अन्त में अवश्य धोखा देगी। संसार में जो इतनी बड़ी हिंसा, द्वेष, हत्या, मारपीट, चोरी, डकैती, लूट, छीनछान, झूठ, छल, प्रपञ्च, पाखण्ड, कपट, धोखेबाजी, अन्याय, अत्याचार, काम, क्रोध, लोभ आदि भयानक दुर्गुण और दुर्व्यसन देखे जाते हैं और सभ्यता एवं उन्नति के नाम से नानारूप में अच्छे और आवश्यक भी समझे जाते हैं, ये सब केवल परमार्थ की अवज्ञा और केवल मायादेवी की उपासना का ही परिणाम है और येही यथार्थ में संसार के महाघोर कष्ट के कारण हैं। केवल भक्ति ही इन के और इन से उपजे क्लेश के दूर करने का एकमात्र उपाय है। संसार में जितनी दरिद्रता, रोग, शोक, चिन्ता, अन्नादि कष्ट, अशान्ति आदि पाई जाती हैं, वे सब भी उसी भक्ति की अवहेलना और केवल जड़ प्रकृति देवी के अनुसरण करने के ही फल हैं। अतएव संसार के कष्टों की कभी कमी नहीं होगी और सुख-शान्ति का राज्य कभी नहीं आवेगा, जब तक कि भक्तिदेवी (पराप्रकृति) का अनादर होता रहेगा और उन के स्थान में केवल मायादेवी की पूजा होती रहेगी। यही कारण है कि आर्य्य ऋषिगणने परमार्थ और व्यवहार को कदापि भिन्न २ नहीं माना और दोनों को एक समझ इसी को आर्य्यजाति के समाजनीति और आचरण की भित्ति बनाया, जिस के कारण उन लोगों के भोजन, शयन, पठन, पाठन, गमन, धनोपार्ज्जन, विहार, व्यवहार आदि सब के सब धर्म्म के अन्तर्गत ही थे, कदापि बाह्य नहीं। यही उन की सर्वोच्च उन्नति का मूलमंत्र था, जिस के वर्त्तमान काल में विस्मरण करने से सुखशान्ति के स्थान में भयानक दुर्दशा उपस्थित हो गई है। आजकल के

अधिकांश लोगोंने तो परमार्थ का एक दम लोप ही कर दिया है, जिस के कारण परमार्थ और व्यवहार की एकता की चर्चा उन लोगों के लिए व्यर्थ है। हम लोगों की वर्त्तमान दुर्दशा के सुधार और सुखशान्ति के राज्य की स्थापना करने का एकमात्र उपाय यह है कि हमलोग अपने पूर्वजों की भांति परमार्थ (भक्ति) को मुख्य मानें और सांसारिक व्यवहारों में भी मायादेवी के मोह से विवेकशून्य न होकर भक्ति की दिव्यदृष्टि से परमार्थ की रक्षा करें और दोनों का पालन साथ २ किया करें। ऐसा करनेही से व्यवहार में यथार्थ सफलता प्राप्त होगी और आनन्द तथा शान्तिरूपी अमृतफल मिलेंगे जो केवल कर्मकर्त्ता ही को सन्तुष्ट न करेंगे किन्तु विश्वमात्र को तृप्त करेंगे। इसी कारण भक्ति के अधिकारियों के वर्णन में कहागया है कि सब व्यवसायियों को इस का आश्रय लेना चाहिये, क्योंकि यह निश्चित बल्कि स्वयंसिद्ध है कि वही व्यवसाय यथार्थ सफल होगा और उत्तम स्थायी फल देगा जो श्रीभगवान की भक्ति के भाव से किया जायगा, और जो इस के विना किया जायगा वह तत्काल में चर्मदृष्टि के अनुसार सुहावन फल क्यों न दे, किन्तु उस का परिणाम अवश्य क्लेश और कष्ट ही होगा। "यतो धर्मस्ततो जयः" का सिद्धान्त सब काल और सब स्थानों के लिए अविचल और अखण्ड है। सब व्यवसाय भगवद्भक्ति की छाया में करने से ही उत्तम होगा, प्रिय होगा और सुखद होगा, किन्तु इस के विना करने से अप्रिय रहेगा और उस का परिणाम भी अवश्यही भयावह होगा। प्राचीन काल में राजा जनक, राजा अम्बरीष, तुलाधार (जो केवल लकड़ी बेचा करते थे), धर्मव्याध, राजा युधिष्ठिर, भीष्म, प्रह्लाद, राजा परिक्षित, राजा पृथु और अर्जुन, आदि भक्तगण मुख्य कर सांसारिक व्यवहारमें भी बहुत ही लगे हुए रहते थे किन्तु व्यवहार को भी परमार्थ का अंग मान कर भक्तिभाव से सम्पादन करते थे जिस के कारण व्यवहार भी बड़ी उत्तमता से करते थे और उस का बड़ा ही उत्तम फल मिलता था और साथ-साथ परमार्थ का भी लाभ होता था। उन के व्यवहार से उन को और उन के परिवार को और संसार को भी बड़े उत्तम फल मिले, जो विना भक्तिभाव के करने से कदापि सम्भव नहीं था। आधुनिक काल में भी भक्तों में यही शैली रही और इसी शैली का अनुसरण सब को करना

चाहिये । इस का वर्णन कर्मयोग में किया भी गया है और आगे भी होगा । चूंकि विना विषय-वैराग्य के धर्म अथवा भक्ति की प्राप्ति हो नहीं सकती, अतएव इस विषय का बार बार वर्णन आवश्यक है ।

भक्ति की सर्वव्यापकता ।

इस भक्तियोग के प्रारम्भ में जिस भक्ति का वर्णन है वह अहैतुकी भक्ति है जो कर्म, अभ्यास और ज्ञानयोग के साधन से प्राप्त होती है । यहां जिस भक्ति का उल्लेख किया गया है वह साधन भक्ति है अर्थात् भक्ति की प्रारम्भिक साधना की अवस्था है जिस की प्राप्ति करने पर ही अहैतुकी भक्ति प्राप्त होती है, अतएव इस के सभी अधिकारी हैं । प्रथम संस्करण की भूमिका में कहा जाचुका है कि इन चार योगों को एक साथ करना पड़ेगा किन्तु उन की प्रधानता में भेद रहेगा । अतएव सब योग साधनकाल में सब के अन्तर्गत रहते हैं किन्तु भक्तियोग तो अंतिम लक्ष्य और सब साधनाओं की प्राण होने से यह तो सबों का आधार ही है (भक्ति) अतएव सबोंमें है । कर्म भक्तिमार्ग का पांव है, अभ्यास उदर है, ज्ञान मस्तिष्क है और यह (भक्ति) सब से ऊंचा हृदय स्वयं सब से है । विनाभक्ति के अर्थात् विना श्रीभगवान को लक्ष्य रख कर कर्म, अभ्यास और ज्ञान सभी व्यर्थ ही हैं, यह पहिले भी दिखलाया जाचुका है और इसी कारण भक्ति सब का लक्ष्य है । यथार्थ में साधना भक्ति से ही प्रारम्भ होती है और इसी में समाप्त होती है । विना भक्ति-भाव के आये किसी साधना में सफलता हो नहीं सकती और इस भाव के आने पर साधक में अन्य आवश्यक साधना और उस की योग्यता भी आही जाती है । कोई साधना विना भक्ति के जिस प्रकार की जाती है वही भक्ति के साथ करने से अन्य प्रकार की हो जाती है । सभी मार्गों की अर्थात् कर्म्म, अभ्यास, ज्ञान और भक्ति की तीन अवस्थायें होती हैं--प्रारम्भ, मध्य और अन्तिम लक्ष्य । अतएव इन सब के प्रारम्भ, मध्य और अन्तिम लक्ष्य लगभग एक रंग के अर्थात् मिलते-जुलते होते हैं, किन्तु उद्देश्यआदि का भेद अवश्य रहता है । कर्म्मयोग की प्रारम्भिक अवस्था सकाम कर्म्म है जिस का उद्देश्य स्वर्गप्राप्ति के लिए देवताओं की तुष्टि है, इस के बाद अभ्यास-

योग की प्रारम्भिक अवस्था आती है जो भी सकाम कर्म्म ही है, किन्तु उस का लक्ष्य अपने शरीर भीतर की शक्तियों का विकाश करना है। इस का परिवर्त्तन हो कर ज्ञान की प्रारम्भिक अवस्था आती है जिसका लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति है जो भी सकाम ही है और अन्त में भक्ति की प्रारम्भिक अवस्था प्रारम्भ होती है जो भी सकाम ही होती है, किन्तु उसका लक्ष्य सबको छोड़ कर केवल श्रीउपास्यदेव ही रहते हैं अन्य नहीं। इस प्रकार प्रारम्भिक साधना की समाप्ति होने पर मध्य अवस्था की साधना का प्रारम्भ होता है। कर्म्मकार्ग की मध्य अवस्था कर्त्तव्य की दृष्टि से कर्म्म करना है, अभ्यास की मध्य अवस्था मनोनिग्रह है, ज्ञान की आत्मा का मनन और निदिध्यासन है और भक्ति की उपास्यदेव के नाम का निष्काम जप और ध्यान है। कर्ममार्ग की अन्तिम अवस्था श्री भगवान के निमित्त कर्म करना है, अभ्यास की मन को समाहित और उपशम करना है, ज्ञान की जीवात्मा में स्थिति पाना है और भक्ति की जीवात्मा को परमात्मा में अर्पण कर अपने स्वार्थ को मिटाना है और उपास्यदेव के साथ युक्त हो जाना है। चूंकि भक्ति अन्तिम लक्ष्य है, अतएव सब मार्ग इसमें वर्त्तमान रहते हैं और यह मार्ग सब मार्गों में वर्त्तमान रहता है, जैसा कि पहिले कहा जा चुका है। इसी कारण भक्ति में सब मार्ग निहित हैं। इसके प्रारम्भ में कर्ममार्ग है, मध्य में अभ्यासमार्ग है और अंत में विज्ञान और परमबोध है जो परा भक्ति है। किन्तु भक्तिमार्ग के सभी भेदों के लक्ष्य केवल श्री उपास्यदेव रहते हैं अन्य नहीं। जैसे सृष्टि श्रीपरमात्मा से प्रारम्भ हो कर परमात्मा में ही लीन होती है उसी प्रकार साधना का प्रारम्भ भी भक्ति है और लक्ष्य भी भक्ति ही है। भक्ति का सब कोई अधिकारी, इसलिये है कि भक्ति जीव का स्वरूप और धर्म है, और ईश्वर पर निर्भर होना जीवात्मा का स्वभाव है जो भक्ति का प्रारम्भ है। नास्तिक भी जिसने जन्म भर ईश्वर का खण्डन किया है यदि अकस्मात् घोर विपत्ति में पड़ता है तो वह भी ईश्वर की सहायता के लिए प्रार्थी होता है, जो सिद्ध करता है कि ईश्वर के सम्बन्ध का ज्ञान जीवात्मा के अभ्यन्तर में अवश्य वर्त्तमान रहता है, यद्यपि बाह्य में उसकी विकृति हो गई हो। दुःख में प्रायः सबका चित्त ईश्वर की ओर जाता है और संकट में पड़ कर

ईश्वर से प्रार्थना करना स्वाभाविक है। इस प्रकार भी सकाम भक्ति का प्रारम्भ हो जाता है। गीता का वचन है:—

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।

आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥ १६॥

अध्याय (७)

हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन! पुण्यवान् जन मुझ को चार प्रकार से भजते हैं—दुःख में पड़ कर, जिज्ञासु हो कर, अर्थ (धन) की चाहना से और ज्ञानी होकर। यह श्लोक सिद्ध करता है कि भक्ति सब प्रकार के लोगों के लिये है। श्रीभगवान की चाह होने से कोई भी भक्ति से वञ्चित हो नहीं सकता, और भी यह कि जैसे सकाम भक्ति प्रारम्भिक साधना है, वैसेही निष्काम भक्ति भी अन्तिम लक्ष्य है, क्योंकि ज्ञानी को भी इस भक्ति की आवश्यकता होती है। कोई भी मनुष्य दुःख से छूटने के लिए अथवा भय से त्राण के लिये, अथवा अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिये, अथवा चित्त की शान्ति के लिये अथवा अन्य कारणों से यदि श्रीभगवान को स्मरण करेगा और यह निश्चय रखेगा, कि केवल श्रीभगवान ही उस के ऐसे २ मनोरथ को पूर्ण कर सकते हैं अन्य कोई नहीं, और ऐसा समझ कर केवल श्रीभगवान को अपना लक्ष्य बनावेगा और मनोरथ की पूर्ति में विलम्ब होने पर भी वह कदापि संशय में नहीं पड़ेगा, किन्तु अपने निश्चय में दृढ़ ही रहेगा कदापि विचलित न होगा, तो वह अवश्य कभी न कभी श्रीभगवान की प्राप्ति करेगा और प्रारम्भ में सकामभाव रहने पर भी उस में निष्काम भाव और अन्य आवश्यक साधनाएं आजायंगी। श्रीहरि भगवान में सदा लगे रहना चाहिए, कदापि पृथक् नहीं होना चाहिए। यही वृत्ति भक्तिमार्ग का प्रारम्भ है।

॥ भक्ति के उपास्यदेव ॥

यथार्थ में वही भक्ति है और वही प्रेम है जिस के लक्ष्य श्रीभगवान हैं। पहिले कहा जाचुका है कि लोगों की भिन्न २ रुचि और स्वभाव के कारण भिन्न २ उपास्यों की आवश्यकता है, क्योंकि एक उपास्य नाना प्रकार के स्वभाव वाले साधक के अनुकूल

हो नहीं सकते । इसी कारण श्रीभगवानने अनेक रूप धारण किये हैं, ताकि साधकगण अपनी रुचि के अनुकूल उपास्य को अपना इष्टदेव बना सकें । प्रत्येक मनुष्य को किसी ऐसे उपास्यदेव को अपना इष्ट बनाना चाहिये, जिन के लिये उस का स्वाभाविक प्रेम हो और जिन के प्रति उस का हृदय स्वभावतः आकर्षित होता हो । विशेष कर साधकों के हित के लिये ही इन उपास्यदेवों ने नाना-प्रकार की लीलायें कीं और अपने परमपावन चरित्र को प्रकाशित किया; ताकि उनका मनन करने से उपास्य देव के प्रति भक्ति और प्रेम की उत्पत्ति हो । जिस उपास्यदेवके रूप, गुण और यश जिस साधक को रुचे और हृदयग्राही हो उसी उपास्यदेव को उसको ग्रहण करना चाहिये । इष्टदेव वही हैं जो साधक के आदर्श हैं और जिनके दिव्य गुण उसके हृदय को आकर्षित करते हैं और जिनकी प्राप्ति कर वह अपनेको कृतकृत्य समझेगा ।

एक अद्वितीय परम परात्पर परमात्मा महेश्वर अनेक रूप धारण करता है और वह अपनी शक्ति से युक्त हो कर सृष्टि का बीजरूप होता है और फिर वहां से सृष्टि का प्रारम्भ होता है । तीन भाव देखने में आते हैं । प्रथम निराकारभाव । दूसरा सशक्ति साकार भाव । यह दूसरा भाव त्रिमूर्ति अर्थात् प्रजापति, महाविष्णु और सदाशिव रूप में प्रगट होता है और ये त्रिमूर्ति अपनी शक्ति से युक्त हो कर सृष्टि का कारण होते हैं । तीसरा विश्वरूप विराटभाव । दूसरे सशक्ति साकारभाव से यह विश्वरूप प्रगट होता है और त्रिदेव अपने एक अंश से इस विश्व में वास करते हैं अर्थात् वे विश्वरूप हो जाते हैं । प्राकृतिक विराट विश्वरूप के भीतर वे वास कर इसका क्रमशः उद्भव करते हैं । त्रिदेव में प्रजापति का कार्य्य सृष्टि का ढांचा बनाना और रचना करना है किन्तु यह कार्य्य समाप्त हो गया । सृष्टि को सात अथवा १४ लोकों में विभक्त करना प्रजापति का कार्य्य था, वह सबसे प्रथम हुआ और समाप्त होगया । अब ब्रह्मा का कार्य्य जारी नहीं है । सशक्ति महाविष्णु और सदाशिव का कार्य्य धारण और पालन और परिवर्तन है जो बराबर जारी है । जीव और जीवात्मा के लिये, जितने आकार, शरीर, उपाधि आदि भिन्न २ लोकों में हैं उनका धारण, पालन, और परिवर्तन कर फिर उनका पुनरुद्भव करना और

भी जीवात्मा का शरीरों में आगमन, वास और उद्गम ये सब कार्य्य सशक्ति महाविष्णु और सदाशिव के हैं। इस विषय के विशेष वर्णन करने का स्थान यहां नहीं है। * प्रजापति उपास्यदेव आजकल हो नहीं सकते, क्योंकि उनका कार्य्य समाप्त होगया। इस समय केवल सशक्ति महाविष्णु और सदाशिव उपास्यदेव हैं, क्योंकि इन दोनों के कार्य्य सृष्टि में अधनपा चल रहे हैं। शक्ति के इन उपास्य देवों से अभिन्न होने पर भी पृथक् तीन उपास्य हुए अर्थात् शक्ति, शिव और विष्णु। शिव के रूप गणेश और विष्णु के रूप सूर्य्य हैं। अतएव पांच मुख्य उपास्यदेव हुए अर्थात् शक्ति, शिव, गणेश विष्णु और सूर्य्य। फिर एक शक्ति के नाना रूप हैं जिन में से किसी एक को शक्ति के उपासक भी अपनी २ रुचि के अनुसार ग्रहण करें।

---

* विष्णुपुराण के ६ ठे अंश ७ वें अध्याय में श्रीभगवान की पराशक्ति, क्षेत्रज्ञ शक्ति और अविद्याशक्ति का वर्णन है और वहां स्पष्ट लिखा है कि क्षेत्रज्ञशक्ति का सब भूतों में उपाधि के कारण न्यूनाधिक प्रकाश रहता है—जैसा कि:—

तथा तिरोहितत्वाच्च शक्तिः क्षेत्रज्ञसंज्ञिता।
सर्वभूतेषु भूपाल! तारतम्येन लक्ष्यते ॥ ६३ ॥
अप्राणवत्सु स्वल्पाल्पा स्थावरेषु ततोऽधिका।
सरीसृपेषु तेभ्योऽन्याप्यतिशक्त्या पतत्रिषु ॥६४॥ पत-
त्रिभ्यो मृगास्तेभ्यः स्वशक्त्या पशवोऽधिकाः।
पशुभ्यो मनुजाश्चातिशक्त्या पुंसः प्रभाविनः ॥६५॥

हे राजा! अविद्या से आवेष्टित होकर क्षेत्रज्ञ शक्ति सब भूतों में थोड़ी बहुत रहती है। पत्थरआदि जड़ में बिना प्राण के समान बहुत कम है, स्थावर वृक्षादि में उस से अधिक, उस से अधिक सर्पादि में, उस से अधिक पक्षियों में, उस से अधिक जंगली पशुओं में, उस से अधिक ग्राम्यपशुओं में और उस से अधिक मनुष्यों में है, जिसके कारण मनुष्य अधिपति इन सबों के हैं।

श्रीसदाशिव के भी बटुक आदि नानारूप उपासकों के सुभीते के लिये हैं। श्रीमहाविष्णु के श्वेतद्वीपवासी विष्णु, शेषशायी विष्णु, वैकुण्ठवासी विष्णु, श्रीनृसिंह, साकेतवासी भगवान श्रीरामचन्द्र, गोलोकवासी भगवान श्रीकृष्णचन्द्र आदि रूप हैं जिन में उपासक अपनी रुचि के अनुसार किसी को उपास्यदेव बना सकता है। ये सब उपास्यदेव यथार्थ में एक हैं और इनमें कोई भेद नहीं है, अतएव इन में छोटे बड़े की किंचित भी भावना करनी असत्य और बड़ा पाप है। ये पांच यथार्थ में तीन ही हैं, क्योंकि श्रीगणेश श्रीशिव के रूप और सूर्य्य विष्णु के रूप हैं। तीन मुख्य उपास्यों में अर्थात् शक्ति शिव और विष्णु में शक्ति तो शेष दोनों में समान हैं, क्योंकि परा शक्ति से युक्त होने ही पर शिव और विष्णु का प्रादुर्भाव होता है और शक्ति इन से सदा अभिन्न हैं, क्योंकि शक्ति और शक्तिमान में भेद हो नहीं सकता। और भी, विना शक्ति की सहायता के इनकी प्राप्ति हो नहीं सकती। यही कारण है कि द्विजों को सब से प्रथम गायत्री की दीक्षा दी जाती है। दक्षिण में प्रथा है कि यज्ञोपवीत के समय बालक अपनी माता के निकट जाकर जिज्ञासा करता है कि हे माता! बतलाओ, कि मेरे पिता कौन हैं। माता द्वारा बतलाये जानेपर बालक पिता के पास जाकर उनको अपना आचार्य्य मानता है। इसका आन्तरिक अभिप्राय यही है कि गायत्री माता के ही द्वारा परमपिता परमात्मा का यथार्थ ज्ञान और प्राप्ति होगी अन्यथा नहीं। परा प्रकृति ही श्रीशंकरकी शक्ति श्रीगौरी हैं, जिनकी कृपा विना श्रीशंकर की प्राप्ति हो नहीं सकती, वही श्रीविष्णु की शक्ति श्रीलक्ष्मी हैं जिनके विना श्रीविष्णु की प्राप्ति हो नहीं सकती, और यही भगवान श्रीरामचन्द्र जी की परमप्रिया शक्ति श्रीसीता हैं जिनकी कृपा विना श्रीभगवान रामचन्द्र की प्राप्ति कदापि हो नहीं सकती। यही भगवान श्रीकृष्णचन्द्र की शक्ति श्रीराधा जी हैं जिनकी कृपा विना भगवान श्रीकृष्णचन्द्र की प्राप्ति हो नहीं सकती इसी कारण उपास्यदेव के प्रथम उनकी शक्ति का नाम आता है, जिस नाम को पीछे रखना दोष है। श्रीब्रह्मवैवर्त पुराण का वचन है:—

करोति सृष्टिं स विधेर्विधाता, विधाय नित्यां प्रकृतिं जगत्प्रसूम् । ब्रह्मादयः प्राकृतिकाश्च सर्वे भक्तिप्रदां श्रीप्रकृतिं भजन्ति ॥ १० ॥

ब्रह्मखंड अ० ३० ।

आदौ राधां समुच्चार्य्य पश्चात् कृष्णं वदेद् बुधः ।
अतिक्रमे ब्रह्महत्यां लभते नात्र संशयः ॥ ५९ ॥
राधा पूज्या च कृष्णस्य तत्पूज्यो भगवान् प्रभुः ।
परस्पराभीष्टदेवो भेदकृन्नरकं व्रजेत् ॥६३॥

प्रकृतिखंड अ० ४९

हरिभक्तिप्रदात्री सा विष्णुमाया सनातनी ।
सा च याननुगृह्णाति तेभ्यो भक्तिं ददाति च ॥ १२९ ॥

अ० ५४

वह विधाता के विधाता, जगत को उत्पन्न करनेवाली सनातनी प्रकृति की सहायता से सम्पूर्ण सृष्टि की रचना करते हैं और शक्ति के उपासक ब्रह्मादि सभी देवता भक्ति देनेवाली श्रीलक्ष्मी को प्रकृति जानकर भजन करते हैं। पण्डित लोगों को पहिले श्रीराधा का नाम लेकर पीछे श्रीकृष्ण का नाम लेना चाहिये। किन्तु इसके विरुद्ध करने से ब्रह्महत्या का पातक होता है, इसमें संशय नहीं है। श्री कृष्ण भगवान श्रीराधा की पूजा करते हैं और श्रीराधा श्रीभगवान कृष्ण की पूजा करती हैं ; ये दोनों एक दूसरे के इष्टदेव हैं। इनमें जो भेद करता है वह नरकगामी होता है। श्रीराधा विष्णु की सनातन शक्ति हैं और श्रीभगवान की भक्ति को देनेवाली हैं। वे जिसपर कृपा करती हैं उसी को भक्ति देती हैं। केवल शक्ति को ही इष्ट मान उनकी उपासना करने से भी भक्ति मिलती है। शक्ति के भिन्न २ रूप भी एक ही हैं कदापि उनमें भेद नहीं करना चाहिये। पद्मपुराण के पातालखण्ड का वचन हैः—

गौरी गंगा महालक्ष्मीर्यस्य नास्ति पृथक्तया।
ते मन्तव्या नराः सर्वे स्वर्गलोकादिहामराः॥ २५१॥
अ० ४।

जो गौरी गंगा और महालक्ष्मी को एक समझता है उसको स्वर्गलोक से आया देवता समझना चाहिए। शक्ति की उपासना इस प्रकार सर्वव्यापक और सबों के लिए समान और परमावश्यक होने पर अब केवल दो उपास्यदेव शंकर और विष्णु रह गये जो यथार्थ में एक हैं कदापि दो नहीं। पहिले कहा जा चुका है कि वर्त्तमान काल में इन दोनों के कार्य्य सृष्टि में हो रहे हैं, अतएव जीवात्मा को इन दोनों से सम्बन्ध है और दोनों आवश्यक हैं। इष्टदेव की प्राप्ति के लिये जैसे उनकी शक्ति की कृपा की आवश्यकता है, उसी प्रकार ऐसे सद्गुरु की प्राप्ति की भी आवश्यकता है, जिनकी स्थिति उस शक्ति के प्रकाश में हो। ऐसे गुरु की प्राप्ति और कृपा होने पर ही उपास्यदेव की प्राप्ति होती है। भगवान श्री शंकर का एक कार्य्य जगद्गुरु का है अर्थात् वे ही संसार भर के गुरु हैं। वे ही माया के तम को नाश करते हैं अर्थात् साधक में तृतीय नेत्र (दिव्य दृष्टि) को खोल कर तम का नाश करते हैं और उपास्य देव को प्रकाशित कर देते हैं। जितने सद्गुरु महात्मा हैं वे सब इन्हीं जगद्गुरु श्री शंकर भगवान् को आह्वान कर और उन्हीं की शक्ति से दीक्षा देते हैं, अतएव वे भी उनके स्वरूप ही हैं। उपासना का क्रम ऐसा है—प्रथम साधक अपनी रुचि के अनुसार किसी एक इष्ट की उपासना करता है। उन्नति करने पर यह उपासना युगल हो जाती है यदि प्रथम ही से यह युगल न रही हो। युगल होने पर शक्ति और इष्टदेव दोनों को अभिन्न जान कर उपासना की जाती है। उपास्यदेव की कृपा से शक्ति की कृपा होती है, और शक्ति की कृपा से सद्गुरु का लाभ होता है, और सद्गुरु के साथ २ जगद्गुरु श्री शंकर का भी लाभ होता है और तब इष्टदेव की प्राप्ति होती है। इस कथन से स्पष्ट है कि प्रत्येक साधक को शक्ति, शिव और विष्णु इन तीनों की कृपा की आवश्यकता है जिनमें किसी एक के बिना सिद्धि नहीं हो सकती, बल्कि साधना की प्रारम्भावस्था में पांच देवों की पूजा

करनी आवश्यक है किन्तु ऐसा होने पर भी इष्ट एक ही रहेगा। शक्ति, गुरु, इष्ट तीनों एक हैं और एक समझ इन की उपासना करनी चाहिये। इस विषय का किञ्चित् वर्णन आगे होगा।

ब्रह्मवैवर्त का कथन है:—

तत्वज्ञानप्रदं शान्तं
मुक्तिदं हरिभक्तिदम् ॥ १८ ॥

(ब्रह्मवैवर्त पुराण ब्रह्मखण्ड अध्याय १२)

शंकर तत्वज्ञान के देने वाले, शान्त, मुक्तिदाता और हरिभक्ति देने वाले हैं। श्रीब्रह्मा ने सनत्कुमार को यों कहाः—

गच्छ वत्स शिवं शान्तं
शिवदं ज्ञानिनां गुरुम् ॥ ४५ ॥ ब्रह्मखण्ड

अध्याय २४

हे वत्स! कल्याण के देनेवाले और शान्त श्रीशिव जी के पास जाओ जो ज्ञानियों के भी गुरु हैं। लिङ्गपुराण का वचन है:—

व्यासावताराणि तथा द्वापरान्ते च सुव्रताः।
योगाचार्य्यावताराणि तथा तिष्ये तु शूलिनः ॥८॥

अध्याय (७)

हे सुव्रतगण! द्वापर के अन्त में महादेव व्यासरूप में प्रकट होते हैं। व्यास भी अनेक हैं। कलियुग में वे योगाचार्य्यरूप में प्रकट होते हैं। उसमें भी अनेक रूप धारण करते हैं। श्रीमद्भागवतपुराण का वचन है:—

विद्यातपोयोगपथमास्थितं तदधीश्वरम्।
चरन्तं विश्वसुहृदं वात्सल्याल्लोकमङ्गलम् ॥

स्कन्ध ४ अं० ६

विश्वहितकारी शिव स्नेह से लोगों की मंगलकामना के लिये उपासना तपस्या और योग के मार्ग के आचार्य्य होकर उनका प्रचार करते हैं। "और भी श्रीमद्भागवतपुराण का वचन है:—

ततः स्वभर्तुश्चरणांबुजासवं जगद्गुरोश्चिन्तयती न चापरम् । ददर्श देहो हतकल्मषः सती सद्यः प्रजज्वाल समाधिजाग्निना । २७ ।

स्कन्ध अ० ४

वह सती तदनन्तर सकल जगत के गुरु अपने पति श्रीशिव जी के चरणकमल के सिवाय दूसरे किसी की ओर चित्त को नहीं लगाकर और शरीरको कल्मषरहित कर समाधिद्वारा उत्पन्न अग्नि से तत्काल भस्म हो गई ।" यह तो श्रीशंकर के जगद्गुरु होने का प्रमाण हुआ । शक्ति के उपासक की शक्ति ही इष्ट रहेंगी किन्तु उक्त इष्ट ही उसको शिव और विष्णु से सम्बन्ध करा देंगी, जो भी उस शक्ति से अभिन्न ही हैं । शिव के उपासक के शिव ही इष्ट रहेंगे और उक्त इष्ट ही उसको अपनी शक्ति और विष्णु से सम्बन्ध करा देंगे जो उन से अवश्य अभिन्न हैं । विष्णु के उपासक के विष्णु ही इष्ट रहेंगे किन्तु उक्त इष्ट ही अपनी शक्ति और शिव से सम्बन्ध करा देंगे जो भी विष्णु के रूप ही हैं, भिन्न नहीं । अतएव आवश्यक है कि उपासक इष्टदेव तो एक ही माने किन्तु अन्य उपास्यों के प्रति भी श्रद्धा-प्रीति रखे और उनकी अवज्ञा न करे । क्योंकि वे सब एक ही हैं और भिन्न २ देवों की भी किसी २ विशेष कार्य्य के लिये आवश्यकता पड़ती है । इसी सिद्धान्तपर स्मार्त धर्म है, जिसमें एक ही देव को इष्ट मानकर भी अन्य देवों की भी पूजा की जाती है । ब्रह्मवैवर्तपुराण का वचन है:—

गणेशञ्च दिनेशञ्च वह्निं विष्णुं शिवं शिवाम् । सम्पूज्य देवषट्कञ्च सोऽधिकारी च पूजने ॥ ६२ ॥ गणेशं विघ्ननाशाय निष्पापाय दिवाकरम् । वह्निं स्वशुद्धये विष्णुं मुक्तये पूजयेन्नरः ॥ ६३ ॥ शिवं ज्ञानाय ज्ञानेशं शिवाञ्च बुद्धिवृद्धये । सम्पूज्यैतल्लभेत् प्राज्ञो विपरीतमतोऽन्यथा ॥ ६४ ॥

प्रकृतिखण्ड अ० १० ।

गणश, सूर्य्य, अग्नि, विष्णु, शिव, शिवा इन छः देवताओं की पूजा करने से मनुष्य प्रकृत कार्य्य में अधिकारी होता है। साधक विघ्ननाश के निमित्त गणेश की, पापनाशनिमित्त सूर्य्य की, आत्मशुद्धिनिमित्त अग्नि की, और मुक्तिनिमित्त विष्णु की, ज्ञाननिमित्त शिव की और बुद्धिवृद्धिनिमित्त शिवा की पूजा करने से लाभ पावेगा, किन्तु इसके विपरीत करने से विपरीत फल मिलेगा। यदि सब उपास्यों का यथार्थ में एक होने का और भिन्न २ कार्य्यों के निमित्त भिन्न २ रूप धारण करने का ज्ञान बनारहे, तो फिर साम्प्रदायिक विरोध जाता रहे जो यथार्थ में भक्ति का बड़ा बाधक है। पद्मपुराण पातालखण्ड का वचन है:—

शिवे विष्णौ न वा भेदो न च ब्रह्ममहेशयोः। तेषां पादरजःपूतं वहाम्यघविनाशनम् ॥ २५० ॥

अ० ४

विष्ण्वीशयोर्विभेदं यः शिवशक्त्योः करोत्यपि ।
तत्पापं मम वै भूयाच्चेन्न कुर्य्यामृतं वचः ॥१२०॥

अ० १६.

ममास्ति हृदये शर्वो भवतो हृदये त्वहम् । आवयोरन्तरं नास्ति मूढाः पश्यन्ति दुर्धियः ॥ २० ॥
ये भेदं विदधत्यद्धा आवयोरेकरूपयोः ।
कुम्भीपाकेषु पच्यते नराः कल्पसहस्रकम् ॥ २१॥
ये त्वद्भक्ताः सदासंस्ते मद्भक्ता धर्म्मसंयुताः ।
मद्भक्ता अपिभूयस्या भक्त्या तव नतिङ्कराः ॥ २२ ॥

अ० २८ ।

भूतेश्वरं यो न नमेन्न पूजये-
न्न वा स्मरेद्दुश्चरितो मनुष्यः ।

नैनां स पश्येन्मथुरां मदीयां,
स्वयंप्रकाशां परदेवताख्याम्॥ ५० ॥
अ० ४२।

भगवान श्रीरामचन्द्र श्रीशत्रुघ्न को कहते हैं:--

शिव और विष्णु में कोई भेद नहीं है, ब्रह्मा और शिव में भी कोई भेद नहीं है। मैं उनकी पवित्र पापनाशक पदरज को शरण करता हूँ। श्रीशत्रुघ्नजीकी सेना के योद्धा वीर पुष्कल राजाने ऐसा कहा:—यदि मैं अपना वाक्य सत्य न कर सकूं तो जो व्यक्ति विष्णु और शिव तथा शिव और शक्ति में भेद कल्पना करता है उसको जो पाप होता है वही पाप मुझको होवे। भगवान श्रीरामचन्द्रजीने श्रीमहादेवजीसे ऐसा कहा:—आप स दा मेरे हृदय में रहते हैं और मैं सर्वदा आपके हृदय में रहता हूं। हम दोनों में कोई भेद नहीं है। केवल दुर्मति मूढ़ लोग भेद देखते हैं। हम दोनों परस्पर अभिन्नरूप हैं। जो हमलोगों में भेद मानते हैं वे सब मनुष्य सहस्र कल्प पर्य्यन्त कुम्भीपाक नरक में अशेष कष्ट पाते हैं। जो आपके भक्त हैं वे धार्म्मिक मेरे भी भक्त हैं और जो मेरे भक्त हैं वह मेरी भूयसी भक्ति के कारण आपके भी किङ्कर हैं। श्रीकृष्ण भगवान का वचन है:—जो दुःशील मनुष्य श्रीभूतेश्वर महादेव को प्रणाम नहीं करता, पूजा नहीं करता, अथवा स्मरण नहीं करता है वह कभी स्वयंप्रकाश परदेवतारूपिणी मेरी मथुरापुरी को नहीं देखता है। श्रीमद्भागवत पुराण का वचन है:—त्रयाणामेकभावानां यो न पश्यति वै भिदां। सर्वभूतात्मनां ब्रह्मन्स शान्तिमधिगच्छति। ५४। स्कन्ध ४ अ० ७। श्री भगवान विष्णु ने दक्ष से यों कहा:—" हे ब्राह्मण! वास्तव में एक रूप और सकल प्राणियों के आत्मा जो यह ब्रह्मा, विष्णु और शिव, इन तीनों में जो भेदभाव नहीं रखता, वह शान्ति (मोक्ष) पाता है।

यह ग्रन्थ सब उपास्यों के उपासक के लिये है और इसमें श्रीभगवानआदि शब्द व्यापकअर्थ में है, कदापि संकुचितभाव में अर्थात् केवल विष्णु अर्थ में ही नहीं है। शैव श्रीभगवान शब्द को शिव समझें और शाक्त शक्ति समझें।

भक्ति के प्रतिबन्धक ।

जैसा कि पहिले कहा जा चुका है इस प्रकरण में भक्ति का वर्णन निष्काम भक्ति से ही किया जायगा। सबसे प्रथम यह आवश्यक है कि भक्ति के विरोधी दुर्गुणों का विचार किया जाय। फिर भी यह कहना अत्यन्तावश्यक है कि भक्ति की प्राप्ति के लिये दुर्गुणों का बहुत कुछ समूल नाश करना चाहिए केवल उनके दबाने से कार्य्य नहीं होगा। इस प्रकरण में कई दुर्गुण और सद्गुण जिनका वर्णन हो चुका है उनको फिर यहाँ दुहराना पड़ेगा जो विषय की गम्भीरता के कारण आवश्यक है और भी इसलिये कि इस मार्ग में दुर्गुण के पराभव और सद्गुण की प्राप्ति में परिपक्वता पाना अत्यन्तावश्यक है। ये काम अन्य मार्गों में जिन उपायों से होते हैं वे इस मार्ग में भिन्नउपाय द्वारा सम्पादित होते हैं और यही यहां बड़ी विलक्षणता है।

भोजन ।

जैसा पहिले भी कहा जा चुका है, मनुष्य का शरीर ही श्री भगवान का उत्तम मन्दिर है और इसी में उनका वास है और साधक को श्रीभगवान की प्राप्ति अपने शरीर के भीतरही होगी, अन्यत्र कदापि नहीं। इस कारण यह अत्यन्त आवश्यक है कि शरीर, इन्द्रिय, और मन की पूरी शुद्धि की जाये, ताकि श्रीभगवान, जो शरीर के भीतर में दोषों के कारण आच्छादित हैं, वे उन के दूर होने पर प्रकाशित होजायें। प्रथम शरीर ही को लीजिये। कर्म्ममार्ग में शरीर का निग्रह होने पर भी यह आवश्यक रह गया कि शरीर के अणु और परमाणु की भी शुद्धि हो, क्योंकि उन का प्रभाव चित्त पर भी पड़ता है। तमोगुणी रजोगुणी अणु और परमाणु आदि के शरीर में रहने से रजोगुणी तमोगुणी वृत्ति चित्त में अवश्य आवेगी जिस के रोकने के लिए उन की शुद्धि आवश्यक है। यह शुद्धि विशेषतः भोजन की शुद्धि द्वारा होती है। तमोगुणी भोजन के व्यवहार से तमोगुण की वृद्धि होती है, रजोगुणी से रजोगुण की और सात्विक से सत्वगुण की वृद्धि होती है। सिवाय शौच और सदाचारपालन के खान-पान का भी प्रभाव शरीर पर सीधे पड़ता है। शरीर की शुद्धि के लिये

केवल सात्विक ही भोजन करना परमावश्यक है जिस से शरीर शुद्ध होता, और इन्द्रियदमन और बुद्धि के पवित्र होने में सहायता मिलती है। रजोगुणी तमोगुणी खान-पान जैसा कि मांस, मदिरा, और अन्य सब प्रकार के मादकद्रव्य जैसा कि भांग, गांजा, तमाकू चुरुट आदि और अविहित अन्नपानादि और भी उत्तेजक और निन्दित वस्तु के भोजनव्यवहार को अवश्य त्यागना चाहिए, जिन के सेवन से शरीर अशुद्ध होता, इन्द्रियां प्रबल और बुद्धि मलिन होती हैं। सात्विक, राजस और तामस आहार का गीता के १७ वें अध्याय में यों वर्णन है:—

आयुःसत्वबलारोग्यसुख-प्रीतिविवर्धनाः। रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्विकप्रियाः ॥ ८ ॥ कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः। आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ॥ ९ ॥ यातयामं गतरसं पूतिपर्युषितं च यत्। उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ॥ १० ॥

आयु, उत्साह, बल, निरोगता, सुख और प्रीति के बढ़ानेवाले, रसीले, चिकने, दीर्घ काल तक रहनेवाले और हृदय को प्रिय लगनेवाले आहार सात्विकपुरुषों के प्रिय होते हैं ॥ ८ ॥ अति तीखे, खट्टे, नमकीन, अति उष्ण, तेज, रूखे, दाहकारी और दुःखशोक-रोगादि को उत्पन्न करनेवाले आहार रजोगुणी पुरुषों के प्रिय होते हैं ॥ ९ ॥ पहरों के ठंढे हुए, रसहीन, दुर्गन्धयुक्त, बासी, जूठे और अपवित्र आहार तमोगुणी पुरुषों के प्रिय होते हैं ॥ १० ॥

शास्त्र में इस का पूरा वर्णन है कि कौन २ पदार्थ सात्विक, कौन राजसिक और कौन तामसिक हैं। उन को जान कर राजसिक और तामसिक का त्याग कर केवल सात्विक का व्यवहार करना चाहिये। शरीरशुद्धि के लिये स्नान, शौच, आचमन आदि क्रिया करना और अपवित्र वस्तु के छुआछूत से बचे रहना और

भोजन में भी इस का उचित विचार रखना आवश्यक है। प्रातः-स्नान तो परमावश्यक ही है जिस का वर्णन कर्मयोग में भी होचुका है। भोजनविचार अवश्य प्रारम्भिक साधना भक्तिमार्ग की है किन्तु इस में यहां पूरी परिपक्वता होजाना चाहिये, यहां तक कि औषध में भी वर्जित पदार्थ का व्यवहार न किया जाय। साधक भक्त के लिये तीन वस्तु बहुत आवश्यक हैं। एक शुद्ध भोजन, दूसरा पवित्र मन, तीसरा ईश्वर का सतत चिन्तन। इन्द्रिय, मन और अहंकार, इन तीनों का आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध है और विना दमन और शुद्धि के ये तीनों भक्ति के बड़े भारी प्रतिबन्धक हैं। इन में जो उत्तरोत्तर ऊंचा है वही प्रबल है। सब से उच्च अहंकार है और वह सब अनर्थों का मूल है, क्योंकि अहंकार का मुख्य अंग स्वार्थ और उस के उपाङ्ग तृष्णा और काम से ही प्रेरित होकर मन इन्द्रियों को विषय-भोग में प्रवर्तित करता है जिस से अनेक विकार उत्पन्न होते हैं और निन्दित कर्म किये जाते हैं। किन्तु इस प्रबल अहंकार की पूरी शुद्धि ज्ञानमार्ग में भी नहीं होती है। यद्यपि वहां अहंकार अनात्मा से पृथक् होजाता है किन्तु उस की स्थिति सूक्ष्मभाव में जीवात्मा में रहती है और उसी दृष्टि से वह सब को देखता है। अपने को "ब्रह्माहं" "शिवोऽहं" भी बुद्धि द्वारा ही समझता है किन्तु उस ब्रह्म और शिव के साथ "अहं" भाव भी वर्तमान रहता है। अहंकार का त्यागना बड़ा ही कठिन है। श्रीभगवान की कृपा से ही प्रेम-भक्ति के प्रकाश द्वारा शोधित होने पर ही अहँभाव विशुद्ध और परिवर्तित और परिवर्द्धित होता है और तब अहंभाव के बदले केवल शुद्ध आत्मभाव रहजाता है, जो भी श्रीभगवान में समर्पित कर दिया जाता है और तभी इसकी पूर्ण शुद्धि होती है। इस का वर्णन आगे होगा। भक्तिमार्ग में मन और इन्द्रियों के दमन और शुद्धि भी भक्ति की साधना द्वाराही की जाती है, जिस के कारण उन में जो अवशेष दोष रहते वे अनायास नष्ट होजाते हैं। पूर्ण इन्द्रिय-दमन तो श्रीभगवान की कृपा से ही होता है। गीता में लिखा है:—

"विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥ ५९ ॥

अ० २।

देहाभिमानी पुरुष का विषयभोग से निवृत्त रहने पर इन्द्रिय-निग्रह होजाता है किन्तु वासना बनी रहती है। परन्तु स्थिर बुद्धि को वह वासना भी श्रीभगवान के दर्शन से नष्ट होजाती है।

मन के विकार षड्रिपु कामक्रोधादि में काम ही मुख्य और सबों का कारण है, क्योंकि इस काम के कारण अन्य सब दोष उत्पन्न होते हैं। अतएव साधक भक्त को स्वार्थसम्बन्धी सम्पूर्ण कामनाओं का त्याग करना चाहिये। उन कामनाओं का पूरा दमन और शुद्धि इसमार्ग में ईश्वर-प्राप्ति की प्रबल कामना को उत्पन्न करने से ही होती है। श्रीभगवान की प्राप्ति का उद्देश्य केवल प्रेमदान अर्थात् स्वार्थत्याग और आत्मसमर्पण होना चाहिये जिसे का हृदय में स्थान देने के लिए अन्य सम्पूर्ण इच्छाओं का त्याग करना आवश्यक है। इस भक्तिमार्ग में मोक्षकामना-पर्य्यन्त स्वार्थ के अन्तर्गत है और भक्ति का प्रतिबन्धक है, अतएव इस मोक्षेच्छा को भी त्यागना पड़ता है, क्यों कि यह भी एक प्रकार की उत्तम तृष्णाही है। प्रेम परमपवित्र और अमूल्य है और उस का स्वभाव "त्याग" है अर्थात् प्रेमी कोई फल अपने लिए कदापि नहीं चाहता है किन्तु प्रियतम की प्रसन्नता के लिये सर्वस्व त्यागने और क्लेश उठाने से ही आनन्द प्राप्त करना स्वाभाविक हो जाता है। स्वार्थ और प्रेम दोनों आपस में विरोधी हैं, अतएव स्वार्थ को पूर्णरूप से त्यागे बिना ईश्वर-प्रेम का संचार हो नहीं सकता। अधर्म, पाप, मलीन कर्म, दुष्टवासना, असदाचार, दुर्व्यसन, आंतरिक मलीनता और कुप्रवृत्ति इत्यादि का मूल स्वार्थ और अहंकार ही है, अतएव इन को बिना त्यागे न तो अन्तष्करण पवित्र होगा और न हृदय शुद्ध होगा जिस के बिना ईश्वर-प्रेम की प्राप्ति हो नहीं सकती। महात्मा श्रीकबीरने जो बार २ अपने वाक्यों द्वारा उपदेश दिया है कि शिर काटके अर्पण करना चाहिये उस का यही तात्पर्य्य है कि अहंकार और स्वार्थ का दमन ईश्वर को आत्मसमर्पण कर के करना चाहिये। श्रीमद् भागवत में दोषों के दमन के उपाय यों कहे हैं:—

असंकल्पाज्जयेत्कामं क्रोधं कामविवर्जनात्।
अर्थानर्थेक्षया लोभं भयं तत्वावमर्शनात् २२ आन्वी-

त्विक्या शोकमोहौ दंभं महदुपासया । योगांतरायान्मौनेन हिंसकायाद्यनीहया २३ कृपया भूतजं दुःखं दैवं जह्यात्समाधिना । आत्मजं योगवीर्येण निद्रां सत्वनिषेवया २४ रजस्तमश्च सत्वेन सत्वं चोपशमेन च । एतत्सर्वं गुरौ भक्त्या पुरुषो ह्यंजसा जयेत् २५

स्कन्ध ७ अ० १५

स्वार्थ-संकल्प को त्याग कर वासना को जीते, वासना का त्याग कर क्रोध का दमन करे, विषयों में नश्वरता और अनर्थ-बुद्धि रख कर लोभ का जय करे, आत्मतत्व का विचार कर भय का नाश करे २२ आत्मा और अनात्मा के विचार से शोक मोह का त्याग करे, सत्वगुणी बड़े पुरुषों की उपासना कर के दंभ का नाश करे, मन की वृत्तियों को मौन कर अर्थात् रोक कर योग की प्राप्ति करे और देहआदि की लोलुपता को रोक कर हिंसा का त्याग करे २३ भय देनेवाले प्राणियोंका अनिष्ट न कर किन्तु उन का हित कर के उन के भय को दूर करे, मन को समाहित कर के प्रारब्ध कर्म के क्लेश को दूर करे, प्राणायामादि योग-क्रिया से शरीर के व्याधियों का क्षय करे, सात्विक पदार्थों का भोजन कर निद्रा को जीते, २४ रजोगुण तमोगुण को सत्वगुण की वृद्धि कर जीते और मन की शान्ति प्राप्त कर सत्वगुण को भी जीते। सद्गुरु की भक्ति और प्राप्ति और उन की कृपा के लाभ से साधक इन सब दोषों को अनायास से जीतने में समर्थ होगा। २५ काम द्वारा काम का दमन करना चाहिए अर्थात् मलीन और अशुभ कामना और वासना के स्थान में उस के विरुद्ध उत्तम, पवित्र और शुभ वासना और कामना को स्थान दे पूर्वकथित दोषोंका, दमन करना चाहिये और यह सहज उपाय है। नेत्र से कुत्सित दृश्य देखने की स्पृहा का दमन श्रीभगवान की सुन्दर मूर्ति के दर्शन करने की इच्छा को उत्पन्न और पूर्ण करने से होगा, श्रीभगवान के यश के कीर्तन-श्रवण में लगने से

श्रोत्रइन्द्रिय की दुष्ट वासना जाती रहेगी, श्रीभगवान के प्रसाद के भक्षण करने से जिह्वा की कुप्रवृत्ति प्रशमित होगी, श्रीभगवान की मूर्ति को हृदय में स्थापन कर उन के पादारविन्द में मन को रमाने से पार्थिव भोगेच्छा नष्ट हो जायगी, श्रीभगवान की परमपवित्र लीला का दर्शन, मनन और उसको हृदयङ्गम करने से अन्तःकरण की मलीनता मिट जायगी और श्रीभगवान के प्रीत्यर्थ कर्म करने से लोभ और स्वार्थ आदि दूर हो जायंगे। इस प्रकार उत्तम कामना से कुत्सित कामना को और विहित कर्म से अविहित कर्म करने की सम्भावना को लोप करना चाहिए। जैसा कि कई बार कहा जाचुका है सब प्रकार की कामनाएं ईश्वर की प्राप्ति में बहुत बड़ी बाधक हैं जिन के त्यागे बिना प्रेम भक्ति प्राप्त हो नहीं सकती। श्रीतुलसीदासजी का कथन है:—

जहां काम तहं राम नहिं, जहां राम तहं काम।
तुलसी कबहुं कि होत हैं, रवि रजनी इक ठाम॥

और भी:—

सा न कामयमाना निरोधरूपत्वात्।

नारद-सूत्र।

वह भक्ति मन में कामना रखने से नहीं होती है, क्योंकि वह सम्पूर्ण कामनाओं को रोकने वाली है। लिखा है कि:—

सर्वसंसारदोषाणां तृष्णैव दीर्घदुःखदा। अन्तः-
पुरस्थमपि या योजयत्यतिसंकटे॥

इस संसार में सकल प्रकार के दोषों में तृष्णाही सब से अधिक दुःख देनेवाली है, घर के भीतर टिके हुए मनुष्य को भी खींच के बड़े भारी संकट में गिरादेती है। और भी:—

यादुस्त्यजा दुर्म्मतिभिर्या न जीर्य्यति जीर्य्यतः।
तां तृष्णां संत्यजन् प्राज्ञः सुखेनैवाभिपूर्य्यते॥१२॥

विष्णुपुराण ४ अंश, १० अ०।

दुष्ट बुद्धि लोग से जो त्यागी नहीं जा सकती, लोगों के वृद्ध होने पर भी जो जीर्ण (शक्ति हीन) नहीं होती, ऐसी तृष्णा को त्याग करके बुद्धिमान सुख से रहते हैं। कठोपनिषद् का वाक्य है:—

यदा सर्व्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥ १४॥

अ० २ वल्ली ६।

जब कि हृदय में टिकी हुई सम्पूर्ण इच्छायें बाहर कर दी जाती हैं (जब नहीं रहती), तब नाशवान अविनाशी होता है और यहां वह निश्चय ब्रह्म को प्राप्ति करता है।

भक्तिमार्ग का यम (निषेध) जिसका वर्णन हो रहा है बड़ा कठिन है, क्योंकि यहां दोष सब अपने घृणित रूप को बदल कर बनावटी उत्तम रूप धारण करके प्रगट होते हैं जिसके कारण उनकी यथार्थ पहचान और दमन सहज नहीं है। अनेक उत्तम साधक इस बनावटी धोखे के भ्रम में पड़कर गिर जाते हैं। वे समझते हैं कि वे ठीक जा रहे हैं किन्तु यथार्थ में वे मार्गच्युत होकर गढ़हे की ओर जाते हैं किन्तु उनको यह मालूम नहीं। प्रायः जब लोग अपने दोषों को जानते हैं और समझते हैं कि वे दोष हैं तब तो उनके सुधार की सम्भावना रहती है, किन्तु यहां तो दोष गुण ही समझा जाता है, अतएव सुधार बड़ा कठिन हो जाता है। साधना में अग्रसर होने पर प्रायः साधक में सुख्याति, मान, बड़ाई, आदर आदि पानेकी इच्छा उत्पन्न होती है और भी यह कि मेरा उपदेश लोग सुनें, मुझे भक्तिप्रचारक मानें और मेरे उपदेशके अनुसार चलें। यह शुद्ध अहंकार का परिणाम है। जो केवल श्रीभगवान की सेवाकी दृष्टि से ही परोपकार और धर्म-प्रचार में प्रवृत्त होगा वह उस विषय के जो छोटे-बड़े कार्य्य अना-यास उसके पास आजायँगे उन्हीं के करने में प्रसन्न रहेगा और कदापि बड़े २ कार्य्यों की ही खोज में न रहेगा। वह कदापि यश के लिये कार्य्य को न खोजेगा किन्तु जो कार्य्य श्रीभगवान स्वतः उसके जिम्मे कर देंगे उसको सहर्ष करेगा यद्यपि वह कार्य्य क्षुद्र

क्यों न हो। इन मान, बड़ाई, आदर आदि के प्राप्त होने पर भी कदापि तुष्टि नहीं होती है, किन्तु वासना बढ़ती ही जाती है और फिर वह समझने लगता है कि जितना आदर मान होना चाहिए उतना नहीं होता, और ऐसा समझ कर वह क्षुभित और दुःखित होता है। यह काम वासना ही रूप बदलकर मान, बड़ाई और गुरु और नायक बनने की वासना का रूप धारण करता है, अतएव इसकी पूर्ति कदापि हो नहीं सकती। काम का स्वभाव है कि जितनोही इसकी पूर्त्ति की जायेगी उतनाही अधिक यह बढ़ेगा। इसी कारण ऐसे साधक में भी इसकी उत्तरोत्तर वृद्धि ही होती जाती है जिसका परिणाम यह होता है कि साधना के बदले यही (मान बड़ाई आदि की वासना) उनका मुख्य लक्ष्य हो जाता है। अच्छे काम के कारण भी यश, मान, बड़ाई और नामवरी पाने की इच्छा स्वार्थ ही है और बन्धन करनेवाली है, और श्रीभगवान की सेवा द्वारा यश पाने की इच्छा अथवा उसके बदले में पूज्य होनेकी इच्छा तो मानो उस पर पानी फेरना है और चिन्तामणि रत्न का कांच से बदलना है। अपनी प्रशंसा की स्पृहा और स्वयं अपनी प्रशंसा प्रकाश अथवा अप्रकाश भाव से करना अथवा अन्य द्वारा करवानी अथवा लेख आदि द्वारा फैलाना और अपनी बड़ाई के लिए दूसरों की निन्दा करना आदि अहंकार ही के कारण होते हैं और ये भक्तिमार्ग में केवल बड़ी बाधा देनेवाले ही नहीं हैं किन्तु इस से गिरादेनेवाले हैं। भक्तिमार्ग में तो केवल उद्देश्य श्रीभगवान की सेवा, उन के पवित्र यश, कीर्ति, माहात्म्य और पावन नाम का विशेष प्रचार होना चाहिये, न कि इस के बदले अपने क्षुद्र नश्वर स्थूल शरीर और उस के नाम के यश के फैलाने का होना चाहिये जिस से जीवात्मा का सम्बन्ध बहुत थोड़े काल के लिये रहता है। आत्मप्रशंसा अर्थात् अपनी प्रशंसा स्वतः किसी प्रकार करना अथवा प्रकाशित करवानी घृणित और पाप है। महाभारत के कर्णपर्व में अध्याय ६६ से ७१ तक में कथा है कि एकबार भारतयुद्ध में युधिष्ठिर ने कर्ण के बाण के आघात से व्याकुल होकर अर्जुन के बल को धिक्कारा और कहा कि तुम अपने गाण्डीव धनुष को दूसरे वीर को दे दो ता कि वह उस के द्वारा कर्ण का बध करे जो अब तक तुम से नहीं हुआ। ऐसा सुन कर अर्जुन

युधिष्ठिर के वध करने पर उद्यत हुए क्यों कि उन की प्रतिज्ञा थी कि जो मुझे गाण्डीव धनुष को दूसरे को दे देने के लिये कहेगा उस को अवश्य वध करूंगा। श्रीभगवान ने ऐसा जान कर अर्जुन से कहा कि हे अर्जुन! तुम्हें अपनी प्रतिज्ञा की रक्षा के लिए भ्रातृवध कर ने की कोई आवश्यकता नहीं है। तुम युधिष्ठिर की निन्दा करो और वह वध तुल्य होगी, क्यों कि अपयश मृत्यु के तुल्य है, अतएव किसी की निन्दा करनी उस को वध करना है। अर्जुन ने युधिष्ठिर की निन्दा की। निन्दा करने के पश्चात् अर्जुन अपने को स्वयं वध करने पर उद्यत हुए और पूछने पर उन्हों ने कहा कि चूं कि मैं ने अपने परम पूज्य बड़े भाई की निन्दा की है, अतएव इस के प्रायश्चित्त के लिये मैं आत्महत्या करूंगा। श्रीभगवान् ने अर्जुन से कहा कि हे अर्जुन! आत्महत्या-रूपी परम भयानक पातक के करने के बदले तुम अपनी प्रशंसा करो, क्योंकि आत्मप्रशंसा करना आत्महत्या करने के तुल्य है; चूंकि आत्महत्या बहुत बड़ा घृणित पाप है, अतएव आत्मप्रशंसा भी जो उस के तुल्य है, कठिन पाप है।

और भी बहुत बड़ा विघ्न साधक के लिए शक्ति अथवा सिद्धि अथवा किसी प्रकार के असाधारण अनुभव पाने की वाञ्छा है जो भी काम ही का रूपान्तर है। सांसारिक विषयों की चाह जैसी बंधन करनेवाली वासना है वैसी ही आधिदैविक (सिद्धिआदि) विषयों की चाह भी वासना ही है और यह भी स्वार्थ ही का परिणाम है और वह परमार्थ की परमविरोधिनी है। ऐसी चाह और इस की प्राप्ति सांसारिक विषयों की वासना से भी बढ़ कर हानि करती है। श्रीमद्भागवत पुराण का वचन है:—

ये दानयोगोपचितासु चेतो मायासु सिद्धस्य विषज्जतेऽङ्ग। अनन्यहेतुष्वथ मे गतिः स्यादात्यन्तिको यत्र न मृत्युहासः ॥ ३० ॥

स्कन्ध ३, अ० २७।

योग से प्राप्त होनेवाली और अन्य प्रकार से नहीं प्राप्त होने-वाली और अत्यन्त मोहित करनेवाली सिद्धियों में यदि उस योगी का चित्त नहीं फंसे तो उस को मेरी पूर्वकथित परमपुरुषार्थ-

रूपी गति प्राप्त होती है जिस में मृत्यु का गर्व कुछ भी नहीं चल सकता अर्थात् यदि योगी का चित्त सिद्धियों में फैलजाय तो मृत्यु को गर्व हो जाता है कि बड़े सिद्ध को भी मैं ने सिद्धि का लोभ दिखा कर अपने वश में कर लिया।

जैसे प्रशंसा की चाह खराब है उसी प्रकार निन्दा की परवाह भी प्रतिबन्धक है और यह भी अहंकार का अंग है। अहंकार का भाव विद्यमान रहने से ही निन्दा का आघात मालूम पड़ता है। भगवत्सम्बन्धी अनेक काम ऐसे भी होसकते हैं जिन के लिये कतिपय लोगों द्वारा निन्दा होनी सम्भव है किन्तु साधक को ऐसी निन्दा की कुछ भी परवाह न कर श्रीभगवान के काम को बड़े हर्ष से करना चाहिये और उस में यदि निन्दा भी हो तो भी उस से प्रसन्न ही रहना चाहिये। प्रशंसा और मान बड़ाई की वासना में फंस कर प्राय: दूसरे की प्रशंसा अथवा योग्यता अथवा सत्कर्म सुन कर चित्त में प्रसन्नता के बदले ईर्ष्या उत्पन्न होती है, क्योंकि अहंकार के कारण वह चाहता है कि केवल मेरी ही प्रशंसा बड़ाई हो और इस में दूसरे पट्टीदार न हों। इस कारण दूसरे की प्रशंसा सुन कर वह क्षुभित और ईर्ष्यान्वित हो नहीं होता है किन्तु उस की निन्दा कर उस को उस प्रशंसा से वंचित करना चाहता है जिस से केवल एकमात्र उसी की प्रशंसा और पूजा हो। ऐसी वृत्ति पूर्ण अधः पतन का कारण है। इस से वह यहां भी ईर्ष्याग्नि से जलता है और परमार्थ से तो भ्रष्ट ही हो जाता है। साधक को चाहिये कि दूसरे की प्रशंसा सुन कर प्रसन्न हो और दूसरे की कदापि निन्दा न करें और दूसरे की सच्ची निन्दा पर भी तह ही देवें और कदापि उसका उद्घाटन न करें। साधक भक्त में यदि कोई शक्ति अनायास प्रगट हो जाय और उसके द्वारा कोई उपकारी कार्य्य हो सके तो उसको समझना चाहिये कि यह शक्ति और कार्य्य करने की सामर्थ्य श्रीभगवान की है, मेरी कदापि नहीं है, और श्रीभगवान के कार्य्यों के साधन करने के लिये दी गई हैं जिनके लिये कदापि अहंकार न कर श्रीभगवान की स्तुति करनी चाहिए और कैङ्कर्य्य भाव से उसका व्यवहार करना चाहिए। साधक को अपनी आन्तरिक शक्ति और अनुभव को कदापि प्रकाशित नहीं करना चाहिये, क्योंकि

ज्ञान अथवा अनजान मान बड़ाई आदि की प्राप्ति के लिये ही यह प्रकाशित करता है जो स्वार्थ हो है और उसके कारण साधक गिर जाता है। अपने दैवी अनुभव को प्रकाशित करने से ऐसे अनुभव का आना एकदम बन्द हो जाता है क्योंकि प्रकाशित करना उसका दुरुपयोग करना है। रहस्य विषय गुप्त ही रहना चाहिये किन्तु श्रीभगवान के अर्थ उसका प्रयोग आवश्यक होने पर अवश्य करना चाहिये। जीवात्मा की सब उत्तम शक्तियां ईश्वर की दी हुई हैं और जो अहंकारवश उनको अपना समझ गर्व करता है उसका गर्व भंग कर दिया जाता है। प्रभासप्रयाण के बाद जब अर्जुन यदुकुल की स्त्रियों को ले कर वापस हो रहे थे उस समय रास्तेमें ग्वालों ने उनसे स्त्रियों को छीन लिया और अर्जुन अपने शस्त्र गाण्डीव तक का व्यवहार करके भी रोक न सके, क्योंकि उनकी शक्ति यथार्थ में श्रीभगवान की थी, उनकी नहीं, और उस शक्ति को जब श्रीभगवान ने हरणकर लिया तो अर्जुन कुछ नहीं कर सके। इस घटना पर और उस समय की अर्जुन की उक्ति पर मनन करने से अहंकार का ह्रास हो सकता है। तब अर्जुन ने यों कहाः—

तद्वै धनुस्त इषवः स रथो हयास्ते सोऽहं रथी नृपतयो यत आनमन्ति। सर्वं क्षणेन तदभूदसदीशरिक्तं भस्मन्हुतं कुहकराद्धमिवोप्तमूष्याम् ॥ २१ ॥

श्रीमद्भागवत स्कन्ध १ अ० १५

कौरव संग्राम में अनेको राजा जिसको प्रणाम करते थे, वही धनुष, वही बाण, वही रथ, वही घोड़े और वही मैं रथी हूं, परन्तु यह सब सामग्रियां श्री कृष्ण से रहित होने के कारण, भस्म में कियाहुआ हवन, मायावी पुरुष से मिली हुई वस्तु और ऊसर भूमि में बोये हुए बीज की भांति एक क्षण में व्यर्थ हो गई। यह घटना यह भी सिद्ध करती है कि सांसारिक पदार्थ और शक्ति में ममता और राग कदापि नहीं करना चाहिये क्योंकि कभी न कभी वे अवश्य नष्ट होंगी।

मान बड़ाई चाहनेवाले को यह भी अवश्य होता है कि अनेक स्थलों में मान बड़ाई के बदले अपमान और निन्दा मिलती है ऐसी

अवस्था में साधक में क्रोध और क्षोभ आते हैं जिनके आवेग में पड़ कर वह क्या नहीं कर सकता, क्योंकि क्रोध सब पापों का मूल है। मान-बड़ाई की रक्षा के लिए असत्यभाषण आदि दुष्कर्म और अनेक प्रकार के धर्माडम्बर करने पड़ते हैं जिनके कारण साधक गिर जाता है। विचित्रता इसमें यह है कि साधक इस मान बड़ाई की चाह के कारण भ्रम में पड़ जाता है और इसको आवश्यक समझता है और यह उसको मालूम नहीं, कि यह वासना उसकी साधना को नाश करनेवाली है। वह यह नहीं जानता है कि उक्त वासना भी काम का ही रूपान्तर है और मायादेवीद्वारा प्रेरित होने से ही आई है। अच्छे २ साधक लोग इस काम के चंगुल में फंस जाते हैं और वे गुरु और सिद्ध बनना चाहते हैं और उस के बदले में मान-बड़ाई, द्रव्य आदि पाना चाहते हैं। उन के स्वार्थी प्रेमी लोग उन से धन, पुत्र, व्याधिनाश और अन्य काम्य पदार्थों की प्राप्ति आदि की प्रार्थना करते हैं जिन के लिये उन को स्वार्थवश आशीर्वाद देना ही पड़ता है, जिस के कारण उन की आन्तरिक शक्ति का बहुत बड़ा ह्रास होता है। ऐसा करने से वे पथ से च्युत हो जाते हैं। ईश्वरीय शक्ति का स्वार्थसाधन में व्यय करना उस का बड़ा ही दुरुपयोग करना है जिस के करने से भी शक्तियां जाती ही रहती हैं। अतएव साधक को चाहिये कि इस दुर्धर्ष काम और मान से बचने के लिये अपने को सब से छोटा समझे और मान बड़ाई को विष के समान जाने और अपमान निन्दा होने से प्रसन्न होवे। अहंकार का त्याग करने ही से ऐसी अवस्था आजायेगी, क्योंकि यह अहंकार ही है जो मान-बड़ाई चाहता है और निन्दा-अपमान से रुष्ट होता है। जब तक मान-बड़ाई की चाह वर्त्तमान रहे तब तक समझना चाहिये कि अहंकार बना हुआ है। इसी कारण भक्त का लक्षण ऐसा कहा है:—

तृणादपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः॥

साधक अपने को तृण से भी तुच्छ मान कर और वृक्ष के समान सहनशील हो कर और अपने लिये मान का त्याग कर और दूसरे

को मान प्रदान कर श्रीभगवान की भक्ति करे। साधक-भक्त को अपने को श्रीभगवान का केवल एक छोटा किंकर के समान समझने से अपमान तनिक भी क्षुभित नहीं कर सकता। बल्कि वह अपमान को अपमान नहीं समझता, क्योंकि अपमान जिस अहंकार पर चोट पहुँचाता है उस का उस में अभाव है। वह अपमान को प्रशंसा की भांति समझता और आवश्यक जान कर उस से प्रसन्न होता है। वह अपमान को श्रीभगवान की कृपा का फल समझता है क्योंकि इस के तत्व को समझ कर सहन करलेने से इस से बड़ा उपकार होता है जैसा पहिले भी कहा जाचुका है। इसी प्रकार क्रोध लोभ आदि रूप बदल कर साधक में आजाते हैं। अपमानित होने पर अथवा अपने आदेश के नहीं पालन होने पर अथवा कोई ऐसे कार्य्य को होते देख कर जो उसे पसन्द नहीं है साधक में क्रोध आजाता है और उस क्रोध को खराब न समझ किन्तु युक्त समझ कर उस को स्थान देता है जो साधक को यथार्थ में कलुषित करता है। साधक के लिए सब प्रकार का क्रोध परम हानिकर है। साधक को श्रीभगवान और उन के अनिवार्य्य कर्मफल के नियम पर विश्वास रखना चाहिये। अधर्म्म का दमन प्रार्थना उपदेशादि द्वारा अवश्य करना चाहिये किन्तु समझना चाहिये कि धर्म्म का कार्य्य केवल धर्म्म ही की सहायता से होगा, अधर्म्म द्वारा कदापि नहीं। क्रोध आदि जो अधर्म्म हैं उन के द्वारा कदापि धर्म्म का कार्य्य नहीं हो सकता है। साधक में भेंट, पूजा, सहायता पाने की अभिलाषा आदि रूप में लोभ ही आ जाता है और इस प्रकार गुप्त आकर बड़ा अनर्थ करता है। साधक को चाहिये कि अपनी आवश्यकताओं को बहुत कम बनावे और उन में भी यथालाभ में सन्तोष रक्खे।

इन्द्रियां भी अपने विषयों का रूप बदल कर, साधक को फसाने के लिये, उन के सामने, उन को भेजती हैं जिन से सावधान रहना साधक के लिये अत्यन्त आवश्यक है। यथार्थ में इन्द्रियां बड़ी ही प्रबल होती हैं और भक्तिमार्ग में बड़ी बाधा देती हैं। अतएव इन के सब प्रकार के बहकानेवाले और मोहनेवाले रूप को सदा निग्रह करते रहना चाहिये, जिन में सब प्रकार के अनुचित मैथुन की वासना बड़ी ही प्रबल है। यह अनेक रूप में बारबार आती रहती

है और बड़ी कठिनाई से नष्ट होती है । किन्तु बिना इस के समूल नष्ट हुए श्रीभगवान के प्रकाश के आश्रय में जाने का सौभाग्य कदापि प्राप्त हो नहीं सकता है । जब सुन्दरता के देखने से उस के श्रीभगवान की विभूति होने का पुज्यभाव, स्त्री को देखने से उस पर जगन्माता का भाव, कुत्सित विषयभोग के देखने से उस में असद्भाव (अर्थात् वह यथार्थ में नहीं है केवल मायामात्र है), केवल सुख की सामग्री के देखने से उस में वैराग्यभाव, और विवेकदृष्टि से संसारमात्र में ईश्वरभाव आते हैं केवल तभी हृदय के मल दूर होते हैं और विना उन के कदापि दूर नहीं होते । हृदय परम शुद्ध होने पर भगवत्प्रेम उत्पन्न होता है और तभी श्रीभगवान वहां प्रगट बोध होते हैं अन्य प्रकार से कदापि नहीं ।

साधना के नियम,
साधना की तीन अवस्था ।

भक्ति की साधना को भी तीन अवस्थाएं रहती हैं । प्रारम्भ, मध्यम और अंतिम लक्ष्य अथवा परिणाम । और भी यह आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक रूप में तीन प्रकार की होती है ।

सत्संग ।

भक्ति की प्राप्ति के लिये सत्सङ्ग परमावश्यक है । धर्म्मिष्ठ परोपकारी सज्जन भक्तों से बार २ मिलना चाहिये, उन के पास केवल बैठनेमात्र से भी लाभ होगा, चित्त शान्त होगा और भक्तिभाव उत्पन्न होगा । उन से भक्ति की साधना के विषय में वार्तालाप करना चाहिये किन्तु व्यर्थ और अनावश्यक प्रश्नों को उठा कर समय को व्यर्थ नष्ट नहीं करना चाहिये । व्यर्थ वितंडावाद में भी नहीं पड़ना चाहिये । नारदसूत्र का वचन है:— "वादो नावलम्ब्यः" । वाद का अवलम्बन (दुराग्रह) नहीं करना चाहिये ।

श्रीमद्भागवत पुराण का वचन है:—

सङ्गमः खलु साधूनामुभयेषां च सम्मतः ।
यत्संभाषणसम्प्रश्नः सर्वेषां वितनोति शम् ॥ १९ ॥

अ० २२ स्कन्ध ४

यत्संगलब्धं निजवीर्यवैभवं तीर्थं मुहुः संस्पृशतां हि मानसम् । हरत्यजोऽन्तः श्रुतिभिर्गतोऽङ्गजं को वै न सेवेत मुकुन्दविक्रमम् ॥ ११ ॥

स्कन्ध ५ अ० १८

भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवेज्जनस्य तर्ह्यच्युतसत्समागमः । सत्संगमो यर्हि तदैव सद्गतौ परावरेशे त्वयि जायते मतिः ॥ ५५ ॥

स्कन्ध १० अ० ५१

साधुओं के साथ सत्सङ्ग दोनों ही के लिये लाभदायक है। उन के परस्पर प्रश्न और उत्तर से सब का कल्याण होता है। भक्तों के सत्संग से श्रीभगवान के यश की कथा सुनने में आती है। उन कथाओं के श्रोतागण के हृदय में प्रवेश होने पर श्रीभगवान उन के मन के मैल को दूर कर देते हैं। हे भगवन्! सन्तों के सत्संग से संसार से छुटकारा होता है। और जब सत्संग हुआ तब आप में भक्ति होती है। आप सब छोटे बड़े के प्रभु हैं और सन्तों की गति हैं। जिस प्रकार सत्संगति से लाभ होता है उसी प्रकार जो भक्ति के तत्व को नहीं जानते उन के किसी २ स्वकपोलकल्पित उपदेश से हानि भी होती है जिस से सावधान रहना चाहिए। आज-कल अनेक उत्तम जिज्ञासु स्वार्थी और असिद्ध गुरुओं और उपदेशकों के पंजे में पड़ कर धोखा खाते हैं और उन का परिश्रम अयुक्तमार्ग के अवलम्बन से व्यर्थ ही नहीं हो जाता है किन्तु उससे हानि भी होती है। और भी विषयी लोगों का संग विष के समान है जिस का सर्वथा त्याग करना चाहिये। दुःसंग के कारण अच्छे लोग भी खराब हो जाते हैं। नारदसूत्र में लिखा है:—

दुःसङ्गः सर्वथैव त्याज्यः ॥ ४३ ॥

काम-क्रोध-मोह-स्मृतिभ्रंश-बुद्धिनाश-सर्वनाश-कारण-त्वात् ॥ ४४ ॥

दुर्जनों का समागम सर्वथा त्याग देना चाहिये ॥ ४३ ॥ क्यों कि वह (दुर्जन समागम) काम, क्रोध, मोह, मतिविभ्रम, बुद्धि-हीनता और सर्वस्वनाशका कारण है ॥ ४४ ॥

श्रीमद्भागवत पुराण का वचन है:—

सत्यं शौचं दया मौनं बुद्धिः श्रीर्ह्रीर्यशः क्षमा ।
शमो दमो भगश्चेति यत्संगाद्याति संक्षयम् ॥ ३३ ॥
तेष्वशांतेषु मूढेषु योषित्क्रीडामृगेषु च । संगन्न कुर्याच्छोच्येषु खण्डितात्मस्वसाधुषु ॥ ३४ ॥

तृतीय स्कन्ध अ० ३१ ।

जिन के संग से सत्य, शौच, दया, मौन, बुद्धि, लक्ष्मी, लज्जा, यश, क्षमा, शम, दम, और सौभाग्य का नाश होता है ऐसे अशान्त, मूढ़, स्त्रियों के वशीभूत, शोचनीय, देहाभिमानी, असाधु के साथ संग न करे। सत्संग का एक अंग भक्तिशास्त्र का संचिन्तन और मनन भी है। किसी सद्ग्रन्थ का चिंतन मनन करना मानो उस ग्रन्थकर्ता से सत्संग करना और बातचीत करने की भांति है, क्योंकि ग्रन्थ में ग्रन्थकर्ता अपनी भावना के रूप में वर्तमान रहता है। किसी ग्रन्थ का यथार्थ तात्पर्य तभी मालूम पड़ता है, जब कि पाठक समझता है कि ग्रन्थकर्ता उसके सामने उपस्थित है और ऐसा समझ उस ग्रन्थकर्ता की जो अवस्था और भाव ग्रन्थसंकलन के समय थे उनको अपने हृदय में लाने का यत्न करने पर और उस द्वारा उसके साथ एकता करने पर ही ग्रन्थकर्ता की यथार्थ तात्पर्य मालूम पड़ता है अन्यथा नहीं। अतएव शास्त्रों का चिंतन मनन करना मानो उस ग्रन्थ-कर्ता से सत्संग करना है और यही सत्संग आजकल सुलभ है और साक्षात् तो बड़ा दुर्घट है। अतएव साधक को ऐसे सद्-

ग्रन्थों का पाठ, विचार और मनन करना चाहिये जिनमें श्रीभगवान के पावन यश और अद्भुत लीलाओं का वर्णन हो, भक्ति की साधना, रहस्य और तत्व का परिदर्शन हो और भक्तों के कार्य्य और महिमा का उल्लेख हो। अन्य उपयुक्त सद्ग्रन्थों का भी मनन करना चाहिये और ऐसे ग्रन्थों का जिसके पढ़ने से श्रीभगवत्सम्बन्धी धर्म्मप्रचार और अन्य परोपकारी कार्य्य के करने में सहायता मिले। नारदसूत्र का वचन है:—

भक्तिशास्त्राणि मननीयानि तदुद्बोधक-कर्माणि करणीयानि ।

जिनमें भक्ति का वर्णन है उन शास्त्रों का चिंतन मनन करना चाहिये और भक्ति बढ़ानेवाले कर्मों को करना चाहिए। सब साधना में यम और नियम दोनों रहते हैं अर्थात् एक यम (निषेध) और दूसरा नियम (विधि)। जैसे सत्संग (विधि) के साथ असत्संग का त्याग (निषेध) भी लगा हुआ है, जो पहिले कहा जा चुका है, उसी प्रकार सद्ग्रन्थ के पाठ (विधि) के साथ असद्ग्रन्थ के पाठ का निषेध भी युक्त है। धर्म और भक्ति की विरोधिनी हानिकारी पुस्तकों को नहीं पढ़नी चाहिये, क्योंकि यह भी एक प्रकार का असत्संग है।

सत्संग की मध्यम अर्थात् आधिदैविक अवस्था ऐसे सत्पुरुषों से सत्संग और समागम करना है जिनको सद्गुरु की प्राप्ति हो चुकी है। महान सद्गुरु तो प्रायः बाह्य दृष्टि से अदृश्य हो रहते हैं किन्तु उनके शिष्य प्रशिष्य और कृपापात्र सत्पुरुष अब भी इस संसार में हमलोगों के बीच वर्तमान हैं जिनके कारण यह गुरुपरम्परा अबतक वर्तमान है और उनके द्वारा और स्वयं भी सद्गुरु से सम्बन्ध साधकों को अब भी हो सकता और होता है और उपयुक्त साधन द्वारा उनकी साक्षात् प्राप्ति भी होती है जैसे कि उन सत्पुरुषों को हुआ है। किन्तु ऐसे सद्गुरु के कृपापात्र महानुभावों से भी सम्बन्ध श्रीभगवान की कृपा से ही होती है, नहीं तो इनकी भी पहिचान बहुत कठिन है। ये लोग अपनी अवस्था को कदापि प्रकाशित नहीं करते और छिपे हुए की भांति रहते हैं। उनमें अन्य सद्गुणों के सिवाय मुख्य

गुण में अहंकार और स्वार्थ के सब रूप का अभाव है। अहंकार के जो दोष हैं वे उनमें नहीं रहते। वे सत्पुरुष न अपने को गुरु मानते हैं, न गुरु बनने का दावा करते हैं और प्रार्थना करने पर भी किसी का गुरु नहीं बनते हैं, क्योंकि वे केवल सद्गुरु को ही सब का यथार्थ गुरु जानते हैं। यदि सत्संगद्वारा किसी की कुछ सहायता करते हैं तो उसके बदले आदर मान कदापि नहीं चाहते, वे कदापि धर्मप्रचार की दुकानदारी नहीं करते और इस प्रकार संसार में बतते हैं कि सिवाय उनके, जिनका समय आ गया है, दूसरे जानते तक नहीं, कि इनको श्रीसद्गुरु से सम्बन्ध है। इस विषय में अपने को पूरा गुप्त रखना उनका मुख्य स्वभाव है। यह परमावश्यक है कि साधक को ठीक समय पर ऐसे सत्पुरुषों के सत्संग और उपदेश का सौभाग्य प्राप्त हो। यथार्थ जिज्ञासु साधक जब ऐसी अवस्था में आ पहुंचता है जब कि उसको ऐसे सत्पुरुषों की सहायता की आवश्यकता है और जब वह इसके लिये पूर्ण लालायित होता है और इसके लिये शुद्ध हृदय से श्री भगवान से बड़े कातर भाव से प्रार्थना करता है और हृदय से व्याकुल होकर क्रन्दन करता है, और जब ठीक समय इस के लिए आजाता है तो श्रीभगवान कृपा कर उस को ऐसे सत्पुरुष से समागम करवा देते हैं। यह कभी भी साधारण रीति से हो जाता है और कभी असाधारण रीति से स्वप्न में भी इस का आदेश मिल जा सकता और मिलता है और ध्यान में भी प्रकट हो सकता है और होताहै, यदि साधक योग्य हो। प्रायः भगवत्कृपा होनेपर ऐसे सत्पुरुषको साधक स्वयं भी पहचान लेता है जो पहिले सम्भव नहीं था। श्रीमद्भागवत का वचन है:—

सोऽहं तवाङ्घ्र्युपगतोऽस्म्यसतां दुरापं तच्चाप्यहं भवदनुग्रह ईश मन्ये। पुंसो भवेद्यर्हि संसरणापवर्ग-स्त्वय्यब्जनाभ सदुपासनया मतिः स्यात् ॥ २८ ॥

स्कन्ध १० अ० ४०।

हे परमेश्वर पद्मनाभ! ऐसा मैं, विषयात्मक पुरुषों को जिस का पाना कठिन है ऐसे तुम्हारे चरण की शरण आया हूं, सो यह तुम्हारी कृपा से ही हुआ ऐसा मैं मानता हूं, यदि कहो कि ऐसा साधुओं

के समागम से हो जाता है तो वह भी जब इस जीव के संसार की समाप्ति होने का समय तुम्हारी कृपा से आता है तभी तुम्हारी कृपा से ही साधुसमागम हो जाता है और उस साधुसमागम से तुम्हारी उपासना में प्रवृत्ति होती है। ऐसे सत्पुरुष के समागम होने पर साधक को सद्गुरु का ज्ञान होना है और साधना का रहस्य प्राप्त होता है जिस के अभ्यास से वह पथ में अग्रसर होता है। सत्संग का अन्तिम लक्ष्य अर्थात् आध्यात्मिक अवस्था श्रीसद्गुरु की प्राप्ति है जिस का वर्णन आगे किया जायगा।

समय की उपयोगिता।

मनुष्य की आयु कलियुग में बहुत थोड़ी है और उस थोड़े की भी कुछ निश्चय नहीं है और साधन बहुत करना है। अतएव साधक को समय के किसी अंश को कदापि व्यर्थ नहीं बीतने देना चाहिए किन्तु ईश्वर चिन्तन में ही लगाना चाहिये। नारदसूत्र में लिखा है:—

सुखदुःखेच्छालाभादित्यक्ते काले प्रतीक्षमाणे क्षणार्द्धमपि व्यर्थं न नेयम्।

जिस समय सुख, दुःख, इच्छा, लाभ, आदि अनेकों प्रकार के विषयों का अभाव हो उस समय काल मनुष्य की प्रतीक्षा करता है, इसलिये अपना हित साधनेवाले मनुष्य को आधा क्षण भी व्यर्थ नहीं जाने देना चाहिये। संसार में सब कुछ पुरुषार्थ से कभी न कभी मिल सकता है किन्तु केवल बीता हुआ समय ही कदापि किसी प्रकार नहीं मिल सकता; अतएव सब से अधिक मूल्य समय का है और सब प्रकार के पुरुषार्थों की प्राप्ति में इस की अपेक्षा रहती है। समय अर्थात् काल एक बड़ा प्रबल कारण है। जो समय का सदुपयोग न कर इस को व्यर्थ खोते हैं, वे अवश्य पछताते हैं; किन्तु समय चूकने पर पछताने से क्या हो सकता है? उन्नति वही करता है जो समय को व्यर्थ नहीं खोता और उस का ठीक २ उपयोग करता है।

श्रद्धा-विश्वास ।

श्रद्धा विश्वास का होना भक्ति के लिए अत्यन्तावश्यक ही नहीं है किन्तु यह इस का मूल है और बिना इस मूल के भक्ति वृक्ष ठहर नहीं सकता । बृहन्नारदीयपुराण का वचन है:—

श्रद्धापूर्वाः सर्वधर्म्मा मनोरथफलप्रदाः । श्रद्धया साध्यते सर्व्वं श्रद्धया तुष्यते हरिः ॥ १ ॥
भक्तिर्भक्त्यैव कर्तव्या तथा कर्माणि भक्तितः ।
कर्माणि श्रद्धाहीनानि न सिध्यन्ति द्विजोत्तमाः ॥ २ ॥

अध्याय ४

सारे धर्म जो श्रद्धा से कियेजायं तो वे वांछित फल देते हैं, श्रद्धा से सब सिद्ध होता है और श्रद्धा से ही श्रीहरि प्रसन्न होते हैं ! भक्ति को भक्ति (श्रद्धा-विश्वास) के साथ करनी चाहिए और सब कर्मों को भी भक्तिपूर्वक (ईश्वरनिमित्त) करना चाहिये, जो कर्म बिना श्रद्धा के किये जाते हैं वे सिद्ध नहीं होते । प्रारम्भ में श्रद्धा विश्वास सद्‌ग्रन्थों के श्रवण, पठन, चिंतन, मनन और सत्संग द्वारा उत्पन्न होता है अर्थात् शास्त्रप्रमाण और आप्तवाक्य इस का प्रधान कारण है । अभ्रान्त त्रिकालदर्शी ऋषियों के शास्त्रोक्त वाक्य और सन्त महापुरुषों के उपदेश जो उत्तम और सत्य हृदय को मालूम पड़े उन पर श्रद्धाविश्वास करना परमावश्यक है जिस के बिना साधक साध्यपथ में अग्रसर हो नहीं सकता । किसी भी विद्या और कलाकौशल की प्राप्ति बिना प्रारम्भ में उन के कतिपय मुख्य सिद्धान्तों पर पूरा विश्वास किये हो नहीं सकती और यह तो सर्वोच्च श्रीभगवान की भक्ति है इस का तो विश्वास ही प्राण है । गीता में श्रीभगवान का वचन है:—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥ २३ ॥

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥ २४ ॥

अ० १७

जो शास्त्रकथित विधान को छोड़ अपनी इच्छा के अनुसार चलता है वह सिद्धि को नहीं पाता, सुख को नहीं पाता और उत्तम गति को नहीं पाता ॥ २३ ॥ इसलिए कर्तव्य और अकर्तव्य इन की व्यवस्था के लिए शास्त्र प्रमाण है, ऐसा जान। और शास्त्र में कहे हुए विधि को जान कर तू यहां कर्म कर सकता है २४

विश्वास का विरोधी सन्देह है जिस के भक्तिमार्ग में आने से सब साधनायें व्यर्थ हो जाती हैं। श्रीभगवान का गीता में वचन है:—

श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥ ३९ ॥
अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥ ४० ॥

अ० ४

जितेन्द्रिय, ज्ञाननिष्ठ और श्रद्धावान् ज्ञान को पाता है और ज्ञान को पाकर शीघ्र बड़ी भारी शान्ति को प्राप्त करता है ३९ जो अज्ञानी, श्रद्धा से हीन और सदा संशय करनेवाला है वह नाश को प्राप्त होता है। जिस का मन सर्वदा संशय में रहता है उस को इस लोक वा पर लोक में सुख नहीं। ज्ञान मार्ग में श्रद्धा के पात्र मुख्य देशिक और वेदान्त के सिद्धान्त हैं किन्तु भक्तिमार्ग में श्रद्धापरिवर्तन हो कर विश्वास हो जाता है और यह विश्वास श्रीभगवान और उन की असीम कृपा में किया जाता है।

श्रद्धा और विश्वास की मध्यमा अवस्था को श्रीभगवान में रति कहते हैंजो साधन द्वारा प्राप्त होती है। इस अवस्था में विश्वास स्वाभाविक हो जाता है और इस में किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं रहती, यद्यपि तब तक कोई प्रत्यक्ष प्रमाण भी नहीं मिलता

है। अन्तरात्मा की जागृति होने से ही यह अवस्था आती है और सत्पुरुषों के सम्बन्ध से इस की प्राप्ति में बड़ी सहायता मिलती है। फल की कामना होने से और उस की पूर्ति में विलम्ब होने से, अथवा कुसंगति से, अथवा कुतर्क और कुविचार से प्रथम अवस्था के श्रद्धाविश्वास के ह्रास और एकदम लोप होने की सम्भावना रहती है, और प्रायः ऐसा होता भी है, किन्तु द्वितीय अवस्था में इस की कुछ भी सम्भावना नहीं रहती, क्योंकि उस समय विश्वास किसी वाह्य प्रमाण पर निर्भर न रह कर और चित्त के वाह्यभाग में न हो कर अन्तरात्मा के ज्ञान पर निर्भर रहता है और वृत्ति भी परम आन्तरिक हो जाती है जो हज़ार कुसंगति में पड़ने और कुतर्क के सुनने पर भी विचलित नहीं होती। अन्तिम अवस्था विश्वास की भक्ति के प्राप्त होने पर आती है जब कि श्रीभगवान की झलक साधक को प्रत्यक्ष रूप से देख पड़ती है जिस के कारण विश्वास का प्रत्यक्ष प्रमाण मिल जाता है। श्रीमद्भागवत में इन अवस्थाओं का निम्नलिखित श्लोक में उत्तम वर्णन है:—

सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदो भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः ॥ तज्जोषणादाश्वपवर्ग-वर्त्मनि श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति ॥ २५ ॥

स्कन्ध ३। अ० २५

साधुओं के संग से ही, मेरे (श्रीभगवान के) पराक्रमों का यथार्थ ज्ञान कराने वाली और अन्तःकरण तथा कानों को सुख देनेवाली कथाओं का सुनना सम्भव होता है, उन कथाओं के सुनने से मोक्षरूप श्रीभगवान के निमित्त श्रद्धा उत्पन्न होती है, उस के अनन्तर उन में रति (प्रीति) होती है और उस के बाद भक्ति क्रमशः उत्पन्न होती है।

मुख्य साधना ।

भक्ति की मुख्य साधना श्रीयुत भगवान श्रीरामचन्द्र ने श्री-लक्ष्मण से यों कही हैः—

चौपाई ।

जाते वेगि द्रवौं मैं भाई, सो मम भक्ति भक्त-सुखदाई ।
सो स्वतंत्र अवलंब न आना, तेहि आधीन ज्ञान विज्ञाना ।
भक्ति तात अनुपम सुखमूला, मिलै जो संत होहिं अनुकूला ।
भक्ति के साधन कहौं बखानी, सुगम पंथ मोहि पावहिं प्राणी ।
प्रथमहिं विप्रचरण अति प्रीती, निज निज धर्म निरत श्रुति रीती ।
एहिकर फलपुनि विषय विरागा, तब मम चरण उपज अनुरागा ।
श्रवणादिक नव भक्ति दृढ़ाहीं, मम लीला रति अति मन माहीं ।
संत चरण पंकज अति प्रेमा, मन क्रम वचन भजन दृढ़ नेमा ।
गुरु पितु मातु बंधु पतिदेवा, सब मोहि कहं जाने दृढ़ सेवा ।
मम गुण गावत पुलक शरीरा, गद्गद् गिरा नयन बह नीरा ।
कामादिक मद दंभ न जाके, तात निरंतर वश मैं ताके ।

दोहा ।

वचन कर्म मन मोरि गति, भजन करै निष्काम ।
तिन्ह के हृदयकमल महं, करौं सदा विश्राम ॥

मानस रामायण, अरण्यकाण्ड ।

श्रीभगवान ने भक्त की साधना शबरी से यों कही हैः—

चौपाई ।

कह रघुपति सुनु भामिनी बाता, मानौं एक भक्ति कै नाता ।
जाति पांति कुलधर्म बड़ाई, धन बल परिजन गुण चतुराई ।
भक्तिहीन नर सोहै कैसे, बिनुजल बारिद देखिय जैसे ।
नवधा भक्ति कहौं तोहि पांहीं, सावधान सुनु धरु मनमाहीं ।
प्रथम भक्ति संतन कर संगा, दूसर रत मम कथा प्रसंगा ।

दोहा।

गुरु-पद-पंकज-सेवा, तीसरि भक्ति अमान।
चौथि भक्ति मम गुणगण, करै कपट तजि गान॥

चौपाई।

मंत्र जाप मम दृढ़ विश्वासा, पंचम भजन सो वेद प्रकासा।
छठ दम शील विरति बहु कर्मा, निरत निरंतर सज्जन धर्मा।
सप्तम सम मोहिमय जग देखै, मोते संत अधिक करि लेखै।
अष्टम यथालाभ संतोषा, सपनेहु नहिं देखै पर दोषा।
नवम सरल सबसों छलहीना, मम भरोस, जिय हर्ष न दीना।
नवमहं जिन के एकौ होई, नारि-पुरुष सचराचर कोई।
सो अतिशय प्रिय भामिनि मोरे, सकल प्रकार भक्ति दृढ़ तोरे।
अरण्यकाण्ड।

गर्गसंहिता के विज्ञानखण्ड अध्याय ३ में श्रीवेदव्यासजी ने उग्रसेन को भक्ति का लक्षण और साधन यों बतलाया:—

"भक्तियोगो द्विधा राजन्सगुणश्चैव निर्गुणः।
सगुणः स्याद्बहुविधो निर्गुणश्चैकलक्षणः॥ ६॥
सगुणः स्याद्बहुविधो गुणमार्गेण देहिनाम्।
तैर्गुणैस्त्रिविधा भक्ता भवन्ति शृणु तान्पृथक्॥ ७॥
हिंसा दम्भं च मात्सर्यं चाभिसन्धाय भिन्नदृक्।
कुर्याद्भावं हरौ क्रोधी तामसः परिकीर्तितः॥ ८॥
यश ऐश्वर्यविषयानभिसंधाय यत्नतः।
अर्चयेद्यो हरिं राजन् राजसः परिकीर्तितः॥ ९॥
उद्दिश्य कर्म निर्हारमपृथग्भाव एव हि।
मोक्षार्थं भजते विष्णुं स भक्तः सात्विकः स्मृतः॥१०॥

जिज्ञासुरार्तो ज्ञानी च तथार्थार्थी महामते ।
चतुर्विधा जना विष्णुं भजंते कृतमंगलाः ॥ ११ ॥
एवं बहुविधेनापि भक्तियोगेन माधवम् ।
भजन्ति सनिमित्तास्ते जनाः सुकृतिनः परे ॥ १२ ॥
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य तथा शृणु ।
तद्गुणश्रुतिमात्रेण श्रीकृष्णे पुरुषोत्तमे ॥ १३ ॥
परिपूर्णतमे साक्षात्सर्वकारणकारणे ।
मनो गतिरविच्छिन्ना खण्डिता हैतुकी च या ॥१४॥
यथाऽधावम्भसा गंगा सा भक्तिर्निर्गुणा स्मृता ।
निर्गुणानां च भक्तानां लक्षणं शृणु मानद ॥ १५ ॥
सार्वभौमं पारमेष्ठ्यं शक्रधिष्ण्यं तथैव च ।
रसाधिपत्यं योगर्द्धिं न वाञ्छन्ति हरेर्जनाः ॥ १६ ॥
हरिणा दीयमानं वा सालोक्यं यादवेश्वर ।
न गृह्णन्ति कदाचित्ते सत्संगानन्दनिर्वृताः ॥ १७ ॥
सामीप्यं तेन वाञ्छन्ति भगवद्विरहातुराः ।
सन्निकृष्टेन तत्प्रेम यथा दूरतरे भवेत् ॥ १८ ॥
सारूप्यं दीयमानं वा समानत्वाभिमानिनः ।
नैरपेक्ष्यान्न वाञ्छंति भक्तास्तत्सेवनोत्सुकाः ॥ १९ ॥
एकत्वं चापि कैवल्यं न वाञ्छंति कदाचन ।
एवं चेत्तर्हि दासत्वं क्व स्वामित्वं परस्य च ॥ २० ॥

निरपेक्षाश्च ये शांता निर्वैराः समदर्शिनः ।
आकैवल्याल्लोकपदग्रहणं कारणं विदुः ॥ २१ ॥
नैरपेक्ष्यं महानन्दं निरपेक्षा जना हरेः ।
जानन्ति हि यथा नासा पुष्पामोदं न चक्षुषी ॥२२॥
सकामाश्च तदानन्दं जानन्ति हि कथञ्चन ।
रसकर्ता तथा हस्तो रसास्वादं न वेत्ति हि ॥ २३ ॥
तस्माद्राजन्भक्तियोगं विद्धि चात्यन्तिकं पदम् ।
भक्तानां निरपेक्षाणां पद्धतिं कथयामि ते ॥ २४ ॥
स्मरणं कीर्तनं विष्णोः श्रवणम्पादसेवनम् ।
अर्चनं वंदनन्दास्यं सख्य मात्मनिवेदनम् ॥ २५ ॥
कुर्वन्ति सततं राजन्भक्तिं ये प्रेमलक्षणाम् ।
ते भक्ता दुर्लभा भूमौ भगवद्भावभावनाः ॥ २६ ॥
कुर्वंतो महतोपेक्षां दयां हीनेषु सर्वतः ।
समानेषु तथा मैत्रीं सर्वभूतदयापराः ॥ २७ ॥
कृष्णपादाब्जमधुपाः कृष्णदर्शनलालसाः ।
कृष्णं स्मरन्ति प्राणेशं यथा प्रोषितभर्तृकाः ॥ २८ ॥
श्रीकृष्णस्मरणाद्येषां रोमहर्षः प्रजायते ।
आनन्दाश्रुकलाश्चैव वैवर्ण्यं तु क्वचिद्भवेत् ॥ २९ ॥
श्रीकृष्ण गोविन्द हरे ब्रुवंतः श्लक्ष्णया गिरा ।
अहर्निशं हरौ लग्ना स्तेहि भागवतोत्तमाः ॥ ३० ॥

हे राजन्! भक्तियोग सगुण और निर्गुण रूप में दो प्रकार का है, जिनमें सगुण अनेक प्रकार का है किन्तु निर्गुण का एक ही लक्षण है ७ मनुष्य के गुणों के मार्ग के कारण सगुण भक्तियोग अनेक प्रकार के हैं और उन्हीं गुणों के कारण नाना प्रकार के भक्त होते हैं जिनका पृथक् २ वर्णन सुनो ६ हिंसा, दम्भ, मत्सर (असहनशीलता), इन में किसी को रख के और भिन्न (पृथक्) दृष्टि और क्रोध के भाव से जो श्रीभगवान में भक्ति करता है वह तमोगुणी भक्त है ८ हे राजन्! जो यश, ऐश्वर्य और विषय की कामना रख के यत्न से श्रीभगवान की पूजा करता है वह रजोगुणी भक्त है ९ कर्म के बीज को नाश करने के लिए और पृथग्भाव (भिन्नदृष्टि) को छोड़ के मोक्ष की प्राप्ति के लिये जो श्रीभगवान का भजन करता है वह सात्विक भक्त है १० हे महामते! चार प्रकार के भक्त अर्थात् जिज्ञासु, दुःखी, ज्ञानी और अर्थ के चाहनेवाले श्रीभगवान मंगलालय को भजते हैं ११ इस प्रकार सुकृती भक्त अनेक प्रकार के भक्ति योग से श्रीभगवान को भजते हैं जो सब सकाम है १२ निर्गुण भक्तियोग का लक्षण सुनो। श्रीभगवान के गुण के सुनने मात्र से साक्षात् परिपूर्णतम, सब कारणों के कारण, पुरुषोत्तम श्रीभगवान में अविच्छिन्न, अखंडित और अहैतुकी जो मन की प्रवृत्ति, जैसा कि समुद्र में श्रीगंगाजी की धारा, वही निर्गुण भक्ति है। हे मानव! निर्गुण भक्तों का लक्षण सुनो १३ व १४ व १५ श्रीभगवान के जन चक्रवर्ती राज्य, रसातल का राज्य, इन्द्रलोक का राज्य, ब्रह्मा की पदवी और अणिमादिक योग की सिद्धियोंको कभी नहीं चाहते १६ हे यादवेश्वर! श्रीभगवान से सालोक्य वास दिए जाने पर भी कदापि उस को वे स्वीकार नहीं करते, क्योंकि वे सत्संग के आनन्द में मग्न रहते हैं १७ श्रीभगवान के विरह में आतुर रह कर भी श्रीभगवान के समीप रहना कदापि नहीं चाहते, क्योंकि जैसा प्रेम दूर रहने पर होता है वैसा समीप रहने में नहीं होता १८ भक्त भगवान के समान रूप दिये जाने पर भी निष्काम होने के कारण वे उसे नहीं चाहते, क्योंकि वे समान होने के अभिमान से मुक्त हैं और श्रीभगवान की सेवा करने के लिये उत्सुक रहते हैं १९ एकत्व और कैवल्य अर्थात् सायुज्य भाव को भी कदापि नहीं चाहते, क्योंकि ऐसा होने से स्वामी और सेवक

का भाव किस प्रकार रहेगा ? २० निरपेक्ष, शान्त, निर्वैर, समदर्शी, भक्त कैवल्य मोक्ष से लेकर किसी लोकपद का ग्रहण सब को वासना ही समझते हैं २१ निष्कामपन के महानन्द को श्रीभगवान के निष्काम भक्त ही जानते हैं जैसा कि फूल की सुगंधि को नाक ही जानती है नेत्र नहीं २२ सकाम भक्त इस आनन्द को कदापि नहीं जानते हैं, जैसे रसकर्ता हाथ रस के स्वाद को नहीं जानता २३ इसलिये हे राजन् ! सब से श्रेष्ठ पद भक्तियोग को जानो। निरपेक्ष भक्तों की पद्धति को मैं तुम को कहता हूं। २४। श्रीभगवान के स्मरण, कीर्तन, श्रवण, पादसेवा, पूजा, वन्दन, दासत्व, सख्यभाव और आत्मसमर्पण इस नवप्रकार की प्रेमभक्ति को, हे राजन्, जो सदा करते हैं, वेही भक्त हैं और पृथ्वी में ऐसे भक्त, जिन की भावना सदा श्रीभगवान में लगी रहती है, दुर्लभ हैं २६ बड़ों से उपदेश पाने की इच्छा रक्खे, अपने से छोटे पर दया करे, तुल्य में मैत्रीभाव रक्खे और सब प्राणियों पर दया करे २७ श्रीभगवान के चरणकमल का भ्रमर बन और श्रीभगवान के दर्शन की लालसा रख प्राणेश श्रीभगवान का स्मरण करे जैसे प्रोषित भर्तृका पति को करती है २८ जिन को श्रीभगवान के स्मरण से ही रोमांच हो जाय, आनन्द की आंसू बहे, शरीर का वर्ण कुछ बदल जाय, और हे श्रीकृष्ण ! हे गोविन्द ! हे हरे ! ऐसा मधुरवाणी कहता रात-दिन श्रीभगवान में चित्त संलग्न रहे, वेही श्रेष्ठ भक्त हैं ३० जिस परम निष्काम भक्ति के वर्णन का यहां प्रसंग है उस का लक्षण और साधना का उत्तम वर्णन ऊपर के गर्गसंहिता के वाक्यों में है और इस भक्ति की साधना श्रवणादि नव ही मुख्य मानी गई हैं। श्रीमद्भागवत पुराण स्कंध ७ अ० ५ में भी यही साधना कही गई है:—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्च्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥ २३ ॥
इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा ।
क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम् ॥ २४ ॥

प्रह्लाद का वचन है कि श्रीभगवान सम्बन्धी श्रवण, कीर्तन, स्मरण, चरणसेवा, पूजा, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मार्पण यह

नौ प्रकार की भक्ति श्रीभगवान में अर्पण की जावे तो उस को मैं उत्तम निष्ठा समझता हूं । और भी:—

सत्यं दया तपः शौचं तितिक्षेक्षा शमो दमः । अहिंसा ब्रह्मचर्यं च त्यागः स्वाध्याय आर्जवम् ॥८॥ सन्तोषः समदृक्सेवा ग्राम्येहोपरमः शनैः । नृणां विपर्ययेहेक्षा मौनमात्मविमर्शनम् ॥९॥ अन्नाद्यादेः संविभागो भूतेभ्यश्च यथाऽर्हतः । तेष्वात्मदेवताबुद्धिः सुतरां नृषु पाण्डव ॥१०॥ श्रवणं कीर्तनं चास्य स्मरणं महतां गतेः । सेवेज्याऽवनतिर्दास्यं सख्यमात्मसमर्पणम् ॥११॥ नृणामयं परो धर्मः सर्वेषां समुदाहृतः । त्रिंशल्लक्षणवान् राजन् सर्वात्मा येन तुष्यति ॥ १२ ॥

भागवत स्कंध ११ अ० ११

श्रीनारदजीने युधिष्ठिरसे कहा—हे राजन् ! पाण्डुपुत्र ! सत्य, दया, तप, शुद्धता, सहनशीलता, युक्त अयुक्त का विचार, मनका निग्रह, इन्द्रियनिग्रह, अहिंसा, ब्रह्मचर्य्य, त्याग, मंत्रानुष्ठान, सरलता, सन्तोष, सब में समान दृष्टि रखनेवाले महात्माओं की सेवा, प्रवृत्त कर्म से धीरे २ निवृत्त होना, मनुष्यों को कर्म का फल उलटा मिलता है यह देखना, वृथाभाषण से बचना, आत्मा में स्थित रहने का यत्न, अन्न आदि का सकल प्राणियों को यथोचित भाग देना, उन सकल प्राणियों में और विशेषतः मनुष्यों में आत्मबुद्धि और देवताबुद्धि रखना, महात्माओं के आश्रयभूत इन श्रीभगवान का श्रवण, कीर्तन, स्मरण, सेवा, पूजन, नमस्कार, दासभाव, सखाभाव और आत्मसमर्पण, यह तीस लक्षणोंवाला सब मनुष्यों का उत्तम साधारण धर्म है जिस को ऋषियों ने उत्तम प्रकार से कहा है ; क्योंकि इस के द्वारा सर्वात्मा श्रीभगवान प्रसन्न होते हैं ।

ऊपर कहे बचनों से सिद्ध है कि अहैतुकी भक्ति के लिए तीन मुख्य सामग्रियों की आवश्यकता है । प्रथम अहैतुक भाव किन्तु

केवल निष्काम सेवा मात्र उद्देश्य। द्वितीय भगवत्सेवा की साधनाओं का अभ्यास जिन में ऊपर कहे नौ प्रकार की साधना मुख्य हैं। तीसरा श्रीभगवान का सतत चिंतन।

अहैतुक सेवाभाव।

फल की अपेक्षा न कर केवल कर्तव्य की दृष्टि से कर्म करना जो कर्मयोग है अहैतुकी भक्ति का प्रथमावस्था अधिभूत है। कर्म को श्रीभगवान के निमित्त करना अर्थात् स्वार्थ रहित हो कर उस के फल को उन में अर्पण करना मध्यमावस्था अधिदैव है। स्वतः कर्म को ही श्रीभगवान में अर्पण करना अर्थात् श्रीभगवान का ही यह कर्म है साधक का नहीं ऐसा समझ कर्म करना अंतिम लक्ष्य आध्यात्म है जिस के बाद आत्मसमर्पण भाव आता है। इस विषय का किंचित वर्णन कर्मयोग के पृष्ठ १०५ से १०६ तक में और भी भक्तियोग में होचुका है। (अहैतुक) भक्त अवश्य सायुज्य मोक्ष को भी नहीं चाहता है और कदाचित दिया जाय तो भी उसे ग्रहण नहीं करता जैसा कि गर्गसंहिता के ऊपर कहे वाक्यों से प्रकट है। यदि (अहैतुक) भक्त कुछ नहीं चाहता तो प्रश्न यह है कि उस के भक्ति करने का उद्देश्य क्या है? बिना किसी उद्देश्य के किसी कार्य्य में कोई प्रवृत्त हो नहीं सकता है। इस अहैतुकी भक्ति को रागात्मिका भक्ति भी कहते हैं अर्थात् राग (उद्देश्य) इस में अवश्य है किन्तु उस को स्वार्थ से सम्बन्ध नहीं है। प्रेमी-भक्त अपने स्वार्थ का त्याग कर किन्तु उस के परिवर्तन में श्रीउपास्य देव के प्रीत्यर्थ अपने मन वचन और शरीर को समर्पण कर अपने स्वाभाविक प्रेम का परिचय देता है। मन वचन और शरीर का समर्पण क्या है? मन वचन और शरीर को कदापि स्वार्थ साधन में न लगा कर केवल श्रीउपास्यदेव के प्रीत्यर्थ उन का व्यवहार करना ही यथार्थ में उन की सेवा है और यही समर्पण है। भक्त जड़ की भांति कदापि निष्क्रिय नहीं हो जाता किन्तु सदा सर्वदा श्रीउपास्यदेव की सेवा में प्रवृत्त रहता है और इसी कारण मोक्ष नहीं लेता है। कहा है कि:—

सालोक्यदा हरेरेका चान्या सारूप्यदा परा।
सामीप्यदा च निर्वाणदात्री चैव मतिस्मृतिः।

भक्तास्तानहिवाञ्छन्ति विना तत्सेवनादिकम् ७६ ।
मुक्तिश्चसेवा रहिता भक्तिः सेवा विवर्द्धिनी ७८ ।

ब्रह्मवैवर्तपुराण, प्रकृतिखण्ड, अ० ३४

और भीः—

सालोक्य सार्ष्टिसामीप्य सारूप्यैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णांति विनामत्सेवनं जनाः ॥ १३ ॥

भागवत पु० स्कं ३ अ०२६ ।

राजन ! पतिर्गुरुरलं भवतां यदुनां दैव
प्रियः कुलपतिः क्वच किंकरोवः ।
अस्त्वेव संग भगवान् भजतां मुकुन्दो
मुक्तिंददाति कर्हिचित्स्म न भक्तियोगम् ॥ १८ ॥

तत्रैव स्कं० ५ अ० ६

श्रीभगवान के लोक की प्राप्ति करानेवाली एक मुक्ति है, दूसरी सारूप्य देनेवाली है, अन्य सामीप्य देनेवाली है और भी अन्य निर्वाण देनेवाली है। भक्तगण इन मुक्तियों की इच्छा नहीं करते, क्योंकि सेवा का इनमें अभाव है। मुक्ति सेवारहित होती है किन्तु भक्ति सेवा भाव को बढ़ाती है।

(श्रीभगवान का वचन है कि) मैं सालोक्य मुक्ति, सार्ष्टिमुक्ति जिसमें समान ऐश्वर्य प्राप्त होता है, सामीप्यमुक्ति, सारूप्यमुक्ति और एकत्वमुक्ति पर्य्यन्त भी देता हूं तथापि मेरे प्रियजन मेरी सेवा-भक्ति के बिना मेरी दी हुई किसी मुक्ति को भी अंगीकार नहीं करते हैं, उनको भक्ति (सेवा) ऐसी अतिशय प्रिय होती है। (श्रीशुकदेवजी ने परिक्षित से यों कहा, कि) हे राजन् ! श्रीभगवान मुकुन्द तुम्हारे और सब यदुवंशियों के पति, परमप्रिय गुरु, देव, प्रियतम, और कभी किंकर तक होते हैं तथा मुक्ति भी देते हैं परन्तु भक्तियोग नहीं देते हैं, भक्ति ऐसा दुर्लभ और अलभ्य है। भक्त के लिए उपास्यदेव की सेवा मुख्य धर्म सिद्ध होने पर अब विचारनीय यह है कि वह सेवा क्या है? सेवा वही है जो उपास्य देव में अर्पण करने योग्य हो और जिससे उनकी तुष्टि हो।

"ईश्वर प्रणिधानाद्वा" इस योगसूत्र की वृत्ति में राजाभोज यों लिखते हैं:—"प्रणिधान इस प्रकार की भक्ति है जिसमें फलों की अभिलाषा किये बिना सब कर्म इस परमगुरु परमेश्वर को अर्पण किये जावें"। श्रीभगवान ने मृकण्डु को ऐसा कहा है :—

मदर्थं कर्म्म कुर्व्वाणो मत्प्रणामपरो नरः ।
मन्मनाः स्वकुलं सर्व्वं नयत्यच्युतरूपताम् ॥ २०५ ॥

बृहन्नारदीय पुराण अ० ४

जो मेरे लिये ही कर्म करता, मुझ में मन लगाये मेरे प्रणामों में परायण (सदा मुझे प्रणाम करता), ऐसा भक्त कुल के सबों को मुझ में प्राप्त कराता है।

मदर्थं कर्मकर्तारस्ते वै भागवतोत्तमाः ॥ ६० ॥

तत्रैव अ० ५

जो मेरे लिये कर्मों को करता है वह उत्तम भक्त है। उपासना सूत्र में लिखा है:—

तस्मिन् प्रीतिः तस्य प्रियकार्य-साधनं च तदुपासनम् ।

उपास्य में प्रीति रखनी और (प्रीति के कारण) उसकी तुष्टि-निमित्त उसका कर्म करना उपासना है। अब प्रश्न है कि वह किसप्रकार का कर्म अथवा सेवा है जिससे उपास्य देव की तुष्टि होगी और जिसके कारण वह उनमें समर्पण करने योग्य होगा। जो कर्म जिसको प्रिय और आवश्यक रहता है उसके सम्पादन में वह स्वतः लगा रहता है और वही क्रिया उसको प्रिय होती है और उसी में किसी के योग देने से वह प्रसन्न होता है। अब देखना चाहिए कि श्रीभगवान (उपास्यदेव) किस कार्य्य में स्वतः प्रवृत्त हैं, क्योंकि वही कार्य्य उनको प्रिय होगा। श्रीमद्भगवद्गीता का वचन है:—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥ २२ ॥

अध्याय ३

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ ७ ॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ ८ ॥

अध्याय ४

और भी:—

युगे युगे च बाध्येत यदा पाखंडिभिर्जनैः।
धर्म्मः क्रतुर्दया साक्षात्तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥ २७ ॥

गर्गसंहिता, गोलोक खंड अ० ३

हे पार्थ! तीनों लोक में मुझे कुछ भी करना नहीं है क्योंकि कोई पदार्थ ऐसा नहीं है जो मुझे प्राप्त न हो या प्राप्त न हो सके परन्तु तोभी मैं कर्म करता हूं। हे भारत! जब २ धर्म की क्षीण दशा आजाती है और अधर्म की उन्नति होती है तब २ मैं संसार में प्रगट होता हूं। सज्जनों की रक्षा के लिये और दुर्जनोंके दमन के लिये और धर्म की स्थापना करने के लिये युग युग में मैं संसार में प्रगट होता हूं। जिस २ युग में जब २ पाखंडियों द्वारा धर्म, यज्ञ, दया (परोपकार) में बाधा पड़ती है तब २ मैं साक्षात् प्रगट होता हूं।

ऊपर के वचनों से और भी जो कुछ ज्ञानयोग में और भी इस प्रकरण में श्रीभगवान के कार्य्य के विषय में उल्लेख है उनसे सिद्ध है कि यह सृष्टि और इसके सब प्राणी श्रीभगवान के परम प्रिय ही नहीं हैं किन्तु उनके रूप ही हैं और श्रीभगवान प्रेम के कारण उनके भीतर रहनेका और उनकी उर्द्धगति में उनको प्रेरणा करने का कष्ट (यत्न) सहर्ष स्वीकार करते हैं और जब २ अधर्म की अधिकता से जीव की ऊर्द्ध्वगति में बहुत बड़ी बाधा पड़ती है तब २ स्वयं अवतार लेने का कष्ट अपने ऊपर लेकर अधर्म और दुष्टों का दमन करते और धर्म और धर्म्मिष्ठों की सहायता करते हैं, जिनमें दुष्टों का दमन करना केवल उन्हीं का अधिकार है। श्रीभगवान दुष्टों को दमन कर अथवा अधर्मियों को दण्ड दे उनको

सचेत कर यथार्थ में उनका उपकार ही करते हैं। ऊपर के सिद्धान्त से स्पष्ट है कि संसार में श्रीभगवान का अस्तित्व मान सबको भगवद्दृष्टि से देखना और प्राणियों के प्रति दया और उपकार करना और विशेष कर जिसमें धर्म, ज्ञान और भक्ति की वृद्धि हो और अधर्म का ह्रास हो उसको श्रीभगवान का कार्य्य समझ उन्हीं के निमित्त उचित रीतिसे करना श्रीभगवान की उत्तम सेवा और पूजा है और यही मुख्योद्देश्य भक्त के लिये है।

भक्त-साधक को प्राणीमात्र में श्रीभगवान का अंश जान सबों के साथ भ्रातृभाव, प्रेम और स्नेह रखना चाहिए, किसी की निन्दा और द्वेष नहीं करना चाहिये और अपने दुःखसुख के समान दूसरे के भी दुःखसुख को जानना चाहिये। श्रीकृष्णभगवान का वचन है:—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन !
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥ ३२ ॥

हे अर्जुन! जो पुरुष अपने समान सर्वत्र औरों के भी सुख दुःख की ओर दृष्टि रखता है वही योगी सबसे श्रेष्ठ है। और:—

आत्मवत्सर्व्वभूतानि ये पश्यन्ति नरोत्तमाः।
तुल्याः शत्रुषु मित्रेषु ते वै भागवतोत्तमाः ॥ ४२ ॥

वृहन्नारदीय पुराण अ० ५।

जो उत्तम जन अपने समान सब प्राणियों को देखते, मित्र और शत्रुओं को समान जानते हैं वे उत्तम भक्त हैं। भक्त का हृदय ऐसा कोमल होना चाहिये कि दूसरे का दुःख वह अपना दुःख समझे और दूसरे का सुख वह अपना सुख समझे। भक्त को अपने में और दूसरे में पृथकभाव का विचार नहीं रखना चाहिये और अपनी हानि-लाभ को दूसरों की हानि-लाभ के साथ एक कर देना चाहिये। साधक को अपनी आत्मीयता और दया का धीरे २ प्रसार करते जाना चाहिये, पहिले अपने परिवारों में और अपने में ऐक्य का अभ्यास कर परिवार से अपने को अभेद समझना चाहिये, उस के बाद अपने पड़ोस के लोगों के साथ, फिर

ग्रामभर के लोगों के साथ, फिर देश भर के साथ, फिर पृथ्वी भर के साथ और अंत में सृष्टिमात्र के साथ जैसा कि कर्मयोग में भी कहा जा चुका है। भेद यह है कि यहां सर्वत्र सब को श्रीभगवान का अंश मान उन्हीं की दृष्टि से देखना होगा। जैसे २ एकत्वभाव और भूतदया का प्रसार होता जायगा वैसे २ वह ईश्वर के समीप होता जायगा। सृष्टिमात्र से ऐक्य कर के सृष्टिमात्र को एक जानना ईश्वर में युक्त होना है क्योंकि सृष्टि ईश्वरमय है और ईश्वर का शरीर रूप है। इस नानात्व (नाना रूप संसार) में एकत्व देखना अर्थात् सृष्टिमात्र को ईश्वर के सत् चित आनन्द रूप से पूर्ण देखना और उसी कारण सबों के साथ समभाव प्रेमभाव का वर्ताव रखना भक्ति की ऊंची श्रेणी है।

श्रीकृष्ण भगवान ने गीता में इस प्रकार उपदेश किया है—

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति॥ ३०॥

अ० ६।

जो मुझ (ईश्वर) को सब प्राणियों में देखता है और मुझ में सम्पूर्ण प्राणियों को देखता है उस से मैं कभी अप्राप्त नहीं रहता हूं और न वह मुझ से अप्राप्त रहता है। बृहन्नारदीय पुराण का वचन है—

चराचरात्मकं विश्वं विष्णुरेव सनातनः।
इति निश्चित्य मनसा योगद्वितयमभ्यसेत्॥ ३६॥
आत्मवत्सर्वभूतानि मन्वाना ये मनीषिणः।
ते जानन्ति परं भावं देवदेवस्य चक्रिणः॥ ३७॥

अध्याय ३१।

चर अचररूप संसार सनातन विष्णु ही है ऐसा मन से निश्चय कर के कर्मयोग और ज्ञानयोग का अभ्यास करे॥ ३६॥ जो विचारशील अपने समान सब प्राणियों को जानते हैं अर्थात

सबों को अपने आत्मा से पृथक् नहीं समझते, वेही देवों के देव विष्णु जी के परमभाव का ज्ञान प्राप्त करते हैं। औरभीः—

सियाराममय सब जग जानी। करौं प्रनाम जोरि युग पानी॥

श्रीतुलसीदास।

भक्त को सबों पर दया प्रेम रखना चाहिये, वह अपने प्रेम की सीमा से बाहर किसी को भी नहीं कर सकता, बाहर से कोई कैसाहू अमंगल, अशुभ, विरुद्ध और अप्रिय क्यों न हो, क्योंकि वह सबों के हृदय को प्रेम और (ईश्वरीय) जीवनशक्ति का आधार जानता है और ईश्वर को सबों के हृदय में वर्तमान देखता है। भक्त प्राणीमात्र का मित्र होता है और सबों के उपकार करने में तत्पर रहता है जिस को वह अपना मुख्य कर्तव्य समझता है। जो ईश्वर निमित्त निःस्वार्थभाव से परोपकार नहीं करता वह कदापि भक्ति नहीं प्राप्त कर सकता। भक्त के चित्त में ऐसा भाव रहता है—

सर्वत्र सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखमाप्नुयात्॥

(भक्त इच्छा रखता है कि) सब कोई सुखी रहें, सब कोई व्याधिरहित रहें, सब कल्याण देखें और कोई दुःख न पावे। और भक्त ईश्वर से ऐसी प्रार्थना करताहै कि—

उत्तिष्ठोत्तिष्ठ गोविन्द! उत्तिष्ठ गरुडध्वज!

उत्तिष्ठ कमलाकान्त! त्रैलोक्यमङ्गलं कुरु॥

हे गोविन्द! हे गरुडध्वज! हे कमलाकान्त! उठो, उठो, उठो, और तीनों लोकों का मंगल करो!!! गोस्वामी तुलसीदास जी ने लिखा है:—

हेतुरहित जग युग उपकारी
तुम तुम्हार सेवक असुरारी॥
संत सहज सुभाव अति दाया।
परउपकार बचन मन काया॥

संतहृदय नवनीत समाना ।
कहा कविन पै कहि नहिं जाना ॥
निज परिताप द्रवै नवनीता ।
परहित द्रवहिं सुसंत पुनीता ॥
उमा ! संत की यही बड़ाई ।
मंद करत जो करैं भलाई ॥
संत बिटप सरिता गिरि धरनी ।
परहित हेतु इन्हन की करनी ॥
संत सहहिं दुख परहित लागी ।
पर दुख हेतु असन्त अभागी ॥
भूरुज तरु सम सन्त कृपाला ।
परहित सह नित बिपति बिशाला ॥
सन्त उदय सन्तत सुखकारी ।
विश्व सुखद जिमि इंदु तमारी ॥

वृहन्नारदीयपुराण का वचन है—

ये हिताः सर्व्वजन्तूनां गतासूया अमत्सराः ।
वशिनो निस्पृहाः शान्तास्ते वै भागवतोत्तमाः ॥३५॥
आरामरोपणरतास्तड़ागपरिरक्षकाः
कासारकूपकर्त्तारस्ते वै भागवतोत्तमाः ॥ ४७ ॥
ये वै तड़ागकर्त्तारो देवसद्मानि कुर्व्वते ।
गायत्रीनिरता ये च ते वै भागवतोत्तमाः ॥ ४८ ॥

अ० ५ ।

परोपकारनिरतः सदा भव महामते ! ।
हरिपूजापरश्चैव त्यज मूर्खसमागमम् ॥ ४२ ॥

अ० ११ ।

तस्माज्जन्तुषु सर्व्वेषु हितकृद्धरिपूजकः ।
ईप्सितं मनसा यत्तु तत्तदाप्नोत्यसंशयम् ॥६७॥

अ० १० ।

जो सब प्राणियों के हितकारी, ईर्षा अहंकार रहित, दान्त (जितेन्द्रिय), इच्छारहित और शान्त हैं वे भगवद्भक्तों में उत्तम हैं ॥ ३५ ॥ जो वृक्ष लगाते, तड़ाग को उद्धार आदि कर के रक्षा करते और जो सरोवर कूंआ बनवाते हैं वे उत्तम भगवद्भक्त हैं ॥ ४७ ॥ जो सरोवर और देवमन्दिर बनवाते हैं और जो गायत्री की उपासना करते हैं वे उत्तम भगवद्भक्त हैं ॥ ४८ ॥ हे महामते ! सर्वदा परोपकार करने में प्रवृत्त रहो, ईश्वर की पूजा में रत होवो और मूर्खों की संगति त्याग करो ॥४२॥ अतएव जो सब प्राणियों के हितकारी और हरिपूजक हैं वे जो २ मन से चाहते हैं सो २ निस्सन्देह पाते हैं ॥ ६७ ॥

ईश्वरनिमित्त जो कर्म किये जाते हैं उन में दूसरे के पारलौकिक उपकारनिमित्त यत्न करना जो काम है वह मुख्य है जैसाकि पहले भी कहा जाचुका है । धर्म, दान और भक्ति आदि के प्रचार से लोगों का यथार्थ उपकार होता है, अतएव उनका प्रचार संसार में जिस भांति हो उस भांति करना भक्त का मुख्य कर्तव्य है, क्योंकि उक्त कार्य्य में स्वतः श्रीभगवान लगेहुए हैं जैसा कहा जाचुका है । अतएव भक्त भी ईश्वर का अनुकरण करता है और ईश्वर की तरह देनेही (सृष्टि के उपकारनिमित्त कर्म करने) की इच्छा रखता है अपने लिये कुछ पानेकी नहीं । श्रीभागवतपुराण १० म स्कंध अध्याय ८० में लिखा है—

केचित् कुर्वन्ति कर्माणि कामैरहतचेतसः ।
त्यजन्तः प्रकृतिं दैवीं यथाऽहं लोकसंग्रहम् ॥३०॥

कोई ईश्वर की माया से मोहित न हो कर और विषयों की तथा अन्य किसी पदार्थ की इच्छा न रख के लोकको भलाई के निमित्त कर्म करते हैं जैसे मैं करता हूं ॥ ३० ॥

जिस कर्म में प्रभु प्रवृत्त रहें उस में यदि सेवक न प्रवृत्त हो तो वह सेवक नहीं कहा जा सकता, ऐसे ही जो धर्म के प्रचार में प्रवृत्त न होते जिस में श्रीभगवान स्वयं प्रवृत्त हैं, वे भक्त न कहे जा सकते हैं। भक्त ईश्वर से प्रार्थना करता है कि "हे प्रभु! आप अवतार लेने का कष्ट मत लें, आप की कृपा से वह कार्य (धर्मरक्षा) यहां मैं ही कर दूंगा"। पुरातन समय के नारदादि भक्तगण और कलि में भी श्रीतुलसीदासजी, श्रीगुरुनानक, महात्मा कबीर, श्रीसूरदासजी, श्रीचैतन्यदेव, जी श्रीशंकराचार्य्य, श्रीरामानुजाचार्य्य, श्रीमाधवाचार्य्य, श्रीतुकाराम बाबा, श्रीरामदास जी, श्रीनामदेव जी, श्री मत्परमहंस रामकृष्ण जी आदि भक्तों ने धर्म, ज्ञान और भक्ति का प्रचार करके लोगों का उपकार कर ईश्वर के प्रेमी और भक्त होने का परिचय दिया है। जहां धर्मदान नहीं वहां ईश्वर नहीं। फिर भी यह कहा जाता है कि जो निःस्वार्थ होके और ईश्वर का प्रिय कार्य जानके सदाचार, धर्म, ज्ञान और भक्ति आदि को लोगों में प्रचार नहीं करते और ऐसे प्रचार को अपना मुख्य कर्तव्य नहीं समझते, वे कदापि यथार्थ भक्त नहीं हैं। जो परोपकार करने का श्रम प्रसन्नता से अपने ऊपर न लेगा वह कदापि भक्ति प्राप्त नहीं कर सकेगा।

भक्ति का नारदसूत्र में यों वर्णन है—

नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति ।

परन्तु नारद ऋषि का तो यह मत है कि सम्पूर्ण कर्मों को ईश्वर का कर्म समझ ईश्वरनिमित्त करना और ईश्वर के क्षणमात्र भी विस्मरण होने को सब से बड़ा दुःख जानना, यही भक्ति है। सृष्टि का आदिकारण ईश्वर की इच्छा जो परा शक्ति है, उस शक्ति ने ब्रह्मा, सप्तर्षि, रुद्र, मनु, प्रजापति आदि को उत्पन्न किया, और उस ईश्वरीय इच्छानुसार इन लोगों को सृष्टि के बनाने और चलाने के काम का श्रम हर्षपूर्वक अपने २ ऊपर लेना पड़ा। ये सब बीते हुए कल्प के सिद्ध पुरुष हैं, एक कल्प के सिद्धपुरुष उस के बाद के कल्प की सृष्टि के बनानेवाले होते हैं। पुराण में

प्रसिद्ध है कि इस कल्प के बलि और परशुराम आनेवाले कल्प के इन्द्र और ब्रह्मा होंगे। गत कल्प के सिद्धपुरुषों को अपने २ ऊपर श्रम ले के सहायता देने से हम लोगों को सृष्टि के पदार्थ बने हैं और सृष्टि के चलने में सहायता मिलती है, अतएव वर्तमान सृष्टि के समस्तप्राणी उन महानुभावों के ऋणी हैं, जिस महाऋण से मुक्त होने के लिये हम लोगों को भी उन्हीं लोगों के ऐसा होने का यत्न करना चाहिये ताकि हम लोग भी आनेवाले कल्प के बनानेवाले और चलानेवाले होवें। यह सृष्टिरूप यज्ञ ठानने से ईश्वर की भी यही इच्छा है कि जीवगण जो सृष्टि के प्रारम्भ में बालक के समान रहते हैं और त्रैगुण्य माया की लहर में पड़े रहते हैं वे धीरे २ सत् और असत् का ज्ञान अनुभव कर के और असत्माया के गुप्त भेदों को जान के जो सांसारिक नाना प्रकार के पदार्थों के अनुभवी ज्ञान (तजरुबा) पाने और आन्तरिक आध्यात्मिक शक्ति के विकाश से होता है ईश्वर की शक्तियों जो उन में निहित हैं उनका प्रकट करें और उनके निमित्त उनका व्यवहार कर भक्ति द्वारा ईश्वर में युक्त होवें और ऐसी सिद्धा-वस्था को प्राप्त करें जिस में आनेवाले कल्प की सृष्टि के बनाने में सहायता कर सेवा करें। इस निमित्त यह ईश्वर की इच्छा जहां तक शीघ्र हम लोग अपने में और दूसरों में, पूर्ण कर सकें, उस के लिये चेष्टा करनी चाहिये, यह हमलोगों का परम-कर्तव्य है, इसी को धर्म कहते हैं। अतएव हम लोगों को समझना चाहिये कि हम लोग इस संसार में केवल ईश्वर के काम करने के लिये ईश्वर द्वारा भेजे गये हैं और जो काम जिस के योग्य है वह काम ईश्वर ने उस को सौंपा है। ईश्वरीय इच्छानुसार अर्थात् प्रारब्धकर्मानुसार जो काम जिस को सौंपा गया है उस का सम्पादन निःस्वार्थ हो के करना उस का धर्म है किन्तु जो अनुचित कर्म हैं जिस से ईश्वर की इच्छा पूर्ण होने में किञ्चित काल के निमित्त भी बाधा पड़ती है वह कर्म किसी का धर्म नहीं है और न ईश्वर का सौंपा हुआ समझा जा सकता है। ऐसे कर्म जो स्वार्थनिमित्त माया से प्रेरित हो मनुष्य करता है जिस को वह बुरा भी समझता है और उस के बुरे फल को पाने से ही उसे चेत होता है और तब वैसा करना छोड़ता है।

जैसे कोई आदमी किसान है तो उस को ऐसा समझना चाहिये कि इस ईश्वरनिर्मित संसार के निमित्त अन्न एक अत्यंन्तावश्यक पदार्थ है जिस के बिना शरीर नहीं रह सकता, अतएव यह ईश्वर की इच्छा है कि अन्न अवश्य उपजे, जिस के उपजाने के काम में ईश्वर ने उसे नियत किया है, इस निमित्त खेती के काम को ईश्वर का काम समझ उस को करना चाहिये कदापि अपने सुख के लिये नहीं। ऐसे ही वाणिज्य नौकरी आदि दूसरे व्यवसायवालों को अपना २ काम ईश्वर के निमित्त ईश्वर का काम समझ के करना चाहिये जैसा कि पहिले भी कहा जा चुका अतएव भक्तिप्राप्ति के निमित्त गृहस्थाश्रम अथवा कर्म का त्यागना आवश्यक नहीं है किन्तु जो कर्म और व्यवसाय धर्म और श्रीभगवान की इच्छा के विरुद्ध है उस को भक्त कदापि न करे। प्रेम का परिचय प्रेमी के प्रीतिनिमित्त कर्म करने से होता है केवल कहने से नहीं, ईश्वरनिमित्त स्वार्थकामनाओं को प्रेमरूप अग्नि में स्वाहा कर केवल ईश्वर निमित्त प्रसन्नतापूर्वक म करते रहना भक्त के जीवन का उद्देश्य होना चाहिये। यही प्रेम है, यही भक्ति है, और नारद जी की 'तदर्पिताखिलाचारता' से यही तात्पर्य्य है।

साधक-भक्त अपने सम्पूर्ण सांसारिक, पारमार्थिक और उपकारी कर्मों को केवल उपास्यदेव के निमित्त करता है, अपने लिये कुछ नहीं; अपने को तो वह भूल ही जाता है। उस का जीवन ही उपास्यदेव के निमित्त कर्म करने के लिये है, अतएव वह प्रातः काल से लेके शयन पर्यन्त जो कर्म करता है वह सम्पूर्ण इष्टदेव की पूजा ही उस के लिये है। प्रातः काल उठते ही निम्नलिखित श्लोक का भाव उस के चित्त में आता है।

लोकेश ! चैतन्यमयाधिदेव ! श्रीकान्त ! विष्णो ! भवदाज्ञयैव । प्रातः समुत्थाय तव प्रियार्थं संसारयात्रामनुवर्तयिष्ये ॥

हे लोकेश ! हे चैतन्यमय अधिदेव ! हे श्रीकान्त ! हे विष्णो ! मैं तुम्हारे आज्ञानुसार (इच्छानुसार) प्रातःकाल में उठ कर तुम्हारी प्रीति करने के लिये संसार के काम करने जाता हूं। भक्त के जीवन का क्या उद्देश्य होना चाहिये और किस उद्देश्य से

उस को कर्मों को करना चाहिये, यह ऊपर कहे हुए श्लोक में भली भांति वर्णित है। साधक को इस श्लोक के भाव को अच्छी तरह सर्वदा स्मरण रखना चाहिये और सब कामों को केवल श्रीभगवान के निमित्त और उन का काम समझ करना चाहिये, कदापि अपने स्वार्थ के निमित्त नहीं।

भक्तसाधक स्वाद प्राप्ति के लिये भोजन नहीं करता अथवा स्वार्थनिमित्त शरीर का पालन नहीं करता किन्तु इसलिये कि उस से शरीर की रक्षा हो, जिस से उस को उपास्यदेव का कार्य्य करना है और जो शरीर उक्त कार्य्य के लिये उपास्यदेव द्वारा उसको दियागया है। अतएव भोजन पान भी वह अपने उपास्यदेव ही के निमित्त करता है। शयन वस्त्रधारण आदि जो शरीररक्षा के निमित्त आवश्यक हैं उन को भी वह अपने उपास्यदेव ही के निमित्त करता है। गीता का वचन है:—

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय! तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥ २७॥

अ॰ ६

हे कौन्तेय! तुम जो कुछ कार्य्य करो, जो कुछ भोजन करो, जो कुछ हवन करो, जो कुछ दान करो, और जो कुछ तप करो वह मुझ को अर्पण करो (मेरे निमित्त करो)।

जिस को स्त्री पुत्रादि तथा अन्य आश्रित हैं उस को समझना चाहिये कि ये परिवार और आश्रितगण श्रीभगवानने उन के पालन पोषण करने और धर्माचरण में सहायता के निमित्त मेरे इलाके किये हैं, अतएव उन के पालनपोषण आदि के लिये उपार्जन और यत्न करना श्रीभगवान का कार्य्य है और ऐसी दृष्टि से उन को और उन के निमित्त व्यवसाय और कार्य्य को देखे और करे।

जब तक श्रीभगवान सृष्टि के कार्य्य में उद्यत हैं जैसा कि प्रलय-पर्य्यन्त रहते हैं, उस के पहिले मोक्षदशा में प्राप्त होना भक्त भक्ति के विरुद्ध समझता है और यथार्थ में यह ऐसा ही है; इसी कारण भक्त मोक्ष न लेकर केवल श्रीभगवान के कार्य्य में निरन्तर रहकर सेवा ही करता रहता है। व्यास नारदादि ऋषिगण सदा सर्वदा सृष्टि के उपकार करने में तत्पर रहते हैं, वे कभी सृष्टि रहते निर्वाण नहीं लेते और श्रीभगवान के निमित्त कर्म करना नहीं छोड़ते।

पुराणादि सद्ग्रन्थों में लिखा है कि जब २ भक्तों को उपास्यदेव के दर्शन हुए और वर मांगने की आज्ञा हुई तब २ उनलोगों ने "मोक्ष" का वर कदापि नहीं मांगा केवल भक्ति मांगी जिस में सदा उपास्यदेव की सेवा रहे। भक्ति की दृष्टि से मुक्ति तुच्छ पदार्थ है। सर्वप्रकार की कामना त्यागने से भी मुक्त हो सकता है किन्तु वह केवल एक मन्वन्तर अथवा कल्प के लिये होगा जिस के बीतने पर उस का फिर उत्थान होगा और वह फिर सृष्टिचक्र में पड़ेगा क्योंकि श्रीभगवान के सृष्टिकार्य्य में प्रवृत्त रहने के समय उसने अवसान लिया जो भक्ति की दृष्टि से उचित नहीं है।

इष्टदेव के दर्शन पाने की भी इच्छा और उस के द्वारा आनन्द के रसास्वादन की चाह भी स्वार्थ है। महात्मा कबीर का वचन है:--

फलकारन सेवा करै, तजै न मन से काम।
कह कबीर सेवक नहीं, चहै चौगुनो दाम॥

इष्टदेवता से कुछ भी पाने की इच्छा रक्खी तो भक्ति नहीं हुई। भक्ति त्यागमार्ग है, इस में भक्त अपने सम्पूर्ण स्वार्थ कामनाओं को ईश्वरनिमित्त त्यागता है। प्रेम के कारण ईश्वरनिमित्त कर्म करते रहना केवल यही एक इच्छा भक्त रखता है जिस के निमित्त कितना हू दुःख उस को भोगना पड़े और श्रम करना पड़े उनको प्रसन्नता से सहन करता है किन्तु ईश्वर के काम से मुंह नहीं मोड़ता। कहा है—

डूबब जरब न बात कछु, तेहि जेहि लागी लाग।
जाहि प्रीति कांची नहीं, का पानी का आग॥

मलिकमुहम्मद जायसी, पद्मावत का कर्ता।

सौदाये मुहब्बत में जो जर जाय तो अच्छा।

सौफ।

किसी परमभक्त का वाक्य है—

तुझी को होवे मुबारक यह मुल्कोमाल तेरा।
मुझे तो चाहिये सोई फकत जमाल तेरा॥

श्री तुलसीदासजी का वचन है—

सगुन उपासक मोक्ष न लेहीं।
तिन्हकहं राम भक्ति निज देहीं॥

भक्तप्रवर प्रह्लाद जी ने श्रीनृसिंह जी से यों कहा :—

नैवोद्विजे परदुरत्ययवैतरण्या-
स्त्वद्वीर्यगायनमहामृतमग्नचित्तः।
शोचे ततो विमुखचेतस इन्द्रियार्थ-
मायासुखाय भरमुद्वहतो विमूढ़ान्॥ ४३॥
प्रायेण देवमुनयः स्वविमुक्तिकामा
मौनं चरन्ति विजने न परार्थनिष्ठाः।
नैतान् विहाय कृपणान् विमुमुक्षुरेको
नान्यं त्वदस्य शरणं भ्रमतोऽनुपश्ये॥ ४४॥

भागवतपुराण ७ स्कन्ध ६ अध्याय।

हे भगवन्! किस प्रकार से मैं मुक्ति पाऊंगा इसलिये (अपने लिये) मैं उत्सुक नहीं हूं, मुझको केवल उन्हीं लोगों की चिन्ता है जो तुमसे विमुख हैं, जो अज्ञानी विषयभोग के निमित्त पाप का बोझा ढोते हैं॥ ४३॥ वर्तमान समय के बड़े २ मुनि लोग प्रायः अपनी २ मुक्ति ही की चिन्ता में रहते हैं, जंगल में चले जाते हैं और किसी से नहीं बोलते; किन्तु जो तुमसे विमुख हैं उनको मैं नहीं त्याग सकता, क्योंकि तुम्हारे बिना उनके लिये अन्य कोई शरण नहीं है, अतएव केवल अपनी मुक्ति मैं नहीं चाहता।

भागवतपुराण १० म स्कंध का वचन है:—

दुरवगमात्मतत्त्वनिगमाय तवात्ततनो-
श्चरितमहामृताब्धिपरिवर्तपरिश्रमणाः।
न परिलषंति केचिदपवर्गमपीश्वर ते
चरणसरोजहंसकुलसंगविसृष्टगृहाः॥ २१॥

भवद्विधा महाभागा निषेव्या अर्हसत्तमाः ।
श्रेयस्कामैर्नृभिर्नित्यं देवाःस्वार्था न साधवः॥ ३० ॥

अ० ४८ ।

हे ईश्वर! दुर्बोध आत्मतत्व के जानने के लिये अवतार धारण करनेवाले तुम्हारे चरित्र रूपी अमृतसमुद्र में अवगाहन कर श्रमरहित हो कोई एक तुम्हारे भक्त मोक्ष की इच्छा नहीं करते और तुम्हारे चरणकमलों को जो हंस के समान स्मरण करते हैं ऐसे भक्तों के संग के लिये घर भी जिन भक्तों ने त्याग दिये हैं। जब गृहादि का त्याग कर दिया, तब परलोक के सुखका क्या कहना है ? इस लिये आप की भक्ति मुक्ति से भी अधिक है ॥ २१ ॥ हे पूज्यों में श्रेष्ठ! कल्याण चाहनेवाले मनुष्यों को तुम्हारे समान बड़भागी की नित्य सेवा करना योग्य है, क्योंकि देवता स्वार्थी होते हैं किन्तु साधु महात्मा स्वार्थी नहीं होते ॥ ३० ॥

युधिष्ठिर महाराज को वन में महाकष्ट में देख के द्रौपदी ने उन से जिज्ञासा की कि आप ईश्वर के परमभक्त होने पर भी इतने कष्ट में क्यों हैं, तब युधिष्ठिर ने ऐसा उत्तर दिया—

नाहं कर्म्मफलान्वेषी राजपुत्रि ! चराम्युत ।
ददामि देयमिति वा यजे यष्टव्यमित्युत ॥२॥
अस्तु वात्र फलं मा वा कर्तव्यं पुरुषेण यत् ।
गृहे वा वसता कृष्णे ! यथाशक्ति करोमि तत्॥ ३ ॥
धर्मञ्चरामि सुश्रोणि ! न धर्म्मफलकारणात् ।
आगमाननतिक्रम्य सतां वृत्तमवेक्ष्य च ॥ ४ ॥
धर्म्म एव मनः कृष्णे ! स्वभावश्चैव मे धृतः ।
धर्मवाणिज्यको हीनो जघन्यो धर्मवादिनाम् ॥५॥

महाभारत वनपर्व अ० ३२ ।

हे द्रौपदी ! मैं कर्मफल पाने की इच्छा रख के कर्म नहीं करता, दान करना कर्तव्य है, यज्ञ करना कर्तव्य है, अतएव मैं दान और

यत्न करता हूं। हे द्रौपदी! फल होवे अथवा न होवे, गृह में रह के जो सब कर्म करना कर्तव्य है, मैं उन को यथाशक्ति करता हूं। मैं सज्जनों के ऐसा व्यवहार रखता हूं और शास्त्र का अनुसरण करता हूं, किन्तु धर्म के फल की कामना करके धर्म का अनुष्ठान नहीं करता। धर्म का वाणिज्य कर के अर्थात् उस को बेच के उस के बदले कोई फल खरीदने के लिये जो धर्म का आचरण करते हैं, धर्मवादी लोग उन को नीचों में गणना करते हैं। भक्तप्रवर प्रह्लाद की भी इसी प्रकार की उक्ति श्रीनृसिंह जी के प्रति है:—

नान्यथा तेऽखिलगुरो! घटेत करुणात्मनः।
यस्त आशिष आशास्ते न स भृत्यः स वै वणिक् ॥४॥
आशासानो न वै भृत्यः स्वामिन्याशिष आत्मनः।
न स्वामी भृत्यतः स्वाम्यमिच्छतो राति चाशिषः ॥५॥
अहं त्वकामस्त्वद्भक्तस्त्वं च स्वाम्यनपाश्रयः।
नान्यथेहावयोरर्थो राजसेवकयोरिव ॥ ६ ॥

श्रीमद्भागवत स्कं० ७ अ०। १०।

हे जगद्गुरो! आप दया के निधान कदापि अपने भक्त को अनर्थ के साधन में प्रवृत्त नहीं कर सकते। जो सेवक आप से विषय पाने की इच्छा करता है वह सेवक नहीं है बनिया है। जो सेवक अपने स्वामी से अपने स्वार्थ की सिद्धि चाहता है वह सेवक नहीं है और जो स्वामी अपने सेवक को अपने कार्य्य के साधन होने के कारण धनआदि देता है वह स्वामी भी नहीं है; किन्तु इन दोनों को परस्पर का व्यापारी समझना चाहिए। ५। मैं आप का निष्काम भक्त हूं और आप भी मेरे निरपेक्ष स्वामी हैं, इस कारण हमारा और आपका स्वामि-सेवकभाव वास्तविक है और जैसा राजा और उस के सेवक में भाव रहता है वह हम-दोनों में नहीं है।६।

अनेक साधक भक्त अन्य की अपेक्षा अधिक सांसारिक कष्ट में अवश्य पड़ जाते हैं जो उनके लिये आवश्यक है और जिससे प्रथम

तो संचित प्रारब्ध कर्म को थोड़े में भुगतान हो जाता है जो साधारण रीति से अधिक परिमाण में आता और दूसरे कष्ट में भी धर्म और भक्ति के मार्ग में दृढ़ रहने से आन्तरिक शक्ति की वृद्धि होती है और इस परीक्षा में उत्तीर्ण होने से दृढ़ता प्राप्त होती है। पाण्डव, विभीषण आदि आदर्श भक्त बड़े कष्ट में पड़ गये थे। श्रीभगवान की दृष्टि भक्त पर कष्ट के समय विशेष रहती है, अतएव अनेक भक्त सुख से दुःख को उत्तम समझते हैं, क्योंकि सुख में श्रीभगवान का विस्मरण होता है किन्तु दुःख में स्मरण रहता है। कबीर का वचन है:—

सुखके माथे सिल पड़े, जो नाम हृदय से जाय।
बलिहारी वा दुःख को, (जो) पल २ नाम जपाय॥

कष्ट आने पर भक्त को श्रीभगवान की कृपा ही का फल उसको समझना चाहिए, कदापि उद्विग्न नहीं होना चाहिए और कष्ट से छुटकारा पाने की प्रार्थना तक श्रीभगवान से नहीं करना चाहिए। ऐसी प्रार्थना भी स्वार्थ कामना है और भक्ति के विरुद्ध है। भक्त को यदि श्रीभगवान की दया में विश्वास है तो फिर प्रार्थना क्यों? क्या श्रीभगवान भक्त की दशा को नहीं जानते हैं और यह नहीं जानते हैं कि उसके लिए कौन चीज कब आवश्यक है? अल्पज्ञ हमलोग यह नहीं जानते हैं कि कब कैसी अवस्था से हमलोगों का यथार्थ उपकार होगा किन्तु सर्वज्ञ श्रीभगवान सब जानते हैं। अतएव हमलोगों को चाहिए कि उनकी मर्जी पर विश्वास रख सब अवस्था में प्रसन्न रहें, कदापि घबड़ायें नहीं। "जाही विधि राखै राम वाही विधि रहिये" यही भाव रहना चाहिये। श्रीमद्भागवतपुराण में श्रीभगवान का वचन है कि मैं अपने भक्त को विषयों में दरिद्र बना देता हूँ ताकि उसमें कोई दोष न रह जाय अथवा आजाय। अर्जुन को श्रीभगवान का परमभक्त होनेका गर्व था एक दिन श्रीभगवान और अर्जुन घूम रहे थे कि अर्जुन ने एक साधु को देखा जो सूखा घास खा रहा था, किन्तु उसके पास एक खड्ग था। अर्जुन के पूछने पर साधुने कहा कि हरे घासों में प्राण समझ कर अहिंसा के भाव से वह केवल सूखा घास खाकर अपनी प्राणरक्षा करता है जिसपर अर्जुन ने पूछा कि

ऐसी अहिंसा का व्रत रखने पर भी तुम हिंसा के कारणभूत खड्ग को क्यों अपने पास रखते हो? साधुने उत्तर दिया कि भेंट होने पर तीन आदमियों के मारने के लिये मैं खड्ग साथ रखता हूं। नाम और मारने का कारण पूछने पर साधुने यों कहाः—"एकतो मैं द्रौपदी का भेंट होने पर मारूंगा, क्योंकि उसने अपने स्वार्थ के लिये चीरहरण के समय मेरे प्रभु को पुकारा, जिस पुकार के कारण उनको वहां आने का और वस्त्र में प्रवेश कर उसको बढ़ाने का कष्ट उठाना पड़ा। दूसरा अर्जुन है जिसने मेरे प्रभु से अपने सारथि का काम करवाया और तीसरा नारद जो समय कुसमय की परवाह न कर कुसमय में भी मेरे प्रभु के यश का गान करता है, जिसके कारण उनको उस कुसमय में अर्थात् सोनेआदि के समय में भी नारद के पीछे पीछे गान के कारण घूमना पड़ता है। ऐसा सुनकर अर्जुन का अपने हृदय से परमभक्त होनेका गर्व जाता रहा। यथार्थ में आदर्श भक्त वही है जो श्रीभगवान से कुछ भी पाने की इच्छा न रखे और न कभी कोई प्रार्थना करे। यदि मोक्ष तक की इच्छा को त्यागा, तो फिर किसी कष्ट से त्राण के लिये क्यों प्रार्थना करना? जिस परमप्रेम की दृष्टि से मोक्ष तुच्छ है, उसी दृष्टि से सांसारिक कष्ट भी तुच्छ और असत्य है; जिसकी परवाह कदापि नहीं करनी चाहिए। एक भक्तकी उक्ति कि "मैं चाहता हूं कि श्रीभगवान यह न जानें कि उनके प्रति मैं प्रेम रखता हूं क्योंकि ऐसा जानने से वे कुछ मुझे दे देंगे जो मेरे निष्काम प्रेम के विरुद्ध होगा"। भक्त जब कि सायुज्य (निर्वाण) मुक्ति के परमानन्द को भी सहर्ष त्याग करता है, तो फिर अन्य प्रकारका कोई आनन्द अथवा सांसारिक कष्ट निवारण श्रीभगवान द्वारा क्यों चाहेगा?

जो लोग समझते हैं कि भक्त को जगत के उपकार के कार्य्य में प्रवृत्त होने की कोई आवश्यकता नहीं है बल्कि यह उनके लिये व्याघात है उनको तो केवल श्रीभगवान की पूजा करनी चाहिए, वे भूल करते हैं। श्रीभगवान पूर्णकाम हैं और उनको न कोई अभाव है और न कोई आवश्यकता है और न किसी वस्तु की चाह है। किन्तु संसार उनका प्रियरूप है और वे सृष्टि के रक्षक और पालक हैं जो कार्य्य धर्मकी वृद्धि द्वारा सम्पन्न होता है। यद्यपि श्री

भगवान अपनी सृष्टि के पालन कार्य्य के लिए स्वतः पूर्ण सामर्थ्य-वान हैं और किसी की सहायता इसमें नहीं चाहते तथापि संसार के प्राणियों के हित और उन्नति के लिए यह नियम है कि श्रीभग-वान केवल निष्काम प्रेम द्वारा मिलसकते हैं और वह प्रेम प्रथम श्रीभगवान के संसार रूपी विभूति के प्रति होना चाहिए अर्थात् संसार के प्राणीमात्र को श्रीभगवान का अंश और रूप मान उनसे प्रेम और उनका उपकार कर उस प्रेम का परिचय साधक को देना चाहिए।

श्रीभगवान को कोई कार्य्य नहीं है तथापि वे केवल सृष्टि के हित के कार्य्य में अवश्य प्रवृत्त हैं जिसके निमित्त स्वतः सर्वों में प्रविष्ट हैं। जिस सृष्टि के हित के कार्य्य का श्रीभगवान स्वयं कर रहे हैं उस कार्य्य में जो प्रवृत्त न होगा वह कैसे श्रीभ-गवान का प्रेमी अथवा भक्त होसकता है। अतएव सब प्राणियों में श्रीभगवान का वास मान और उन को श्रीभगवान का रूप मान उन के हित के निमित्त कार्य्य करना श्रीभगवान की उत्तम और यथार्थ पूजा है। इसके प्रमाण पहिले कई स्थलों में दियेगये हैं। और ऊपर दिये हुए गर्गसंहिता के वाक्यों के भी २७ वें श्लोक में दया अर्थात् परोपकार का अभ्यास भक्त के लिये परमावश्यक माना है।

श्रीकपिलभगवान ने अपनी माता देवहूति को भक्ति के प्रति-पादन में जो भक्ति की निष्ठा और भक्त के कर्तव्य के विषय में कहा है उसमें ऊपर का सिद्धान्त स्पष्ट है और उनके और गर्ग-संहिता के वचनों में एकवाक्यता है और श्रीकपिलभगवान ने निष्काम (निर्गुण) भक्ति की साधना में परोपकार को मुख्य अंग माना है। उन्होंने ऐसा कहा :—

भक्तियोगो बहुविधो मार्गैर्भामिनि भाव्यते ।
स्वभावगुणमार्गेण पुंसां भावो विभिद्यते ॥ ७ ॥
अभिसंधाय यद्धिंसां दंभं मात्सर्यमेव वा ।
संरम्भी भिन्नदृग्भावं मयि कुर्यात्स तामसः ॥ ८ ॥

विषयानभिसन्धाय यश ऐश्वर्यमेव वा ।
अर्चादावर्चयेद्यो मां पृथग्भावः स राजसः ॥ ९ ॥
कर्मनिर्हारमुद्दिश्य परस्मिन्वा तदर्पणम् ।
यजेद्यष्टव्यमिति वा पृथग्भावः स सात्त्विकः ॥ १० ॥
मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये ।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ ॥ ११ ॥
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम् ।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे ॥ १२ ॥
सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णाति विना मत्सेवनं जनाः ॥१३॥
स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृतः ।
येनातिव्रज्य त्रिगुणं मद्भावायोपपद्यते ॥ १४॥
निषेवितेनानिमित्तेन स्वधर्मेण महीयसा ।
क्रियायोगेन शस्तेन नातिहिंस्रेण नित्यशः ॥ १५ ॥
मद्धिष्ण्य-दर्शन-स्पर्श-पूजा-स्तुत्यभिवन्दनैः ।
भूतेषु मद्भावनया सत्त्वेनासंगमेन च ॥ १६ ॥
महतां बहुमानेन दीनानामनुकम्पया ।
मैत्र्या चैवात्मतुल्येषु यमेन नियमेन च ॥ १७ ॥
आध्यात्मिकानुश्रवणान्नामसंकीर्तनाच्च मे ।
आर्जवेनार्यसंगेन निरहंक्रियया तथा ॥ १८ ॥

मद्धर्मिणो गुणैरेतैः परिसंशुद्ध आशयः ।
पुरुषस्याञ्जसाभ्येति श्रुतमात्रगुणं हि माम् ॥१९॥
यथा वातरथो घ्राणमावृङ्क्ते गन्ध आशयात् ।
एवं योगरतं चेत आत्मानमविकारि यत् ॥ २० ॥
अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मावस्थितः सदा ।
तमवज्ञाय मां मर्त्यः कुरुतेऽर्चाविडम्बनम् ॥ २१ ॥
योमां सर्वेषु भूतेषु सन्तमात्मानमीश्वरम् ।
हित्वार्चां भजते मौढ्याद्भस्मन्येव जुहोति सः ॥ २२ ॥
द्विषतः परकाये मां मानिनो भिन्नदर्शिनः ।
भूतेषु बद्धवैरस्य न मनः शान्तिमृच्छति ॥ २३ ॥
अहमुच्चावचैर्द्रव्यैः क्रिययोत्पन्नयाऽनघे ।
नैव तुष्येऽर्चितोऽर्चायां भूतग्रामावमानिनः ॥२४॥
अर्चादावर्चयेत्तावदीश्वरं मां स्वकर्मकृत् ।
यावन्न वेद स्वहृदि सर्वभूतेष्ववस्थितम् ॥ २५ ॥
आत्मनश्च परस्यापि यः करोत्यन्तरोदरम् ।
तस्य भिन्नदृशोमृत्युर्विदधे भयमुल्वणम् ॥ २६ ॥
अथ मां सर्वभूतेषु भूतात्मानं कृतालयम् ।
अर्हयेद्दानमानाभ्यां मैत्र्याऽभिन्नेन चक्षुषा ॥ २७ ॥
तस्मान्मय्यर्पिताशेषक्रियार्थात्मा निरन्तरः ।
मय्यर्पितात्मनः पुंसो मयि संन्यस्तकर्मणः ।
न पश्यामि परं भूतमकर्तुः समदर्शनात् ॥ ३३ ॥

मनसैतानि भूतानि प्रणमेद्बहु मानयन् ।
ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति ॥ ३४ ॥

श्रीमद्भागवत, स्कं ३ अ० २६ ।

श्रीकपिलभगवान ने कहा कि हे देवहूति ! भक्ति मार्ग अनेकों मार्गों से भिन्न २ प्रकार का हो रहा है, क्योंकि—मनुष्यों के भाव ही अनेकों प्रकार के स्वभाव, गुण, और सङ्कल्पों के भेद से बहुत प्रकार के भेदवाले होते हैं ॥७॥ जैसे जो कोई क्रोधी पुरुष, अपने और परमात्मा में भेददृष्टि रखताहुआ किसी की हिंसा, दम्भ और स्पर्धा (हिर्स) को मनमें रखकर मेरी भक्ति करता है वह तामस (अधम श्रेणी का) भक्त है। इन तामस भक्तों में भी तीन भेद हैं—हिंसा के निमित्त भक्ति करनेवाला अति अधम है, दम्भ के निमित्त भक्ति करनेवाला मध्यम और स्पर्धा की बुद्धि से भक्ति करनेवाला इन में उत्तम है ॥ ८ ॥ जो भेद-दृष्टि पुरुष, माला-चन्दन-स्त्री आदि विषय और धन आदि ऐश्वर्य की इच्छा करके मूर्त्ति आदि में मेरी पूजा करता है वह राजस (मध्यम श्रेणी का) भक्त है। इन राजस भक्तों के भी तीन भेद हैं—विषय सुख के निमित्त भक्ति करने वाला अधम कीर्त्ति के निमित्त भक्ति करने वाला मध्यम और (योग के) ऐश्वर्य के निमित्त भक्ति करने वाला उत्तम है ॥ ९ ॥ और जो भेददृष्टि पुरुष, पापों अर्थात् वासनाओं का क्षय होने की इच्छा करके वा वह कर्म ईश्वर के अर्पण हों अर्थात् उनसे ईश्वर प्रसन्न हों ऐसी इच्छा करके अथवा 'पूजन करे' और "पूजन करना चाहिये" ऐसी वेद की जो आज्ञा है, उसको पूर्ण करने की इच्छा करके मेरी पूजा करता है वह सात्विक (उत्तम श्रेणी का) भक्त है। इसमें भी तीन भेद हैं-कर्म (वासना) क्षय के निमित्त भक्ति करनेवाला कनिष्ठ, ईश्वरप्रीति के निमित्त भजने वाला मध्यम और विधि के पूर्ण करने के निमित्त भक्ति करनेवाला उत्तम है। इस प्रकार तामस, राजस और सात्विक इन तीन प्रकार की भक्ति में प्रत्येक के तीन २ होने से नौ भेद हैं। इन नौ भेदों में भी प्रत्येक के श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, चरणसेवा, अर्चन, वन्दन, दासभाव, सखाभाव और आत्मनिवेदन ये नौ २ भेद होने से सब मिलकर भक्ति के ८१ भेद हैं ॥१०॥

निर्गुण भक्ति एकही प्रकार की है—जैसे गङ्गा के जल की गति समुद्र की ओर होती है वैसे ही मुझ अन्तर्यामी परमेश्वर के प्रति मेरी भक्तवत्सलता आदि गुणों के श्रवण मात्र से किसी फल की इच्छा वा भेदबुद्धि न कर के मनकी एकाग्रगति अविच्छिन्न होना, ऐसी जो भक्ति है वह निर्गुण भक्तियोग का लक्षण है । ॥ ११ ॥१२॥ ऐसी निर्गुण भक्ति करनेवाले पुरुषों को, सालोक्य (मेरे साथ एक लोक में रहना), सार्ष्टि (मेरे ऐश्वर्य का भोगना), सामीप्य (मेरे पास रहना), सारूप्य (मेरे समान रूप होना) और एकत्व अर्थात् सायुज्य (मेरे रूप में एकतापाना) यह चार प्रकार की मुक्ति मैं देता हूं, तोभी वह भक्त मेरी सेवा को छोड़ दूसरी कोई वस्तु ग्रहण नहीं करते तो फिर उनकी किसी प्रकार की अन्य कामना कैसे हो सकती है ? ॥ १३ ॥ अतः यह कहाहुआ भक्तियोग ही आत्यन्तिक (अटल) कहलाता है जिससे मनुष्य सत्व, रज और तमोगुण रूप संसार को लांघकर मेरे समान रूपवाला होने के योग्य होता है ॥ १४ ॥ किसी प्रकार की इच्छा न करके, श्रद्धापूर्वक उत्तम रीति से निजधर्म का आचरण करना, निष्काम बुद्धि से अवैध हिंसा न कर पञ्चरात्र आदि में कहीहुई रीति से मेरी पूजा करना ॥ १५ ॥ मेरी मूर्त्ति दर्शन, उस मूर्त्ति के चरणों का स्पर्श, पूजा, स्तुति और वन्दना करते हुए प्राणि मात्र में ' यह परमेश्वर रूप ही है ' ऐसी भावना करना, मनमें धैर्य और विषयों में वैराग्य रखना ॥ १६ ॥ सत्पुरुषों का बहुत आदर करना, अनाथों के प्रति दया और उपकार करना, अपने समान गुणोवाले पुरुषों से मैत्री रखना, अहिंसा आदि यम और जप पाठ आदि नियम धारण करना ॥१७॥ आत्मस्वरूप का वर्णन करनेवाले शास्त्रों का बार बार श्रवण करना, मेरे नामों का सङ्कीर्त्तन करना, मनकी सरलता रखना, सत्पुरुषों का समागम करना, देहआदि के अभिमान को छोड़-देना ॥ १८ ॥ ऐसे गुणों से भागवतधर्मों का आचरण करनेवाले पुरुष का अन्तःकरण अत्यन्त शुद्ध हो जाता है और वह अन्तः-करण मेरे गुणों का श्रवण होते ही मुझ में अनायास ही आसक्त हो जाता है ॥ १९ ॥ जैसे वायु से उड़कर आनेवाला सुगन्ध अपने स्थान (पुष्प आदि) से घ्राण इन्द्रिय को अपने वश में कर लेता है वैसेही भक्तियोग में निमग्न हुआ और सुखदुःखआदि

में समानभाव को प्राप्तहुआ चित्त, परमात्मा को वश में कर लेता है॥ २०॥

मैं सब प्राणियों की आत्मा होने के कारण सबों के भीतर निरन्तर वास करताहूं उस मुझको तिरस्कार कर के अर्थात् सब भूतोंमें मुझे न जान जो नश्वर देह आदि में आत्मदृष्टि रखकर केवल एक मूर्तिमात्र में हो मेरी पूजा करता है वह पूजा को केवल नकल करता है २१ सकल प्राणियों में आत्मस्वरूप से रहनेवाले मुझ ईश्वर का अपमान करके (अर्थात् उन प्राणियों के हित करने की चेष्टा न कर) जो मूर्खता से केवल एक मूर्तिमात्र को हो पूजा करता है वह मानो केवल भस्म में हवन करता है, जो निष्फल है २२ जो भेददृष्टि रखते (अर्थात् अपने सुखदुःख के समान दूसरे के सुखदुःख को नहीं अनुभव करते), अभिमान अपने में रखते, सब प्राणियों से वैरभाव रखते, और सब प्राणियों के शरीर के भीतर विद्यमान रहनेवाले मुझ से द्वेष करते, ऐसे पुरुष का मन कभी भी शान्ति नहीं पाता २३ हे निष्पापे देवहूति! थोड़े वा अधिक पदार्थों के द्वारा एकत्र की हुई सामग्रियों से प्रतिमा के भीतर पूजित मैं प्राणिमात्र को अपमान करनेवाले मनुष्यपर कदापि सन्तुष्ट नहीं होता २४ अतः हे मातः! जबतक पुरुष सब प्राणियों में रहनेवाले मुझको हृदय में नहीं अनुभव करता है, तबतक वह अपने नित्य नैमित्तिक कर्म रक के जो कुछ अवकाश पावे उसमें मूर्ति आदि में मेरा पूजन करता रहे २५ जो मनुष्य अपने में और अन्य प्राणियों में (जिनमें भी ईश्वर का वास है) बहुत थोड़ा भी भेद मानता है उस भेददृष्टिवाले मनुष्य को मैं ही मृत्युरूप होकर अति दुःसह संसार दुःख देता हूं २६ इसलिए सब प्राणियों में रहनेवाले और सबोंके अन्तर्यामी मुझको, अपने से श्रेष्ठ का अधिक सन्मान कर, समान में मित्रभाव रख और हीन में दान, और सर्वत्र समदृष्टि करके, पूजन करे २७ जिसने अपने सब कर्म, उनके फल और शरीर येसब मुझे अर्पण कर दिया है जिसके कारण मेरी प्राप्ति होने में उसे कोई प्रतिबन्धक ही नहीं रहा, वह श्रेष्ठ है; अपना शरीर मुझे अर्पण करनेवाला, मुझे कर्मों का फल अर्पण करनेवाला, कर्तापन के अभिमान से रहित और समदृष्टि पुरुषसे अधिक उत्तम प्राणी मैं किसीको भी नहीं देखता ३३ श्री भगवान ईश्वर ही जीव रूपसे सब प्राणियों में विराजमान हैं ऐसा समझ

कर सब प्राणियों का बहुत सन्मान मनसे करके प्रणाम करे ३४। सर्वत्र दया-धर्म सर्वश्रेष्ठ और परमावश्यक मानागया है, किन्तु दया और परोपकार करना एक ही है भिन्न नहीं। दया करने का यह तात्पर्य्य नहीं है केवल अंतर मे दयाभाव उत्पन्न कर वहां ही ठहर-जायें किन्तु दया वही है कि दूसरे के दुःख का अपना दुःख जान और उससे कातर होकर जैसे अपने दुःख को मिटानेका यत्न किया-जाता है उसीप्रकार दूसरे के दुःख के मिटाने का भी यत्न करे। जो कार्य्य में परिणत नहीं हुआ वह दया कदापि नहीं है। योग-सूत्र में भी लिखा है:—

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःख-पुण्या-
पुण्य-विषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ।

जिसका अर्थ है कि मित्रभाव, दयाभाव, प्रसन्नता, सुखदुःख पुण्यापुण्य द्वंद्वों से बाह्य हो जाना आदि गुणों की भावना और अभ्यास करने से चित्त की शान्ति होती है।

यज्ञ का अर्थ भी परोपकार करना है जिस यज्ञ करने की आव-श्यकता को श्रीभगवान ने गीता के प्रारम्भ में भलीभांति दर्साया है। श्रीभगवान का गीता में वाक्य है "नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोन्यः कुरुसत्तम ३१ (अ० ४) यज्ञ न करनेवाले को यह लोक नहीं है तो परलोक को क्या आशा? और भी गीता का वचन है:—

"योमां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ॥३०॥
सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्त्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ॥ ३१ ॥
आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि व दुःखं स योगी परमो मतः ॥ ३२ ॥

(अ० ६)

(श्रीभगवान का वचन है कि) जो मुझको सब प्राणियों में देखता है और मुझमें सब प्राणियों को वर्तमान देखता है उसको मेरे दर्शन होते हैं और वह मुझ से पृथक् नहीं रहता ३० जो एकत्व बुद्धि रख कर सब प्राणियों में टिकेहुए मुझको भजता है (अर्थात् प्राणियों का उपकाररूपी मेरा भजन करता है) वह किसी भांति नामरूप में रहनेपर भी मुझको प्राप्त करता है ३१ हे अर्जुन! जो अपने सदृश सुख किंवा दुःख सब प्राणियों में समान देखता है अर्थात् अपने दुःख के समान दूसरे का दुःख समझ जैसे अपने दुःख को मिटाने के लिये यत्न करता है उसी प्रकार दूसरे के दुःख को भी मिटाने का यत्न करता है और जैसे अपने सुख से प्रसन्न होता है उसी प्रकार दूसरे को भी सुखी कर प्रसन्न होता है, वही परम योगी है ३२ भक्त का ऐसा लक्षण श्रीभगवान ने गीता अ० १२ श्लोक १३ में भी कहा है कि "अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एवच" अर्थात् जो किसी की हानि करने की इच्छा नहीं करता किन्तु सबों का मित्र बन कर दया करता अर्थात् उपकार करता वही भक्त है । गीता अ० १६ श्लोक २ में "दयाभूतेषु" अर्थात् प्राणियों पर दया (उपकार) करना दैवीसम्पत्ति का अंग माना गया है । जब कि श्रीभगवान स्वयं नरनारायण रूप धारण कर बदरिकाश्रम में संसार के उपकार के लिये तपस्या कर रहे हैं तो इस लोकहित कार्य्य में उनके सेवकों का प्रवृत्त होना परमावश्यक और कर्तव्य ही है । नररूप धारण कर लोकहित के लिये तपस्या करने का तात्पर्य्य ही यह है कि साधक जो नर के समान है उसको लोकहित कार्य्य में योगदेना आवश्यक है । श्रीमद्भागवत पुराण का वचन है :—

यत्र नारायणो देवो नरश्च भगवानृषिः ।
मृदु तीव्रं तपो दीर्घं तेपाते लोकभावनौ ॥ २२ ॥
ज्ञानं परं स्वात्मरहःप्रकाशं यदाह योगेश्वर ईश्वरस्ते ।
वक्तुं भवान्नोऽर्हति यद्धि विष्णोर्भृत्या सुभृत्यार्थ-
कृतश्चरन्ति ॥ २५ ॥

स्कं० ३ अ० ४

जहां (बद्रिकाश्रम में) लोकों पर अनुग्रह करनेवाले देव नारायण और भगवान नर ये दोनों ऋषि कोमल और तीव्र दुर्घट तपस्या कल्प की समाप्ति पर्यन्त करनेका निश्चय किये हुए विराजमान हैं। विदुरजी ने कहा कि हे उद्धवजी ! आत्मतत्व के रहस्य को प्रकाशित करनेवाले योगीश्वर श्री कृष्णजी ने आपके लिये जिस ज्ञान का उपदेश किया था वह आपको मेरे लिये वर्णन करना उचित है, क्योंकि श्रीभगवान के सेवक अपने सेवकों के प्रयोजन सिद्ध करने के निमित्तही विचरते हैं। और भी:—

नातिप्रसीदति तथोपचितोपचारै-
राराधितैः सुरगणैर्हृदिबद्धकामैः ।
यत्सर्वभूतदयया सदलभ्ययैको
नानाजनेष्ववहितः सुहृदन्तरात्मा ॥ १२॥
परं शुश्रूषणं मह्यं स्यात्प्रजारक्षया नृप ।
भगवांस्ते प्रजाभर्तुर्हृषीकेशो ऽनुतुष्यति ॥ १२ ॥

स्कं० ३ अ० १३

हे भगवन् ! तुम एक हो और अन्तर्यामी रूप से सकल पुरुषों में विद्यमान हो तथा सबसे भिन्न हो, अतः दुर्जनों को प्राप्त न होनेवाली सकल प्राणियों के ऊपर दया करने से जैसे शीघ्र हो प्रसन्न होते हो वैसे अन्तःकरण में कामना रखके देवगणों के प्रति उत्तम सामग्रियों के द्वारा आराधना करने से भी तुम प्रसन्न नहीं होते। (श्रीब्रह्माने कहा) हे राजन् ! प्रजाओं की रक्षा करने से मेरी (ब्रह्मा की) अत्युत्तम सेवा होगी और प्रजाओं का पालन करनेवाले तेरे ऊपर हृषीकेश श्रीभगवान भी प्रसन्न होंगे।

श्रीमद्भागवतपुराणका वचन है:—

स एवेदं जगद्धाता भगवान् धर्मरूपधृक् ।
पुष्णाति स्थापयन् विश्वं तिर्यङ्नरसुरात्मभिः ॥४२॥

स्कं २ अ० १०

यन्नाभिपद्मभवनादहमासमीड्य
लोकत्रयोपकरणो यदनुग्रहेण ।

तस्मै नमस्त उदरस्थभवाय योग-
निद्रावसानविकसन्नलिनेक्षणाय ॥ २१ ॥
सोऽयं समस्तजगतां सुहृदेक आत्मा
सत्वेन यन्मृडयते भगवान् भगेन ।
तेनैव मे दृशमनुस्पृशताद्यथा ऽहं
सृक्ष्यामि पूर्ववदिदं प्रणतप्रियो ऽसौ ॥ २२ ॥

स्क० ३ अ० ६

वही धर्मस्वरूप जगत को धारण करनेवाले विश्वम्भर भगवान, तिर्यग्योनियों, मनुष्यों और देवताओं में वर्तमान अपनी आत्मा द्वारा इस चराचर विश्व को धर्म में स्थापन करके पालन करते हैं। (ब्रह्मा श्रीभगवान को कहते हैं कि) हे स्तुतियोग्य भगवन्! जिन तुम्हारे नाभिकमल रूप स्थान से मैं उत्पन्न हुआ हूं, जिनके अनुग्रह से सृष्टि रचकर त्रिलोकी पर उपकार करने वाला हुआ हूं, जिनके उदर में सकल जगत रहता है और योगनिद्रा के अन्त में जिनके नेत्र विकसितकमलके समान दीखने लगते हैं ऐसे तुमको प्रणाम है। वही यह सकल लोकों के हितकारी एक आत्मस्वरूप, शरणागतों का प्रियकार्य करनेवाला भगवान, जिस ज्ञान और ऐश्वर्य के द्वारा जगत को सुखी करते हैं उस ज्ञान से मेरी बुद्धि को संयुक्त करें, कि जिस से इस जगत को मैं पहिले की समान फिर उत्पन्न करूं। नीचेके श्रीभागवत पुराण के श्लोक में श्रीब्रह्माजो ने श्रीभगवान से स्पष्ट कहा है कि मैं प्रजासृष्टिरूपी कार्य तुम्हारी सेवा की भांति करता हूं:—

यावत्सखा सख्युरिवेश ते कृतः
प्रजाविसर्गे विभजामि भोजनम् ।
अविक्लवस्ते परिकर्मणि स्थितो
मा मे समुन्नद्धमदो ऽज मानिनः ॥ २६ ॥

स्कं ३ अ० ९

(ब्रह्माजी कहते हैं कि) हे श्रीभगवान ! तुमने सांसारिक मित्र के समान हस्तस्पर्श आदि के द्वारा ममता से मुझे अपना मित्र समान माना है, इससे मैं प्रजासृष्टिरूप तुम्हारी सेवा में रहकर इन चराचर लोकों को उत्तम मध्यम आदि भेद से जबतक उत्पन्न करूं तबतक, तुमसे प्राप्त हुए सन्मान के कारण "मैं भी स्वतंत्र हूं" इस प्रकार का बड़ा अभिमान मुझको प्राप्त न हो ।

श्रीभगवान ने श्रीमद्भागवतपुराण में उद्धवसे ऐसा कहाः—

श्रद्धामृतकथायां मे शश्वन्मदनुकीर्तनम् ।
परिनिष्ठा च पूजायां स्तुतिभिः स्तवनं मम ॥ २० ॥
आदरः परिचर्यायां सर्वाङ्गैरभिवन्दनम् ।
मद्भक्तपूजाभ्यधिका सर्वभूतेषु मन्मतिः ॥ २१ ॥
मदर्थेष्वङ्गचेष्टा च वचसा मद्गुणेरणम् ।
मय्यर्पणं च मनसः सर्वकामविवर्जनम् ॥ २२ ॥
मदर्थेऽर्थपरित्यागो भोगस्य च सुखस्य च ।
इष्टं दत्तं हुतं जप्तं मदर्थं यद्व्रतं तपः ॥ २३ ॥
एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम् ।
मयि सञ्जायते भक्तिः कोन्योर्थोऽस्यावशिष्यते ॥२४॥

स्कं० ११ अ० १९

मेरी अमृत समान कथा के सुनने में श्रद्धा और सुनने के अनन्तर मेरी कथा का व्याख्यान करना, मेरी पूजा में लगे रहना, स्तोत्रों से मेरी स्तुति करना २० मेरी परिचर्य्या में प्रवृत्ति, मुझे साष्टाङ्ग प्रणाम करना, मेरे भक्तों की विशेष पूजा, सब प्राणियों में मेरी भावना रखना २१ मेरे कार्य्य के निमित्त शरीर से चेष्टा करना, वाणी से मेरे गुणों का वर्णन करना, मुझे अपना मन अर्पण करना, सब विषयों की वासना छोड़ना २२ मेरे कार्य्य के निमित्त द्रव्यका व्यय करना, आवश्यक हो तो मेरे [illegible] भोग और सुख

का भी त्याग करना ; यज्ञ, दान, होम, जप, तप, व्रत आदि कर्म मेरे निमित्त करना ; हे उद्धवजी ! इस प्रकार के श्रवण आदि साधनाओं सहित आत्मनिवेदन करनेवाले मनुष्यों को मुझमें प्रेम-रूप भक्ति उत्पन्न होती है, फिर उनको कोई साधन रूप वा साधने योग्य अर्थ बाकी नहीं रहते । ऊपर के वाक्य में श्रीभगवानने स्पष्ट कहा है कि मुझको सब प्राणियों में देखे और केवल श्रीभगवान के निमित्त कर्म करे अर्थात् ऐसा कर्म करे जिसको श्रीभगवान अपने अंश प्राणियों की भलाई में व्यवहार करसकें और यज्ञ, दान, होम, जप, तप, व्रत आदि कर्म को भी श्रीभगवान के निमित्त करना अर्थात् उसका फल श्रीभगवान के कार्य्य जगत् के उपकार में लगे ऐसी भावना कर श्रीभगवान को उक्त कर्म ही अर्पण करना ऐसा करने से प्रेम-भक्ति उत्पन्न होती है ।

जबकि श्रीभगवान ने जगत के उपकार के लिए स्वयं अवतार लेकर इस परोपकारधर्म का स्वतः पालन करके इसकी श्रेष्ठता और परमावश्यकता को प्रकट कर दिया, तो फिर इसमें अन्य प्रमाण की कोई आवश्यकता ही नहीं रही । इस परोपकारधर्म का कर्मयोग के १०२ और १०३ पृष्ठ में और भी इस पुस्तक के अन्य स्थलों में वारवार उल्लेख किया गया है और इसके प्रमाण भी कहीं कहीं दोहराये गये हैं जिसका कारण यह है कि आजकल अनेक लोग इस परमावश्यक परोपकार धर्म को एकदम भूलगये हैं जिससे बड़ो हानि हुई है । अनेक सच्चे साधक-भक्त श्रीभगवान के नाम पर सर्वस्व त्याग करते हैं, अनेक कष्ट उठाते हैं, अपने शरीर, वचन और मन को श्रीभगवान के लिये अर्पण भो करना चाहते हैं किन्तु इस परोपकार सेवा से अभिज्ञ होने के कारण उनके त्याग, उनके कष्ट और उनके परिश्रम का पूर्ण फल श्रीभगवान को नहीं मिलता । अनेक साधक दिनरात अपनेजानते श्रीभगवान की सेवा में लगे रहते हैं किन्तु वे यह नहीं जानते कि श्रीभगवान जैसे परोपकार-सेवा से प्रसन्न होंगे वैसे अन्यसे नहीं और परोपकार-सेवा ही उनकी मुख्य सेवा है । परोपकार द्वारा और अन्यप्रकार से भी श्रीभगवान की सेवा, पूजा और भजन करना चाहिये, किन्तु भेद है कि इसमें स्वार्थभाव न रख कर केवल श्रीभवान के प्रीत्यर्थ कर्म करना चाहिये और श्रीभगवान की तुष्टि उसी कर्म से होती है जिससे सृष्टि का उपकार होता है । जो कर्म सृष्टि के उपकार में

व्यवहृत हो नहीं सकता वह यथार्थ भगवत् सेवा नहीं है। श्रीभगवान को कर्म का फल समर्पण करना अथवा कर्म ही श्रीभगवान के निमित्त करना अथवा श्रीभगवान को कर्म ही समर्पण करना अथवा दूसरी भांति उनकी सेवापूजा भजन करना इनसबों का यथार्थ तात्पर्य्य यही है कि इन कर्मों से जगत का उपकार हो और श्रीभगवान उन कर्मों के परिणाम को सृष्टि के उपकार करने में व्यवहार करें। जैसा कि पहिले कहा जा चुका है सिवाय सृष्टि के उपकार करने के जिसको श्रीभगवान की लीला अथवा विहार भी कहते हैं, अन्य कोई कार्य्य श्रीभगवान को करना नहीं है और न अन्य किसी को उनको अपेक्षा है। यज्ञादि क्रियाके अन्त में "श्रीकृष्णार्पणमस्तु" जो कहा जाता है, इसका तात्पर्य्य भी यही है कि श्रीभगवान अपने सृष्टिउपकार के कार्य्य में उस क्रिया के फल को व्यवहार करें। वही परोपकार-सेवा श्रीभगवान में अर्पण होसकती है जिसमें स्वार्थ का लेशमात्र न हो, जिससे यश, मान, ख्याति (नामवरी) पाने की कोई आशा न कीजाय, जिसका उद्देश्य लोगों में ख्याति करना न हो, जिससे किसी पारलौकिक सुख के पाने की भी लालसा न रहे, किन्तु सृष्टि के उपकार का भाव रख कर केवल श्रीभगवान के निमित्त की जाय। भक्त का यह भाव नहीं रहता है कि मैं सृष्टि का उपकार करूंगा, अथवा करसकता हूं अथवा करताहूं किन्तु वह समझता है कि सृष्टि का उपकार तो केवल श्रीभगवान ही कर सकते हैं और करते हैं किन्तु श्रीभगवान इतनी कृपा मेरे ऊपर करें कि उक्त कार्य्य में मेरी तुच्छ सेवा को भी ग्रहण करें अर्थात् मुझको किंचित सेवा करने दें और जो मुझसे लघुसेवा बन सके उसको कृपा कर ग्रहण करें यद्यपि वह ग्रहण करने योग्य न हो। ऐसे भाव से श्रीभगवान के निमित्त शुद्धहृदय से जो कर्म किया जाता है उसको श्रीभगवान ग्रहण कर सृष्टि के उपकार के कार्य्य में लगाते हैं और यदि उक्त कार्य्य से अनजान कोई बुरा फल भी होजाय तो कर्ता को उसका दोष नहीं होता और श्रीभगवान उसको सुधार लेते हैं। श्रीभगवान के निमित्त लंका की यात्रा के लिए सेतुबन्धन के समय एक क्षुद्र जन्तु ने भी उक्त महत्कार्य्य में योग दिया जिसको श्रीभगवान ने सादर ग्रहण किया। इस सेवा-भाव में भावकी शुद्धि मुख्य है, कर्म गौण है। अब प्रश्न यह है कि साधक को कौन परोपकार कर्म करना चाहिए? इसका उत्तर यह है कि सब साधक-भक्त में

सार्वजनिक प्रेम और परोपकार-सेवा का भाव सदा सब अवस्था में रहना चाहिये किन्तु सबों के कार्य्य एक प्रकार के न होंगे। साधक की भिन्न २ अवस्था योग्यता, देशकाल, अवसर आदि के अनुसार भिन्न २ प्रकार के कर्तव्य होंगे और श्रीभगवान की सेवा में शुद्धचित्त से अपने को अर्पण करने पर स्वतः उसको बोध हो जायगा कि उसको क्या कर्तव्य है? यह परोपकार-सेवा भी स्वधर्म के अनुसार जो जिसके योग्य है वह स्वयं उसके समीप आजायगा और उसको बोध होगा कि मेरा यही कर्तव्य है। जो लोग केवल परोपकार परोपकार कथन मात्र किया करते हैं और चाहते हैं कि हम ऐसे बड़े २ कार्य्य करें जिनको ओर सबका ध्यान आकर्षित हो अथवा जिसका वर्णन समाचारपत्रोंमें छपे और जिसके वास्ते हमारी प्रशंसा हो और हम नायक समझे जायं अथवा हमारे लिये मानप्रदान हो; वे कदापि सेवाभावके परोपकारी नहीं हैं किन्तु स्वार्थी हैं और उनको उसकर्म का फल मिलेगा किन्तु उसकर्म को स्वार्थमिश्रित रहने के कारण श्रीभगवान स्वतः ग्रहण नहीं कर सकते।

जोलोग समझते हैं कि वैराग्य और भक्ति यही है कि शरीर और स्वास्थ्य के नियम की परवाह नहीं करना किन्तु उनके विरुद्ध वर्ताव करना और भी शरीररक्षा का यत्न नहीं करना और इन सब का बोझ श्रीभगवान पर देना; वे बिल्कुल भूल करते हैं। शरीर और स्वास्थ्य के नियम के विरुद्ध चलने से व्याधि उत्पन्न होती है और इस प्रकार व्याधि को उत्पन्न कर चाहना कि श्रीभगवान उस व्याधि से चंगा करदें परम स्वार्थ है और भक्ति के विरुद्ध है। शरीररक्षा का भार श्रीभगवान पर देना भी स्वार्थ है और भक्ति के विरुद्ध है। साधकों का कर्तव्य है कि अपने शरीर को श्रीभगवान का दिया हुआ उनके कार्य्य करने के निमित्त समझें और आश्रित वर्ग को भी ऐसा ही समझें। ऐसा समझ कर अन्य की अपेक्षा विशेष यत्न श्रीभगवान के धन, इस शरीर और आश्रित का करें, उनकी रक्षा और पालन करें और उनको पवित्र, स्वस्थ और नीरोग बनाये रहें जिसके लिये आवश्यक यत्न करें किन्तु इस कर्तव्य को स्वतः न कर श्रीभगवान पर छोड़देना स्वार्थ है। आश्रितवर्ग अर्थात् परिवारआदि के प्रति जो कर्तव्य

का पालन है वह भी श्रीभगवान की सेवा ही है । किन्तु जोलोग उस कर्तव्य का पालन नहीं करते अथवा ऐसे काय्य में प्रवृत्त होते हैं जिस कारण उक्त कर्तव्य के पालन में बाधा पड़ती है, यद्यपि वह कर्म उत्तम क्यों न हो ; वे श्रीभगवान के प्रियकार्य्य नहीं करते हैं और ऐसा कर्म श्रीभगवान को कदापि प्रिय नहीं है ।

श्रीभगवान कार्य्य को नहीं देखते, किन्तु उसके भाव का देखते हैं । कोई कार्य्य बहुत उत्तम हो किन्तु शुद्ध भाव से नहीं किया जाय अथवा उसके सम्पादन में किसी कर्तव्यपालन में रुकावट हो अथवा उससे किसी को कष्ट हो अथवा भविष्यत में उससे हानि होना सम्भव हो तो वैसा कर्म कदापि श्रीभगवान को प्रिय नहीं होसकता, वरन उनकी इच्छा के विरुद्ध होने के कारण वह अधर्म माना गया है । यदि अपनी सामर्थ्य से अधिक किसी उत्तम कार्य्य में भी व्यय कियाजाय अथवा अपने परिवार और आश्रित के भाग को उनके लिये न रख कर किसी उत्तम उपकारी काम में खर्च कियाजाय तो वह भी अधर्म है और श्रीभगवान को कदापि ग्राह्य नहीं है । किन्तु यदि एक भंगी भी अपने कर्तव्य झाड़ बहार के कार्य्य को श्रीभगवान का कार्य्य समझ केवल उनके निमित्त आवश्यक समझ कर करता है तो वह श्रीभगवान का परमप्रिय है और उसके कर्म को श्रीभगवान सादर ग्रहण करते और अपनी सेवा समझते हैं । भक्तों को कदापि यह नहीं समझना चाहिये कि श्रीभगवान केवल धन के व्यय करने से प्रसन्न होते हैं जिसमें धनी को सुविधा है और गरीब लाचार है । राजसिक भाव से करोड़ रुपये श्रीभवानके नाम पर और उनके निमित्त व्यय होने पर भी श्रीभगवान कदापि प्रसन्न न होंगे और न उसे अपनेलिये ग्राह्य करेंगे किन्तु निष्काम सेवाभाव से और प्रेम से केवल पुकारेजाने पर अर्थात् नाम लेनेपर प्रसन्न होजाते हैं और उस सेवा को सहर्ष ग्रहण करते हैं । लिखा है:—

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥ २६ ॥

गीता अ० ९

श्रद्धयोपहृतं श्रेष्ठं भक्तेन मम वार्य्यपि ।
भूर्य्यप्यभक्तोपहृतं न मे तोषाय कल्पते ॥

वाराहपुराण ।

(श्रीभगवान कहते हैं कि) जो मेरा भक्त शुद्धभाव से पत्र, पुष्प, फल वा जल (मेरे प्रीत्यर्थ अर्थात् मेरे काम के लिये) मुझको अर्पण करता है, उस (भक्ति भाव से अर्पण किये हुए) को मैं प्रीति से ग्रहण करता हूँ (अपने जगदुपकार कार्य्य में व्यवहृत करता हूं) मेरा भक्त, श्रद्धा से यदि मुझको जलबिन्दु भी अपण करता है तो मैं उससे अत्यन्त तृप्त होता हूं, किन्तु अभक्त का उपहार बहुत अधिक परिमाण में भी होने पर उससे मेरी तुष्टि नहीं होती ।

इस परोपकार-सेवा में न अहंकार और न स्वार्थ रहना चाहिये, न राग-द्वेष रहना चाहिये, दया और निःस्वार्थ प्रेम का भाव अवश्य रहना चाहिए और कर्म ऐसा हो जो किसी के प्रति द्वेष-बुद्धि से न किया जाय और उसका उद्देश्य किसी को मानसिक कष्ट देने तक का न हो, शारीरिक कष्ट का तो कहना ही क्या है, और भी वह धर्म और कर्त्तव्य के विरुद्ध न हो, किन्तु यथार्थ उपकार पहुंचानेवाला हो, अथवा उपकारसेवा करने की शक्ति और योग्यता देनेवाला हो । यह उपकारसेवा प्रथम समीप से प्रारम्भ होगा अर्थात् पहिले अपने परिवार, पीछे सम्बन्धी, फिर पड़ोस के लोग, फिर नगरस्थ लोग, इस प्रकार क्रमशः इनको सुधारने और उनका उपकार करने का यत्न करना होगा, फिर क्रमशः इससे भी अधिक इसकी गति होगी । जो अधिक कष्ट में हैं और जिसका अभाव बहुत अधिक है उसका अधिकार दया और उपकार पाने के लिये दूसरे की अपेक्षा अधिक है । कौन सेवा और किसकी करनी चाहिये शुद्ध भाव से पूछनेपर अन्तरात्मा स्वतः बतला देगी ।

जो लोग कर्मयोग की मध्यम अवस्थामें हैं उनको विद्याप्रचार, ज्ञानप्रचार, रोगि-सेवा, अन्न-वस्त्र गृह जल के कष्ट का निवारण, अनाथ और असहाय की सहायता, योग्यों को द्रव्यदान, व्याधि-निवारण और स्वास्थ्य की वृद्धि, विवादनिवारण, आदि उपकारी कर्म अवश्य करने चाहिये और इन कार्य्यों को करने की शक्ति और योग्यता प्राप्ति के लिये यत्न करना भी सेवाही है, किन्तु उद्देश्य

यह हो कि योग्यता प्राप्त कर केवल श्रीभगवान की सेवा में उस का व्यवहार हो, स्वार्थ में नहीं ।

यह सेवा भी तीन प्रकार की है। जिस सेवा से केवल पार्थिव अर्थात् सांसारिक उपकार हो वह निम्नश्रेणी की आधिभौतिक सेवा है, जैसा कि व्याधि से पीड़ितों की सेवा-शुश्रूषा, अन्न-वस्त्र-गृह आदि का ऐसों को दान देना जिन को इन का परम अभाव है, दुःखितों और दरिद्रों को द्रव्य-दान देना आदि, ऐसी सेवा निम्न-श्रेणी की इसलिये है कि इस से तात्कालिक उपकार होता है; किन्तु यह उपकार स्थायी नहीं रहता। सांसारिक कष्ट प्रायः प्रारब्ध कर्मानुसार होने के कारण विना भोग किये इससे छुटकारा पाना कठिन है। किन्तु जो हो, सेवा-धर्म करनेवाले को सांसारिक कष्ट घटाने के लिये अवश्य यत्न करना चाहिये। किन्तु जो समझते हैं कि सांसारिक उपकार ही केवल उपकार है, अन्य नहीं और ऐसा मानकर चाहते हैं कि सबकोई इसी सांसारिक उपकार के करने में ही उद्यत हों, अन्य कार्य्य में नहीं, वे ठीक नहीं समझते। मनुष्य को यथार्थ विद्या और ज्ञान के प्रकाश से भूषित करना और उस द्वारा उसे धर्म के मार्ग से ले चलना जिस से अन्त में भक्तिभाव का लाभ कर श्रीभगवान की प्राप्ति करे यह मध्यमश्रेणी की आधि-दैविक सेवा है जो ऊपर कही आधिभौतिक सेवा से कहीं उच्च है। जो इस सेवा की उपयोगिता, उच्चता और परमावश्यकता नहीं समझते, वे तत्व के ज्ञाता नहीं हैं। यथार्थ में सृष्टि का उप-कार इसी सेवा से होता है, क्योंकि जब ज्ञान-भक्ति के उदय होने से लोग अधर्म के पथ को त्यागकर धर्मपथ का अनुसरण करेंगे और जब उनका केवल लक्ष्य श्रीभगवान होंगे, तभी पाप से और अधर्म से निवृत्ति होगी और जब पाप और अधर्म का अभाव होगा तभी सांसारिक कष्ट का भी लोप होगा, क्योंकि अधर्म ही उस का कारण है। अतएवजो धर्म, ज्ञान और भक्ति का प्रचार करता है वह संसार का बहुत बड़ा उपकार करता है और यह उपकार सांसारिक उपकार से अनेक गुणा अधिक है और यह श्रीभगवान की उच्च कोटि की सेवा है। यह कार्य्य दो प्रकार से होता है, प्रथम इनका मुख्य प्रचार स्वयं आचरण कर लोगों के दृष्टि-गोचर कराने से होता है; क्योंकि आचरण का बहुत बड़ा प्रभाव लोगोंपर पड़ता है, और भी यह प्रभाव बाह्य और अन्तरिक्ष दोनों-

लोकों में पड़कर विशेष प्रभाव उत्पन्न करता है। और भी जब ऐसे शुद्धाचरण के लोग अध्यापन, उपदेश, कथा, व्याख्या, वार्तालाप, सत्संग आदि द्वारा इनका प्रचार करते हैं तो उनसे भी बहुत बड़ा लाभ होता है। इस सेवा का दूसरा प्रकार जो पहिले से उच्चकोटि का है, वह नवधाभक्ति की साधना है; जिसका उल्लेख इस प्रकरण के आदि में हो चुका है श्रीभगवान के यश के श्रवण और कीर्तन, नामस्मरण, उनकी पूजा और ध्यान, उनकी स्तुति और गुणगान और उनमें भक्तिभाव अर्थात् प्रेमसम्बन्ध रखना, इन साधनाओं का प्रभाव सीधे श्रीभगवान पर पड़ता है और इनसे सृष्टि का बड़ा ही उपकार होता है-शारीरिक कर्म से मानसिक कर्म का अमित और अतुलनीय प्रभाव स्पष्ट है। मानसिक भावना का प्रभाव एक क्षण में करोड़ों कोस तक सर्वत्र चारोंओर व्याप्त हो सकता है और अपनी शक्ति और प्रबलता के अनुसार प्रभाव उत्पन्न कर सकता है। जो निष्काम भावना श्रीभगवान से सम्बन्ध रखती है और उनके चरणकमल में उनके कार्य्य विश्वहित के लिये अर्पित की जाती हैं (जैसाकि श्रीभगवान का ध्यान, नामका स्मरण यशकीर्तन, गुणगान आदि,) वही यथार्थ गंगा है, जो श्रीभगवान के चरणकमल से प्रवाहित होकर प्रथम अंतरिक्ष लोक को पवित्र करती है, पश्चात् इस मर्त्यलोक को पवित्र करती है और फिर इसके नीचे पाताललोकको भी पवित्र करती है। भक्त के भजन-ध्यान द्वारा प्रतिदिन इस पतितपावनी गंगा का प्रवाह तीनों लोकों में जारी रहता है और इससे तीनों लोकों के प्राणी पवित्र होते हैं। ये सब भक्ति के उपहार जब श्रीभगवान में निष्काम सेवा की भांति अर्पण किये जाते हैं और भक्त इनके बदले में कुछ नहीं चाहता और श्रीभगवान से निवेदन करता है कि हे प्रभो! इस तुच्छसेवा को ग्रहण कर अपनी सृष्टि के उपकार के कार्य्य में इसे लगाकर त्रैलोक्य का मंगल कीजिये तो श्रीभगवान सादर उस सेवा को ग्रहण कर उस द्वारा संसार का मंगल करते हैं और तीनों लोक को उससे लाभ पहुंचता है। ऐसे भक्त नित्यप्रति जो श्रीभगवान का ध्यान और नामस्मरण करते हैं, और पूजा करते हैं उनके यश और नाम का कीर्तन करते हैं, इनके द्वारा वे संसार का प्रतिदिन बड़ाही उपकार करते हैं जिस द्वारा वे धर्म, ज्ञान और भक्ति की

वृद्धि और प्रचार करते हैं और ऐसे ही महानुभाव भक्त के प्रभाव के कारण अनेक लोग ईश्वरोन्मुख होते हैं। किन्तु यह आवश्यक है कि भजननिष्ठ साधक भक्त परोपकार करने के भाव को अपने चित्त में अवश्य रक्खें और समझें कि परोपकार करना श्रीभगवान की यथार्थ पूजा है और जो कुछ ध्यान स्मरण पूजा वन्दनादि वे करें उनको श्रीभगवान में अर्पण करें जिनको श्रीभगवान सृष्टि के उपकार के काम में व्यय करेंगे। यहां यह कहना परमावश्यक है कि जो लोग समझते हैं कि श्रीभगवान का ध्यान, नामस्मरण, यश-कीर्त्तन, पूजा आदि कर्म व्यर्थ हैं और कर्मयोग के विरुद्ध हैं और इनसे कोई संसार का उपकार नहीं होता है और ये कर्तव्य कर्म नहीं है, वे यद्यपि बड़े फर्योन हों, अवश्य बड़े भ्रम में पड़े हैं और उनकी ऐसी विवेचना नितान्त भूल और भ्रमात्मिका है। यथार्थ भक्त के श्रीभगवान का प्रेमपूर्वक भजन करने से संसार के सब प्रकार के उपकार होते हैं और ऐसे मंगलप्रद और स्थायी उपकार होते हैं कि सांसारिक उपकारी कर्म में प्रवृत्त अनेक लोग उसका सहस्रांश उपकार भी नहीं कर सकते। इसलिये जो कोई कहते हैं कि श्रीभगवान का भजन व्यर्थ है और भजन-निष्ठ भक्त भजन छोड़कर केवल सांसारिक उपकार के काम में प्रवृत्त हों वे अविद्या के फंदे में पड़ कर ऐसा सोचते हैं और उनका कथन परम हानिकारक है। संसार में जो कुछ सुखशांति अबतक विराजमान है अथवा जो कुछ धर्म वर्तमान है वे सब इन्हीं भगवन्निष्ठ भक्तों के भजन के प्रभाव के कारण हैं अन्यथा वे लुप्त हो गये होते। भक्तों के भजन की महिमा का वर्णन कौन कर सकता है जिसके करने में श्रीभगवान भी अपनेको असमर्थ मानते हैं।

शारीरिक कर्म से मानसिक कर्म का प्रभाव बहुत बड़ा है और मनुष्य की मानसिक भावनाओं का अच्छा अथवा बुरा दोनों प्रकार का बहुत बड़ा प्रभाव संसार पर पड़ता है ; किन्तु वह स्थूल जगत में शीघ्र और विशेष रूप में प्रकट न होकर मानसिक क्षेत्र में विशेष भाव से प्रकाशित होता है और फिर वह वहां से जो स्थूल संसार के कर्मों का कारण होता है। भक्तिसाधक गण जो श्रीभगवान का चिंतन भजन स्मरण कीर्तन करते हैं और जिस प्रेमभाव से उनकी पूजा करते हैं उस निष्काम प्रेम भाव आदि को श्रीभगवान सादर ग्रहण कर उनको संसार के उपकार

के कार्य्य में व्यवहृत करते हैं और उनके द्वारा संसार का बहुत बड़ा कल्याण होता है और धर्म, ज्ञान और भक्तिकी वृद्धि होती है जो पार्थिवसुख का भी कारण है। साधक कृत श्रीभगवान की किसी प्रकार की निष्काम सेवा केवल उनके प्रीत्यर्थ और उनके निमित्त करने ही से उस द्वारा जगत का कल्याण अवश्य होता है, क्योंकि श्रीभगवान उक्त सेवा-भाव को जगत के कल्याण ही में संयोजित करते हैं, जैसाकि अभी कहा जाचुका है। अतएव भक्तिसाधक अपनी सेवा-पूजा द्वारा, जानकर अथा अनजान, जगत का कल्याण ही कर रहा है और अतएव वन्दनीय है। आध्यात्मिक सेवा का वर्णन पीछे होगा।

जो अयुक्त कर्म है और जो ईश्वरीय (सृष्टि के) नियम के विरुद्ध है उस कर्म का श्रीभगवान में अर्पण नहीं होसकता। जैसा कोई असत्य बोले, किसी को दुःख दे और ऐसे ही २ अन्य अयुक्त कर्म करे और कहे कि इन कर्मों को भी मैंने ईश्वरनिमित्त किया है वह पाखंडी है, क्योंकि श्रीभगवान के कार्य्य कभी असत्य भाषण पर क्लेश जनन इत्यादि अयुक्त कर्मों से सिद्ध नहीं हो सकते किन्तु उनके सृष्टि-नियम (ईश्वरीयइच्छा) के विरुद्ध होने से ईश्वर के कार्य्य (सृष्टि की ऊर्द्धगति अथवा उन्नति) में उनसे बाधा पड़ती है अतएव साधक को किसी कर्म के करने के पहिले विचारना चाहिये कि वह कर्म ईश्वर में अर्पण करने योग्य है या नहीं अर्थात् ईश्वरीय इच्छा (नियम) के (जिससे सृष्टि की उन्नति होती है) अनुकूल अथवा प्रतिकूल है। यदि अन्तरात्मा अनुकूल कहे तो उसे करना चाहिये, नहीं तो कदापि नहीं करना चाहिये, यद्यपि उससे सांसारिक लाभ भी होता हो, अन्तरात्मा शुद्ध भावसे पूछने पर ठीक २ बतला देगी। भक्त जिसका उद्देश्य इष्टदेवतानिमित्त कर्म करना है स्वार्थ के लिये नहीं, उससे अयुक्त अविहित और सृष्टि के नियम के विरुद्ध कोई कर्म हो नहीं सकता, यदि वह भाव शुद्ध रक्खेगा और श्रीभगवान पर पूरा निर्भर रहेगा।

ईश्वर सब प्राणियों में व्यापक, प्रकाशक और शक्तिदायक रूप से वास करते हैं, किन्तु प्राणी अपनी आंतरिक मलिनता, अज्ञानता और आवरण के कारण उनके यथार्थ स्वरूप को नहीं जानता। भक्त को चाहिये कि कदापि कोई ऐसा आचरण न करे और न कोई

ऐसी भावना उत्पन्न करे जो ईश्वर के गुण और स्वाभाविक इच्छा के विरुद्ध हो। हिंसा, पाप, लोभ, असत्य, क्रोध, काम, मोह, स्तेय असदाचारआदि अधर्मकार्य्य ईश्वर की इच्छा और नियम जो जीवको ऊर्द्धगति में लेजाने के लिये हैं उनके विरुद्ध हैं; अतएव इनका आचरण करना मानो ईश्वर से संग्राम करना है और उन-पर आघात करना है। अधर्म और अविहित कर्म के करने और कुत्सित भावना की उत्पत्ति करने से ईश्वर के सर्वव्यापी और अन्तर्व्याप्त शरीर में अवश्य आघात पहुचता है और उनके द्वारा ईश्वर के कार्य्य में बड़ी बाधा पहुंचता है, अतएव ईश्वर के प्रेमी को कदापि कोई अधर्माचरण नहीं करना चाहिये। अधर्म के विषय में समझना चाहिये कि उसके करने से केवल कर्ता ही की हानि न होगी किन्तु संसार मात्र को भी हानि होगी, क्योंकि कर्त्ता संसार से पृथक नहीं है, और इतनाही नहीं, उससे श्रीभगवान के शरीर में भी आघात पहुंचेगा, क्योंकि वे सर्वत्रव्याप्त और ओतप्रोत हैं, और सब काम उनकी दीहुई शक्ति द्वारा किये जाते हैं। जो शक्ति धर्मोपार्जन कर ईश्वरोन्मुख होने के लिये दी गई है नकि स्वतः ईश्वर के विरुद्धकार्य्य करने के लिये। पाप कर्मों का दुष्ट फल कर्ता को इसलिये होता है कि वे कर्म ईश्व-रीय इच्छा और उनके निर्द्धारित सृष्टि में क्रमोन्नति करने के नियम के विरुद्ध हैं। अतएव ईश्वर को सदा सबों के हृदयस्थ जान और अधर्म कर्म से उनको स्वतः आघात पहुंचने की सम्भावना मान साधक को कदापि कोई अधर्म कर्म नहीं करना चाहिये। हम-लोगोंकी अज्ञानता से श्रीभगवान को कष्ट पहुंचता है इसका प्रमाण श्रीमद्भगवद्गीता में यों है:—

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपोजनाः।
दम्भाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥ ५ ॥
कर्षयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तःशरीरस्थं, तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥ ६ ॥

दम्भ और अहंकार से युक्त, काम और अनुराग के वेग से वेष्ठित होकर मूढ़ जन शास्त्रविरुद्ध घोर तप करते हैं जिस के द्वारा

शरीरस्थ पञ्चमहाभूत और उनके अन्तर्यामी मुझको क्लेश देते हैं, ऐसों का आसुर निश्चय है, ऐसा तुम जानो। ५। श्रीभगवान कपिलदेवजी के वाक्य जो पहिले दिये गये हैं, उनमें इस विषय की भलीभांति पुष्टि है अर्थात् अधर्म द्वारा जो प्राणियों को कष्ट दिया जाता है उससे श्रीभगवान पर आघात पड़ता है, जो उनमें वास करते हैं, यह स्पष्ट वर्णित है।

नवधाभक्ति।

पहिले कहा जाचुका है कि नवधाभक्ति की निष्ठा अर्थात् श्रवण कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन निर्गुणी अर्थात् निष्काम भक्ति है और यह आधिदैविक सेवा है। ये नौ यथार्थ में तीन के रूपान्तर हैं। श्रवण, कीर्तन और स्मरण श्रीउपास्यदेव के "नाम" के अन्तर्गत हैं अर्थात् एक "नाम" के ये तीन विभाग हैं, उसी प्रकार पादसेवन अर्चन और वन्दन उपास्यदेव के "रूप" के अन्तर्गत हैं और "दास्य" "सख्य" और आत्मनिवेदन ये उपास्यदेव के "भाव" अर्थात् "सम्बन्ध" के भिन्न २ रूप हैं। अतएव ये नौ यथार्थ में "नाम" "रूप" और "भाव" हैं। ये नौ स्वतंत्र साधना नहीं हैं, किन्तु भक्ति की सीढ़ी के क्रमशः नौ पांव हैं और इसके द्वारा ऊपर उठने के लिये क्रमशः एक के पश्चात् दूसरे के ऊपर चलके जाना होगा। साधक को प्रथम श्रवण की प्राप्ति करना होगा, उसके बाद कीर्तन तत्पश्चात् स्मरण, बाद उसके पादसेवन फिर अर्चन, फिर वन्दन, तब दास्य, उसके होनेपर सख्य और अन्तमें आत्मनिवेदन। यही प्रकार क्रमशः इस मार्ग पर अग्रसर होने का है। यह नहीं कि ऊपर की साधना की प्राप्ति होने पर नीचे की साधना को त्यागना पड़ता है; किन्तु यह होता है कि नीचे की साधना में वृद्धि होती है अर्थात् नीचेवाली साधना भी रहती है किन्तु उसके सिवाय उसमें कुछ आधिक्य होजाता है और दोनों मिलकर परिवर्द्धित हो जाती है। केवल इन नौ निष्ठाओं के प्रति स्वतंत्र दृष्टि कीजाय तो बोध होगा, कि प्रथम के तीन जो "नाम" के अन्तर्गत हैं वे अधिभूत हैं, दूसरे तीन "रूप" के अन्तर्गत "अधिदैव" हैं और अंतिम तीन "भाव" अन्तर्गत "अधिदैव" है और अंतिम तीन "भाव" के अन्तर्गत "आध्यात्म" हैं। शास्त्रानुसार वर्णाश्रम धर्म और अपने कर्त्तव्य के अनुसरण करने पर (जो प्रवृत्तिमार्ग है) और उसके द्वारा इन्द्रिय और मन को अपने वश में करने पर

और सत्य के ज्ञान की प्राप्ति की तीव्र लालसा के कारण शास्त्र के अध्ययन और मनन करने पर जब जीवात्मा श्रीभगवान् के लिये लालायित होता है तब भक्तिभाव उसमें आता है। यह इस ग्रन्थ के प्रकरण द्वारा भी प्रदर्शित किया गया है।

श्रवण।

भक्ति का श्रवण प्रथम पाद है। उपास्यदेव की कीर्ति, महिमा, कथा, यश, सामर्थ्य, चरित्र, ज्ञान, गुण, पावन नाम आदि को श्रद्धा-भक्ति से सुनना श्रवण है। सब काम प्रथम श्रवण से प्रारम्भ होता है अर्थात् श्रवण द्वारा जान कर ही उसमें प्रवृत्ति होती है, यहाँ-तक कि वेद का भी प्रादुर्भाव सुनकर ही हुआ, जिसके कारण उसे श्रुति कहते हैं। इस श्रवण का अर्थ केवल सुनना नहीं है; किन्तु सुनकर उसको हृदय में अंकित करना भी है। यह ऐसी अवस्था है जब कि जीवात्मा श्रीभगवान * के गुण और चरित्र सुनने के लिये ऐसा व्याकुल होजाता है जैसा कि तृषित पुरुष जल के लिये रहता है और उसकी तृप्ति केवल श्रीभगवान की महिमा सुनने से ही होती है जिसको सुनकर वह प्रसन्न होजाता है। दूसरे के द्वारा सुनकर अथवा स्वतः पढ़कर किसी विषय को हृदय में अङ्कित करना ये दोनो श्रवण के अन्तर्गत हैं। भक्तों के मुख से जो श्रीभगवान का गुण और यश सुनाजाता है उसका बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है जो अन्य प्रकार से सम्भव नहीं है, अतएव सत्संग द्वारा इस "श्रवण" के लाभ के लिये साधक को यत्न अवश्य करना चाहिए।

श्रवण का अर्थ यहां केवल सुनना ही नहीं है; किन्तु सुनकर सुनेहुए श्रीभगवान के विषय को हृदय में अंकित करना और उनपर पूरा आरूढ़ होजाना और तदनुसार आचरण करना है श्रीमद्भागवत पुराण का वचन है:—

श्रुतस्य पुंसां सुचिरश्रमस्य,
नन्वञ्जसा सूरिभिरीडितोऽर्थः।

---

*जैसा कि पहिले कहा आचुका है इस पुस्तक में श्रीभगवान शब्द व्यापक अर्थ में व्यवहृत है अर्थात् इसका तात्पर्य्य सब उपास्य-देवों से है न कि केवल किसी एक उपास्य देव से।

तत्तद्गुणानुश्रवणं मुकुन्द-

पादारविन्दं हृदयेषु येषाम् ॥ ४ ॥

स्कं ३ अ० १३

वासुदेवकथाप्रश्नः पुरुषांस्त्रीन् पुनाति हि ।

वक्तारं पृच्छकं श्रोतॄंस्तत्पादसलिलं यथा ॥ १३ ॥

स्कं १० अ० १

ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्तएव,

जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीयवार्ताम् ।

स्थाने स्थिताः श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभि-

र्ये प्रायशोऽजित जितोप्यसि तैस्त्रिलोक्याम् ॥३॥

अ० १४

तवकथामृतं तप्तजीवनं

कविभिरीडितं कल्मषापहम् ।

श्रवणमङ्गलं श्रीमदाततं

भुवि गृणन्ति ये भूरिदा जनाः ॥ ९ ॥

अ० ३१

इत्थं परस्य निजवर्त्मरिरक्षयात्त-

लीलातनोस्तदनुरूपविडम्बनानि ।

कर्माणि कर्मकषणानि यदूत्तमस्य

श्रूयादमुष्य पदयोरनुवृत्तिमिच्छन् ॥ ४९ ॥

अ० ६०

शुद्धिर्नृणां नतु तथेह दुराशयानां,

विद्याश्रुताध्ययनदानतपःक्रियाभिः ।

सत्वात्मनामृषभ ते यशसि प्रवृद्ध-
सच्छ्रद्धया श्रवणसम्भृतया यथा स्यात्॥ ६॥
स्कं ११ अ० ६

जो मनुष्य बहुत परिश्रम करके वेदादि का अध्ययन करता है उसका प्रयोजन यहां कहागया है कि ऐसे भगवद्भक्त जिनके हृदय में श्रीभगवान के चरणकमल विराजमान हैं उनके मुख से श्रीभगवान के गुणों का श्रवण करना। श्रीभगवान की कथा के विषय में प्रश्न उनके चरणकमल से निकली गङ्गा की भांति तीनों को अर्थात् वक्ता, प्रश्नकर्ता और श्रोता स्त्री पुरुषों को पवित्र करता है। यद्यपि अजित आप (श्रीभगवान) को दूसरा कोई तीनों लोकों में जीत नहीं सकता तथापि ज्ञानलाभ करने में परिश्रम त्याग कर जो लोग अपने स्थान में बैठकर साधुओं के मुख से आपकी कथा सुनने में कर्म वचन और हृदय से लगे रहते हैं वे आपको वशीभूत कर लेते हैं। आपका कथामृत दुःखियों को सजीव करदेता है, पाप को नष्ट करता है और सुनने से कल्याण करता है। कविलोग ऐसी प्रशंसा करते हैं। इसको पाकर पृथ्वी में जो इसे फैलाते हैं वे बड़े दाता हैं। जो मनुष्य भगवत्पाद पाने की चाह रखता है उसको चाहिये कि श्रीभगवान ने जो धर्म की रक्षा के लिये शरीर धारण किया है उनकी लीला को सुना करे जिसके सुनने से कर्म छूट जाता है। हे पूज्य ऋषभदेव! दुष्ट मनुष्यों के हृदय की शुद्धि विद्या, वेदाध्ययन, दान, तप, योग क्रियादि से वैसी नहीं होती, जैसा कि आप के यश के श्रवण द्वारा भक्ति के बढ़ने से। इस श्रवण में रुचि पुरुषार्थ से ही साधक को प्राप्त होता है अन्यथा नहीं। लिखा है:—

शुश्रूषोः श्रद्दधानस्य वासुदेवकथारुचिः।
स्यान्महत्सेवया विप्राः पुण्यतीर्थनिषेवणात्॥ १६॥
शृण्वतां स्वकथां कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्तनः।
हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत्सताम्॥१७॥
श्रीमद्भागवत स्कं १ अ० २

हे ब्राह्मगण! पवित्र करनेवाले तीर्थों के सेवन से पापरहित पुरुष को महात्माओं की सेवा करने का अवसर प्राप्त होता है, तब उसको धर्म में श्रद्धा उत्पन्न होती है, इसके बाद श्रवण करने की इच्छा होती है, तब उस पुरुष को श्रीभगवान की कथा में रुचि होती है। जिनका श्रवण और कीर्तन पुण्यरूप है वह, सत्पुरुषों के हितकारी श्रीभगवान अपनी कथा श्रवण करनेवाले पुरुष के हृदय में स्थित हो कर उसकी कामादि वासनाओं का नाश करते हैं।

साधक श्रवणद्वारा भी श्रीभगवान की सेवा ही करता है अर्थात् संसार के उपकाररूपी श्रीभगवान की सेवा भी इसके द्वारा की जाती है। साधक श्रीभगवान के भक्तों के साथ सत्संग और उनसे प्रश्नादि करके और प्रार्थना और कथाद्वारा इस श्रवण धर्म का प्रचार करता है जिसको केवल अकेले ही वह नहीं सुनता किन्तु अन्यों को भी सुनाता और सुनवाता और उनको उस द्वारा लाभ पहुंचाता है। साधक भी श्रवण में इसीनिमित्त प्रवृत्त होता है कि मैं श्रीभगवान के यश माहात्म्य आदि को सुन कर उसे अन्य को सुना सकूं और प्रचार कर सकूं ताकि दूसरों को उस द्वारा लाभ पहुंचे। अतएव साधक स्वतः भी श्रवण करता है और योग्यता प्राप्त कर दूसरों को भी सुनाता है और इस प्रकार प्रचार द्वारा श्रीभगवान की सेवा करता है। श्रीभगवान के गुण, यश, कीर्ति, लीला आदि के सुनने से प्रेमाश्रु का बहना भक्ति के बीज हृदय में आने का लक्षण है और वे धन्य हैं जिनमें यह लक्षण स्वाभाविक भाव से प्रकट होता है।

यह श्रवण भी तीन प्रकार का है। भक्तों और सत्पुरुषों के मुख से सुनना अधिभूत श्रवण है। श्रीसद्गुरु की कृपा से भीतरमें उपदेश लाभ करना और नामध्वनि सुनना अधिदैव श्रवण है। यह श्रवण कान को बन्द करने से जो भूताकाश के सूक्ष्मभाग की ध्वनि सुन पड़ती है (जिसको कोई २ अनाहत शब्द कहते हैं किन्तु वह यथार्थ अनाहत नहीं है) उससे विलक्षण और पृथक है। जब श्रीभगवान् और श्रीसद्गुरु की कृपा से उनके साक्षात् होने पर श्रीउपास्यदेव की प्राप्ति होती है और तब जो आन्तरिक अनुभव होता है वह आध्यात्मिक श्रवण है जो स्थूलकर्ण से न सुनकर अन्तर में सुनाजाता है अर्थात प्रकाशित होता है

और उसकी प्राप्ति होने पर कोई सन्देह नहीं रहजाता। जैसा कि अर्जुन ने गीता में कहा है:—

मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम॥

अध्याय ११।

अर्जुन ने कहा। आपने मेरे प्रति कृपा करके परम अतिगुह्य आत्मतत्व को प्रकाशित कर दिया उस से मेरा मोह नष्ट होगया। राजा परीक्षित और शबरी को श्रवण से ही भगवत्प्राप्ति हुई।

कीर्तन।

चूंकि श्रवणधर्म भी श्रीभगवान की सेवा के निमित्त किया जाता है, अतएव साधक श्रवण कर ही संतुष्ट नहीं होसकता है और न उसके विषय में मौन-धारण करसकता है। श्रवण से जो कुछ प्राप्त होता है वह श्रीभगवान को सेवा के लिये उद्गार की भांति कीर्तन रूप में प्रकट करता है अर्थात् साधक में ऐसी अवस्था आजाती है कि श्रीभगवान के यश और माहात्म्य और नाम को बिना कीर्तन अर्थात् प्रकाशित किये वह रह नहीं सकता है। श्री-भगवान के यश, लीला, कीर्ति, माहात्म्य, चरित्र, पावन नाम आदि का कीर्तन अर्थात् भजन, स्तुति, गान, कथा अथवा पाठ आदि द्वारा श्रद्धा से प्रकाशित करना यह द्वितीय कीर्तन साधना है। श्रद्धा-भक्ति से श्रीभगवान को सेवा के निमित्त कीर्तन करने पर कीर्तन-कर्ता श्रोता और भी जो स्थान जहां कीर्तन कियाजाय वे सब पवित्र होजाते हैं। और यह भक्ति के प्रचार में बहुत बड़ी सहायता देने-वाला है। यह कीर्तनरूपी सेवा छोटे बड़े सबसे हो सकती है। कोई ऐसा नहीं है जिससे यह कीर्तन नहीं हो सकता है, सबसे हो सकता है। श्रद्धा से केवल श्रीभगवान के प्रीत्यर्थ कीर्तन करने से संसार का बड़ा उपकार होता है और यह श्रीभगवान की बड़ी सेवा है, क्योंकि श्रीभगवान के नाम और यश के कीर्तन का प्रबल और उत्तम प्रभाव इस भूताकाशपर अवश्य पड़ता है और उसका परिणाम स्थायी हो कर और भक्ति के प्रचार का बीज बन कर कालान्तर में प्रकट होता है और इस प्रकार जगत का उपकार करता है। यह तो कीर्तन का अदृष्ट प्रभाव हुआ। अब दृष्ट

प्रभाव को लीजिये। श्रीभगवान का कीर्तन यदि श्रद्धावान को कर्णगोचर होता है वह उनके भीतर भी बीजरूप में प्रवेश कर कालान्तर में अङ्कुरित होता है और इस प्रकार श्रोता को भी उपकार पहुंचता है और इस कारण यह श्रीभगवान की तुष्टि करने वाला कार्य्य और उनकी सेवा है। श्रीमद्‌भागवत का वचन है:—

यस्याखिलामी बहुभिः सुमंगलै-
वाचो विमिश्रा गुणकर्मजन्मभिः ।
प्राणन्ति शुम्भन्ति पुनन्ति वै जग
यास्तद्विरक्ताः शवशोभना मताः ॥ १२ ॥

स्कं १० अ० ८

जो वाक्य भगवतअवतारों की कथा से भरा है वह कहनेवाले सुननेवाले आदि सबों को अर्थात् जगत् भर का जीवन सार्थक करता है और पवित्र करता है। जो वाक्य उन कथाओं से शून्य हैं वे वस्त्रादिकों से शोभित मुर्दों की भांति हैं। इस द्वितीय कीर्तन की अवस्था में साधक श्रीभगवान के सम्बन्धी श्रवण के आनन्द से पूरित होकर वह चाहता है कि उस आनन्द को दूसरों को प्रदान करे और उस कारण वह अपने समान साधकों की संगति को खोजकर उन को कीर्तन के आनन्द में सम्मिलित करता है और भक्ति-संचालित पूर्ण हृदय से प्रेरित होकर उसका मुख श्रीभगवान का कीर्तन करता है। इस अवस्था में कीर्तन द्वारा श्रीभगवान के पावन यश और नाम का सर्वत्र प्रचार कर लोगों का उपकार करना साधक का मुख्य कर्तव्य होता है। जैसा कहा है:—

ते सभाग्या मनुष्येषु कृतार्था नृप निश्चितम् ।
स्मरन्ति स्मारयन्तो ये हरेर्नाम कलौ युगे ॥

श्रीमद्भागवत ।

हे राजन्! मनुष्यों में वे भाग्यशाली और धन्य हैं जो कलियुग में हरिनाम का स्वतःस्मरण करते हैं और दूसरों से स्मरण करवाते हैं। श्रीनारद जी ने इस कीर्तन द्वारा जगत में श्रीभगवान के नाम और यश को फैलाकर संसार का उपकार किया और

अंतरिक्षभाव से अवतक कररहे हैं। महाप्रभु श्रीचैतन्यदेव जी ने कलियुग में इस कीर्तन का विशेष प्रचार कर संसार का बहुत बड़ा उपकार किया और इसके द्वारा भक्ति का प्रचार देश-देशान्तर में हुआ। बाबा श्रीगुरुनानक साहब ने केवल कीर्तन द्वारा सम्पूर्ण पंजाब में श्रीभगवान के नाम का प्रचार कर जागृति करदी और लोगों को धर्म में प्रवृत्त किया। यह भी आवश्यक है कि साधक कीर्तन द्वारा सेवा करने के निमित्त संगीत विद्या को भी सीखे और ऐसा करके सुन्दर मधुर और हृदयग्राही स्वरसे भक्ति-पूर्वक श्रीभगवान के यश का भजन कीर्तन करे जिससे भक्ति के प्रचार में बड़ी सहायता होती है और सुननेवाले के हृदयपर बहुत उत्तम प्रभाव पड़ता है।

समय २ पर विशेष रूप से एकत्र संकीर्तन और नगरसंकीर्तन द्वारा भी जिस में भक्तगण मण्डली बांध कर श्रीभगवान के यश को गाते हुए घूमते हैं लोगों का बड़ा उपकार होता है और यह आज-कल परम सहज और उत्तम उपाय लोगों को श्रीभगवान के सन्मुख करने का है और इस से बड़ा लाभ होता है। इस कलियुग में तो लोगों के कल्याण का यह एकमात्र सुगम उपाय है। श्रीमद्भा-गवत पुराण में लिखा हैः—

कलिं सभाजयन्त्यार्या गुणज्ञाः सारभागिनः।
कीर्तनेनैव कृष्णस्य मुक्तसंगः परं व्रजेत्॥ ३६॥

स्कं ११ अ० ५

कलेर्दोषनिधेराजन् अस्तिह्येको महान् गुणः।
कीर्तनादेव कृष्णस्य मुक्तबन्धः परं व्रजेत्॥ ५१॥
कृते यद् ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ तद्धरिकीर्तनात्॥ ५२॥

स्कं १२ अ० ३

मान्य, गुणज्ञ और सार-ग्राही जन कलियुग की प्रशंसा करते हैं, क्योंकि श्रीभगवान के कीर्तन ही से इस युग में संसार का संग त्याग कर मनुष्य परधाम को सिधारते हैं। कलियुग दोषों से भराहुआ है, किन्तु उसमें एक बड़ा गुण यह है कि श्रीभगवान् के कीर्तनसे

मनुष्य बन्धन से छूट कर परधाम को चला जाता है। जो कुछ फल सत्ययुग में विष्णु के ध्यान करने से और त्रेतायुग में यज्ञ करने से और द्वापर में सेवासे मिलता है सो सब फल कलियुग में हरिकीर्तन से मिलता है। आजकल परमावश्यक है कि घर २ और नगर २ में कीर्तन का विशेष प्रचार कियाजाय, क्योंकि इससे लोगोंको बड़ा लाभ होता है और होगा और इसके द्वारा श्रीभगवान में लोगों को रुचि और भक्ति शीघ्र उत्पन्न होती है। संध्याके समय लोगों को एकत्र होकर प्रेम से नामकीर्तन करना चाहिए और रामायणादि ग्रन्थों का गान और भजन भी करना चाहिए। सम्मिलित होकर कीर्तन करने से बहुत बड़ा प्रभाव उत्पन्न होता है और वह विशेष उपकारी होता है।

कीर्तन की उच्च अवस्था का श्रीगीता में यों वर्णन है:—

मच्चिता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम् ।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥९॥

अ १०

(साधक) मेरे (श्रीभगवान) में मन, हृदय, प्राणों और सब शक्तियों और इन्द्रियों को समर्पण कर आपस में मेरा विचार और कीर्तन करते हुए और भक्तिभाव को प्रकाशित करते हुए सदा सन्तोष को पाते हैं और रमते हैं। इस गीता के श्लोक में जो "बोधयन्तः" है और जिस का अर्थ है बोध-अर्थात् प्रकाशन करना वह साधक को अपने समान साधक के लिये है और "कथयन्तः" अर्थात् कीर्तन करना है वह अपने से नीचे श्रेणी के लोगों के लिये है। तात्पर्य्य यह है कि साधक अपने समान के साथ कीर्तन द्वारा परस्पर में बोध प्रदान करे अर्थात् स्वतः भी बोध प्राप्त करे और दूसरे को भी बोध होने में सहायता देवे और अपने से नीचे दर्जे के लोगों को कीर्तन और कथा द्वारा सहायता करे। जैसा श्रीमद्भागवत पुराण का वचन है:—

तद्वाग्विसर्गो जनताघविप्लवो यस्मिन्प्रतिश्लोकमबद्धवत्यपि । नामान्यनन्तस्य यशोङ्कितानि यच्छृण्वन्ति गायन्ति गृणन्ति साधवः ॥ ११ ॥

इदं हि पुंसस्तपसः श्रुतस्य च स्विष्टस्य सूक्तस्य च बुद्धिदत्तयोः। अविच्युतोऽर्थः कविभिर्निरूपितो य उत्तमश्लोकगुणानुवर्णनम् ॥ २२ ॥

स्कं० १ अ० ५

प्रगायतः स्ववीर्याणि तीर्थपादः प्रियश्रवाः।
आहूत इव मे शीघ्रं दर्शनं याति चेतसि ॥ ३४ ॥

स्कं० १ अ० ६

नैकांतिकं तद्धि कृतेपि निष्कृते मनः पुनर्धावति चेदसत्पथम्। तत्कर्मनिर्हारमभीप्सतां हरे र्गुणानुवादः खलु सत्वभावनः ॥ १२ ॥

स्कं० ६ अ०२

गृहेष्वाविशतां वापि पुंसां कुशलकर्मणाम्।
मद्वार्तायातयामानां न बन्धाय गृहा मताः ॥१६॥

स्कं० ४ अ० ३०

वही 'वाक्योच्चारण' लोगों को पापनाशक है, जिस में हरि के नाम और गुण आते हैं, चाहे वह वाक्यरचना असंस्कृतादि दोष-युक्त भी होवे तो क्या? उसी का साधुलोग सुनते हैं, रटते हैं और गाते हैं। कवियों ने यही निश्चय करके कहा है कि नारायण का गुणकीर्तन मनुष्यों के तप, शास्त्राध्ययन, यज्ञ, स्वाध्याय, पाण्डित्य और दान का पूरा पूरा फल है। (नारद जी कहते हैं कि) श्रीभगवान (जिनका चरण ही तीर्थ है) अपने यश का सुनना बहुत प्रिय समझते हैं। जब मैं गान करता हूं तब मानो बुलाये गये की नाईं शीघ्र हृदय में उपस्थित होकर दर्शन देते हैं। प्रायश्चित्त पूर्णरूप से शोधक नहीं होता, क्योंकि प्रायश्चित्त के करने के पीछे फिर भी कदाचित् कुमार्ग को मन दौड़ता है। अतएव जड़ से पाप को नष्ट करना चाहे तो हरिगुण गावे। हरिनाम हृदय को शुद्ध कर देता है। चाहे घर में वास कर गृहस्थी का काम अच्छी तरह किया

करे पर उस का समय यदि मेरे (श्रीभगवान के) कीर्तन में बीतता है तो उस को गृहस्थी का बन्धन नहीं होता । भक्ति-साधक अपने अशेष दुर्गुणों का दमन श्रवणकीर्तनद्वारा करते हैं जो उस द्वारा बड़ा सुगमता से अनायास सम्पादित हो जाता है ।

जैसा कि पहिले भी कहा जा चुका है श्रद्धा भक्ति से श्रीभगवान के नाम का उच्चारण करना अथवा उनके यश आदि का गान करना और भजन करना अथवा श्रीभगवान के सम्बन्धी ग्रन्थों का पाठ करना अथवा कथा कहना अथवा श्रीभगवान की स्तुति करना अथवा स्तोत्रपाठ करना अथवा श्रीभगवान के विषय में वार्तालाप कथोपकथन आदि करना और इनके द्वारा दूसरों को इसमें प्रवृत्त करना कीर्तन है, किन्तु भाव ऐसा हो कि यह श्रीभगवान के प्रीत्यर्थ और उनके कार्य्य के सम्पादनार्थ कियाजाय जो संसार का उपकार करना भी है । साधक कदापि ऐसा न समझे कि मैं किसी का उपकार कररहा हूं किन्तु वह अपने कार्य्य को श्रीभगवान को समर्पण करे और इसी में धन्यमाने कि श्रीभगवान की कृपा से मैं इस कार्य्य में प्रवृत्त हुआ हूं जिस के द्वारा उपकार तो केवल श्रीभगवानद्वारा होगा, कदापि उसके द्वारा नहीं; किन्तु मैं निमित्तमात्र होने के लिये अपने को समर्पण करता हूं ।

स्मरण ।

श्रवणादि त्रितय का अंतिम साधना स्मरण है अतएव यह उच्च और सूक्ष्म है । कीर्तनद्वारा उपास्यदेव के प्रति श्रद्धा-भक्ति दृढ़ हो कर प्रगाढ़ होती है और तब वह स्मरण का सूक्ष्म रूप धारण करती है । जिह्वा द्वारा प्रकाशित भाव में श्रीउपास्यदेव का यश, लीला, नाम आदि को प्रकट करना कीर्तन है जिसका विशेष कर स्थूल जगत पर प्रभाव पड़ता है किन्तु चित्त-द्वारा केवल श्रीभगवान का ही स्मरण करना जिस में श्रीभगवान के नाम का मुख्य आश्रय रखना स्मरण है जिसका प्रभाव विशेष कर सूक्ष्म मानसिक जगत् पर पड़ता है और इस से श्रीभगवान की विशेष सेवा होती है और जगत का बहुत बड़ा कल्याण होता है । यह साधारण नियम सर्वत्र है कि स्थूल से सूक्ष्म का विशेष प्रभाव होता है । इस अवस्था में साधक श्रीउपास्यदेव

के विशेष संनिकट होना चाहता है ताकि विशेष सेवा करसके जिसके कारण व अपने को केवल श्रीउपास्यदेव में संलग्न करना चाहता है और कदापि उन से पृथक होना नहीं चाहता किन्तु इस में उसे सफलता नहीं होती है। वह श्रीउपास्यदेव में अपने चित्त को निरन्तर संलग्न रखना बड़ा कठिन प्रतीत करता है। तब "यह नाम" के महत्व को समझता है और "नाम" और "नामी" का अभेद ज्ञान उसे होता है। इस कारण वह "नाम" का आश्रय लेता है और निरन्तर नाम के जप द्वारा श्रीभगवान का स्मरण करता है। जप तीन प्रकार का है। "उच्च स्वर" "उपांशु" और "मानसिक"। उच्चस्वर जप नामकीर्तन है। नीच स्वर से जिस में जिह्वा और ओष्ठ तो हिले किन्तु शब्द भीतरही रहे, यहांतक कि समीप में बैठे हुए लोग भी न सुनें, वह उपांशु जप है। मानसिक जप में ओष्ठ और जिह्वा नहीं हिलतीं किन्तु केवल मनही मन जप होता है। उच्चस्वर से उपांशु जप उत्तम है और उपांशु से मानसिक उत्तम है। लिखा है:—

विधियज्ञाज्जपयज्ञो विशिष्टो दशभिर्गुणैः।
उपांशुः स्याच्छतगुणः सहस्रो मानसः स्मृतः॥
जप्येनैव तु संसिध्येद् ब्राह्मणो नात्र संशयः।
कुर्य्यादन्यन्न वा कुर्य्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते॥

मनुस्मृति।

दश पौर्णमास्यादि विधियज्ञ से साधारण (उच्च-स्वर) जप दशगुण श्रेष्ठ है, उपांशु जप सौगुण और मानसिक यज्ञ हजार गुण श्रेष्ठ है। ब्राह्मण केवल जप से सिद्धि को प्राप्त करते हैं—इस में कोई सन्देह नहीं है और सिवाय इसके दूसरा कुछ करें अथवा न करें, ब्राह्मण सब के मित्र (उपकारी) होते हैं।

इस नामस्मरण में दो मत है। कोई तो प्रथम अवस्था में केवल नाम का मानसिक जप करते हैं और जप के साथ केवल भावना, उपास्यदेव का रखते हैं अर्थात् नाम के उच्चारण करने से ही यह जिनका नाम है उनका, अर्थात् "नामी" की भावना उनके चित्त में आती है और नाम और नामी को अभेद समझ

केवल नाम ही पर निर्भर रहते हैं किन्तु उपास्यदेव की भावना मात्र उसके साथ रखते हैं किन्तु उनकी स्पष्ट मूर्ति का ध्यान नहीं करते। जब ऐसे साधक को इस प्रकार के जप का अभ्यास करते २ उपास्य देव की मूर्ति के दर्शन हृदय में होते हैं तब से वे मूर्ति का ध्यान करना प्रारम्भ करते हैं। दूसरा जो उत्तम पक्ष है वह यह है कि नाम के जप के साथ २ श्रीउपास्यदेव की मूर्ति का ध्यान भी करना किन्तु स्मरण की अवस्था में जप विशेष और मुख्य रहेगा और मूर्ति का ध्यान गौण रहेगा अर्थात् जप के ऊपर चित्त विशेष संलग्न रहेगा और मूर्ति का ध्यान पूर्ण स्पष्ट और उत्तम प्रकार से प्रारम्भ में न होगा। यद्यपि उपास्यदेव के किसी नाम के स्मरण करने से उनकी सेवा हो सकेगी किन्तु इस अवस्था में यह भी आवश्यकता होती है कि साधक अपने श्रीउपास्य देव का गौण नाम के सिवाय उनके बीजमंत्र की दीक्षा किसी उत्तम योग्य गुरु से लेवे यदि ऐसी मंत्रदीक्षा उसे न मिली हो और उस मन्त्र के जप का अभ्यास श्रीउपास्य देव की मूर्ति के ध्यान के साथ २ स्नान के बाद प्रातःसंध्या नियमित रूप से नियत समय में किया करे। प्रातःकाल का ब्राह्म मुहूर्त अर्थात् सूर्योदय से एक घड़ी पूर्व का समय जब कि तारा आकाश में देखी जाय इस जप ध्यान के लिये परमोत्तम समय है। साधक इस समय को शयनादि दूसरे कार्य्य में न लगा कर केवल जप-ध्यान में व्यतीत करे। श्रीउपास्य देव के गौण नाम का स्मरण तो सदा सर्वदा चलते फिरते खाते पढते सब अवस्था में कर सकता है और करना भी चाहिये। लिखा है :—

सर्वदा शुचिरशुचिर्वा पठन्ब्राह्मणः सलोकतां
समीपतां सरूपतां सायुज्यतामेति ।

(कलिसंतरणोपनिषद्)

ब्राह्मण सदा पवित्र अथवा अपवित्र भाव में नाम का स्मरण करने से सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य मुक्ति को पाता है। किन्तु गुरुप्रदत्त बीजमंत्र का जप केवल स्नान के अनन्तर पवित्र रहने के समय में ही कर सकता है अन्य अशुचि रहने के काल में नहीं। दोनों का अभ्यास रखना चाहिये अर्थात् पवित्र अवस्था में बीजमन्त्र के जप का अभ्यास और अन्यकाल में

किसी ऐसे गौण नाम के स्मरण का अभ्यास जो उसे मधुर और चित्ताकर्षक और प्रेमप्रद बोध हो। श्रद्धा भक्ति से नाम का स्मरण करना चाहिये और चित्त को एकाग्र करने का निरन्तर यत्न करना चाहिये। विना श्रद्धा और एकाग्रता के जप करने से उसका परिणाम बहुत थोड़ा होता है। शरीर और चित्त की शुद्धि के साथ २ जप के अभ्यास की मात्रा अवश्य बढ़ावे किन्तु विना इनकी शुद्धि के अधिक मात्रा में अभ्यास करना अच्छा नहीं, क्योंकि अशुद्ध और असमाहित शरीर और चित्त उस जप के बोझे को बरदाश्त नहीं कर सकते हैं। किसी पर क्यों न हो, बोझ इतना ही देना चाहिये जो बरदाश्त हो सके। हां विशेष बोझ के बरदाश्त करने की सामर्थ्य शरीर और चित्त में उत्पन्न कर देने पर बड़ा बोझ उठाया जा सकता है। इस नामस्मरण अर्थात् जप द्वारा श्रीउपास्यदेव की उत्तम सेवा होती है और केवल उनके निमित्त निःस्वार्थ भाव से जप करने पर श्रीभगवान इसको सृष्टिकी भलाई के निमित्त व्यवहार करते हैं और इस जपकर्म द्वारा सृष्टि का बहुत बड़ा उपकार होता है। नाम-नामी में अभेद के कारण प्रेम और एकाग्रता पूर्वक नाम स्मरण रूपी श्रीउपास्य देव की सेवा से उनकी कृपा की प्राप्ति अवश्य होती है और यह "नाम" जापक को "नामी" से अवश्य युक्त करता है, इस में कोई सन्देह नहीं। यह नामस्मरण सब किसी से किया जा सकता है ऐसा कोई भी नहीं है जो नाम के स्मरण करने में असमर्थ हो—इसी कारण कहा गया है कि भक्ति का पथ सुगम है, क्योंकि नामस्मरण इस में परमोपयोगी है जो परम सुलभ है। श्रीभगवान की असीम कृपा जो प्राणियों पर है उसका यह प्रत्यक्ष प्रमाण है। किन्तु शोक है कि श्रीभगवान के अपने मिलने के मार्ग को सुगम करने पर भी लोग इस मार्ग का अवलम्बन नहीं करते हैं बल्कि निरादर करते हैं। हृदयदेश में चित्त को धारणकर वहां हो यह नाम स्मरण करना चाहिए। स्मरण का मुख्योद्देश्य यही है कि श्रीउपास्यदेव में चित्त सदा संलग्न और संनिवेशित रहे और अन्य कोई भावना नहीं आवे।

सृष्टि-क्रम के विचारने से बोध होगा कि प्रथम विकास शब्द अर्थात् केवल ध्वनि के समान था जिसको शब्दब्रह्म कहते हैं औ वह पीछे व्यक्त अर्थात् वर्णात्मक हुआ। इस शब्द (गायत्री) सेर

ही रूप-जगत की सृष्टि हुई अर्थात् यही नाम रूप का कारण है। लिखा है:—

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानभूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव। यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव ॥१॥ (माण्डूक्योपनिषत्।)

ॐ इस अक्षर के रूप में यह सब है, भूत, वतमान और भविष्य सब उसके अर्थरूपी हैं और सब ओंकार ही है। इसके परे जो त्रिकाल से अतीत है वह भी ओंकार ही है। सब मंत्र और नाम इसी एक ॐ के रूपान्तर हैं। अतएव यह नामस्मरण सब साधना का मूल है और भक्तिमार्ग की तो भित्ति ही है; विना इस मूल को गहे और दृढ़ किये आगे बढ़ना कठिन है। इसी कारण शास्त्र और महात्माओं ने नाम की बडी महिमा गाई है और इसको श्रीउपास्यदेव के मिलने का परमावश्यक और एकमात्र उपाय माना है। नाम को डोरी को पकड़ने से फिर यह आप से आप साधक को श्रीभगवान की ओर लेजायगा और आगे जो कुछ साधना हैं वे नामस्मरण ही के रूपान्तर हैं सब का मूल कारण यही है जैसा कहा जाचुका है। इस नाम के भी तीन भेद हैं। अधिभूत में नाम का वर्णात्मक रूप रहता है जिस को वैखरी कहते हैं और जिसके अभ्यासमें पूर्णता होनेपर मध्यमा की अवस्था अधिदैव में वह भावना रूपमें परिवर्तित हो जाता है अर्थात् "नाम" "नामी" में लय होजाता है और नामी भावना अथवा अन्य रूप में प्रत्यक्ष हो जाता है और वही वर्तमान रहता है जो शब्द का मध्यम रूप है। इसके बाद के अध्यात्मभाव को "पश्यन्ती" भाव कहते हैं जो "ओंकार," "गायत्री" परा शक्ति का यथार्थ रूप है और श्रीभगवान की यथार्थ आध्यात्मिक वंशी-ध्वनि है जिसको सद्गुरु की कृपा ही से कोई सुनता है। इस अवस्था में साधक को इष्टदेव का प्रत्यक्ष दर्शन होता है।

स्मरण का यथार्थ तात्पर्य्य सततचिंतन है अर्थात् ऐसी अवस्था की प्राप्ति करनी जिसमें चित्त निरन्तर और अविच्छिन्न श्रीउपास्यदेवमें संनिवेशित रहे, कदापि पृथक् न जाय। जैसा कि कोई एक जन्तु अपने अंडे का उदर से बाहर कर केवल चिंतन द्वारा उसको

वृद्धि करता है और गाय जैसे चरते घूमने भी अपने चित्त को अपने बछड़े में रखत' है और उस चिंता द्वारा उसकी रक्षा करती है और पनिहारी चलते डोलते भी अपने चित्त को अपने शिर के ऊपर के घड़े पर रखने से उस के स्मरण द्वारा उस घड़े के पानी को छलकने से और घड़े को गिरने से बचाती है, इन कामों में स्मरण का विशेष प्रभाव प्रत्यक्ष है, इसी प्रकार से श्रीउपास्यदेव का निरन्तर स्मरण साथ साथ सांसारिक कामों के करते भी रखना चाहिये जो नाम के आश्रय लेने से सम्भव है, अन्यथा नहीं। चलते फिरते, काम करते, बात करते, मन में ऐसी भावना रखने से कि ये सब कार्य्य श्रीउपास्यदेव के हैं और उन्हीं के निमित्त किये जाते हैं और भी उस के नाम का मानसिक जप निरन्तर हृदय में करते रहने से स्मरण की ठीक उच्च अवस्था को प्राप्ति हो सकती है। अतएव साधक को चाहिये कि नाम के मानसिक जप और स्मरण का अभ्यास निरन्तर सांसारिक कार्य्य में प्रवृत्त रहते भी और भी चलते फिरते बैठते सोते कियाकरे। अभ्यास दृढ़ होने पर किसी से बात और काम करते रहने पर भी मनमें स्मरण का भाव बना रहसकता है। महात्मा कबीर साहब का वचन है:—

सुमिरनकी सुधि यों करो, जैसे कामी काम।
एक पलक बिसरै नहीं, निसदिन आठो जाम॥
सुमिरन की सुधि यों करो, ज्यों सुरभी सुत माहिं।
कहे कबीर चारो चरत, बिसरत कबहूं नांहि॥
सुमिरन की सुधि यों करो, जैसे दाम कंगाल।
कहे कबीर बिसरै नहीं, पल पल लेत सम्हाल॥
सुमिरन सो मन लाइये, जैसे नाद कुरंग।
कहे कबीर बिसरे नहीं, प्राण तजे तेहि संग॥
सुमिरन सो मन लाइये, जैसे दीप पतंग।
प्राण तजै छिन एक में, जरत न मोड़ै अंग॥

सुमिरन सो मन लाइये, जैसे कीट भिरंग।
कविर बिसारे आप को, होय जाय तेहि रंग॥
सुमिरन सो मन लाइये, जैसे पानी मीन।
प्राण तजै पल बीछुड़े, सत कबीर कह दीन॥

ऊपर के वचनों में जो स्मरण का वर्णन है, वही इस की उच्च अवस्था है। जब कि स्वाभाविक रूप से विना प्रयास चित्त श्री-उपास्यदेव में निरन्तर संलग्न और मग्न रहे और कदापि पृथक् न हो। इस अवस्था का गीता में यों वर्णन है:—

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय! सदा तद्भावभावितः॥ ६॥
तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम्॥ ७॥

अ० ८

हे कौन्तेय! जो जिस पदार्थ को स्मरण करताहुआ मरण-काल में शरीर को छोड़ता है वह उसी को पाता है क्योंकि सदा उसने वही भावना की थी (जिसके कारण मरण समय में भी वही आ गई)। इसलिये सबकाल में मुझ में मन और बुद्धि को लगाये हुए मेरा चिन्तन कर और युद्ध (कर्तव्यकर्म) भी कर, (ऐसा करने से) मुझको अवश्य प्राप्त होगा; इसमें कोई सन्देह नहीं। लिखा है:—

भगवत आदिपुरुषस्य नारायणस्य नामोच्चारण-मात्रेण निर्धूतकलिर्भवति। नारदः पुनः पप्रच्छ तन्नाम किमिति। सहोवाच हिरण्यगर्भः—हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥ इति षोडशकं नाम्नां

कलिकल्मषनाशनम्। नातः परतरोपायः सर्ववेदेषु दृश्यते ॥ (कलिसन्तरणोपनिषद्)

आदिपुरुष श्रीभगवान् नारायण के नाम के उच्चारण-मात्र से कलि का कल्मष नाश होजाता है। नारद ने फिर (ब्रह्मासे) पूछा कि वह नाम क्या है। ब्रह्मा ने कहा, वह यह है:—हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे. हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। यह सोलह अक्षरका नाम कलि-कल्मष का नाश करनेवाला है और सब वेदोंमें इस से उत्तम अन्य कोई उपाय नहीं देखता हूं। और भी लिखा है:—

अविस्मृतिः कृष्णपदारविन्दयोः
क्षिणोत्यभद्राणि च शन्तनोति।
सत्त्वस्य शुद्धिं परमात्मभक्तिं,
ज्ञानं च विज्ञानविरागयुक्तम् ॥ ५५ ॥

भागवत स्क० १२ अ० १२

श्रीभगवान् के चरणकमल का स्मरण अमंगल को दूर करता है, कल्याण करता है और परमात्मा में भक्ति, ज्ञान, विज्ञान और वैराग्य उत्पन्न करता है। इस स्मरण द्वारा प्रह्लाद और वाल्मीकि आदि ने श्रीभगवान् को प्राप्ति की थी।

पाद-सेवन।

यद्यपि स्मरण के समय भी श्रीउपास्य देव का ध्यान किया-जाता है किन्तु उस अवस्था में नामस्मरण मुख्य रहता है और मूर्ति का ध्यान गौण होता है जब। नामस्मरण और सेवाद्वारा अन्तः-शुद्धि होजाती है और प्रेम का बीज अङ्कुरित होजाता है तो श्रीभग-वान् के रूपरस के आस्वादन करने का प्रबल उत्कंठा उत्पन्न होती है और साधक श्रीभगवान् के निकटवर्ती होकर उनकी सेवा करना चाहता है। यथार्थ साकारोपासना यहां से प्रारम्भ होती है और इसी कारण इस अवस्थाका नाम चरणसेवा है। यद्यपि

बीजरूप से वह उपासना स्मरण की अवस्था में प्रारम्भ होती है किन्तु इसका विकास इसी अवस्था में होता है अतएव इसकी प्रथमावस्था का वर्णन स्मरणमें न कर यहां हो करना उत्तम समझा गया। इस अवस्था में नाम स्मरण अर्थात जप बना रहता है किन्तु श्रीउपास्यदेव की मूर्तिका सांगोपाग ध्यान इसमें मुख्य हो जाता है। इस अवस्था में ध्यान मुख्य है और जप केवल ध्यान की स्थिरता के निमित्त किया जाता है। इस अवस्थामें मनका पूरा एकाग्र होजाना और प्रेम के अंकुरका स्फुटित होना आवश्यक है जो विना श्रीउपास्य-देवकी साकारोपासना अर्थात् मूर्ति-ध्यान के नहीं हो सकता। श्रीउपास्यदेव के भिन्न २ प्रकार के आकार का जो शास्त्र में वर्णन है वह आनुमानिक नहीं है, उनके धाम में पहुंचनेसे वैसा स्वरूप यथार्थ में दिव्य दृष्टि से देखने में आता है। भक्त ऋषीश्वरोंने जैसा उनका आकार वहां (परम धाममें) देखा है वैसा वर्णन किया है, और आजकल में भी जो भक्ति की उच्च अवस्था में पहुंचते है उनको वैसे दर्शन होते हैं और ऐसे भक्त लोग इस समयमें भी हैं जो श्रीउपास्य-देवकी मूर्ति अपने हृदय में देखते हैं और उनके तेज का प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं। उपासना का परिणाम प्रत्यक्षमें देखा जाता है अर्थात् उसमें परिपक्वता प्राप्ति होने से स्थूल शरीर के रहते ही दिव्यदृष्टि खुल कर श्रीउपास्यदेव के दर्शन उनके अनुग्रह से अवश्य होते हैं। जिसको स्थूल शरीर के रहते अपने इष्टदेवता के दर्शन न हुए, उसको समझना चाहिये कि उसकी भक्ति-सेवा बहुत कम रही जिसका पूरी करने के लिये उसे फिर जन्म लेना पड़ेगा। इष्टदेव के दर्शन पहले पहल जब होवेंगे तब इसी जन्म में इस भूलोकमें रहते ही अपने हृदयमें ही होगें। गोपाल-तापिनी उपनिषदका वचन है—

एतद्विष्णोः परमं पदं ये नित्योद्युक्तास्तं यजन्ति न कामात्तेषामसौ गोपरूपः प्रयत्नात्प्रकाशयेदात्म-पदं सदेव ॥

ओंकारेणाऽन्तरितं ये जपन्ति गोविन्दस्य पञ्च पदं मनुम्। तेषामसौ दर्शयेदात्मरूपं तस्मान्मुमुक्षुर-भ्यसेन्नित्यशान्त्यै ॥

जो लोग सर्वदा यत्नपूर्वक श्रीविष्णु के इस परमपदकी आराधना करते हैं और विषयवासना से प्रीति नहीं रखते, उन के पुरुषार्थ के कारण श्रीविष्णुभगवान गोपवेष में उन लोगों के निकट अपना स्वरूप प्रकाश करते हैं।

जो कोई ओंकार युक्त श्रीगोविन्द के पंचपदी मंत्रका जप करते हैं, उनको श्रीगोविन्द अपना रूप दिखलाते हैं, अतएव मुमुक्षुको शान्ति प्राप्त करने के निमित्त गोविन्दमंत्र बार २ जप करना चाहिये।

श्रीभगवान् के आकार में और मनुष्य के आकार में यह भेद है, कि मनुष्य के आकार मूल प्रकृति के विकारों के (शरीर पंचमहाभुत का और अंतःकरण मलीन सत्व गुण का) बने हुए हैं और कर्माधीन हैं किन्तु ईश्वर का आकार उनकी शक्ति दैवी प्रकृति (जो विशुद्ध विद्यारूपी है) का बना हुआ है और उनकी इच्छा के अधीन है, जैसा ज्ञानयोग में कहा जा चुका है।

जिस उपास्यदेव पर जिसकी रुचि हो उसको उसी देवकी भक्ति करनी चाहिये, अंतिम परिणाम सबोंका एक ही है, क्योंकि यथार्थ में भिन्न २ उपास्यदेव (जैसे विष्णु, शिव, शक्ति, सूर्य्य,* गणपति आदि) एक ही परम पुरुष के नाना रूप हैं, अतएव सब एक ही हैं, भिन्न २ नहीं हैं, जैसा पहिले कहा जा चुका है। उपासक का सम्बन्ध श्रीउपास्यदेव के साथ कृत्रिम नहीं है किन्तु स्वयंसिद्ध, स्वाभाविक और अनादि है। प्रत्येक जीवको उपास्यदेवों में से एक न एक से सनातन से सम्बन्ध रहता है जो उस अंश का आवश्यक

---

* उपास्य सूर्य्य इस प्रकाश सूर्य्य के अंतर मे हैं जिनकी यह दृश्यमान मूर्ति केवल आवरण है। आदित्य हृदय में लिखा है--

"ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती नारायणः सरसिजासन-सन्निविष्टः।"

सूर्य्यमंडल के भीतर रहनेवाला कमलासनस्थ नारायण का सदा ध्यान करना चाहिये।

रक्षण और निरीक्षण करते हैं, यद्यपि अज्ञानता के कारण वह उनको न जानता और न मानता हो । यथार्थ दीक्षा वही है जब कि परम गुरुदेव शिष्य को उसके इष्टदेव के साथ प्रकटरूप में सम्बन्ध करवा देते हैं ।

ध्यान के निमित्त हृदय में सांगोपाङ्ग मूर्ति श्रीइष्टदेवता की ऐसी बनानी अत्यन्तावश्यक है जो अधिक काल तक ज्योंकी त्यों बनी रहे जिसका होना विना किसी आदर्श के सहारा के कठिन है; अतएव ध्यान के समय अन्तर हृदय में सांगोपांग मूर्ति बनाने में सहायता पानेके लिये इष्टदेवता का एक सुन्दर चित्ताकर्षक चित्र सामने रखना चाहिये और उसी चित्रकी सी मूर्ति हृदय में बनानी चाहिये और उस हृदयस्थ मूर्ति पर मनको बांधना चाहिये । अभ्यास के प्रारम्भ में ऐसी मूर्ति पूर्णरूप से बनाने में और उसको ज्योंकी त्यों बनाये रखने में बहुत कठिनाई जान पड़ेगी, सर्वाङ्ग एकाएक बनना और वैसे ही बना रहना कठिन होगा । जैसे कभी पग नहीं देख पड़ेगा, यदि पग बनाया जायगा तो बाहु नहीं देख पड़ेगा इत्यादि २ किन्तु इस कठिनाई को दूर करने में चित्रको देखलेने से बडी सहायता मिलेगी और कुछ कालके अभ्यास के बाद यह कठिनाई जाती रहेगी । पहिले यह कार्य्य सुन्दर प्रतिमा द्वारा लिया जाता था किन्तु चित्र प्रतिमा से अधिक सुन्दर और मनोहर होनेके कारण अब चित्रका व्यवहार करना उचित है और कियाजाता है ।

ध्यान की प्रथम अवस्था यथार्थ में चित्रांकन करना अथवा मूर्तिको हृदय में चित्रित करना है जैसा चित्रकार अथवा शिल्पी चित्र बनाने का कार्य्य सावधानी से मनको एकाग्र करके करता है इसी प्रकार ध्यान में मूर्ति का चित्रकी सहायता से हृदय पटमें अंकित करना पड़ता है क्रम यह है कि पहिले हृदय में श्रीउपास्यदेव के चरणकमल को बनावे, फिर जंघा, फिर कटि, उदर, वक्षस्थल, मुख आदि क्रमशः बनावे और सर्वांग बनजाने पर तीव्र धारणा के बलसे उस मूर्तिको स्थिर रखे और उसी पर मनसंलग्न करे और साथ २ मानसिक जप भी हृदयक्षेत्र में ही होता रहे ।

श्रीमद्भागवत पुराण में लिखा है:—

"एकैकशोऽगानिधियानुभावयेत्पादादि यावद्धसितंगदाभृतः। जितंजितं स्थानमपोह्य धारयेत्परं परंशुद्ध्यति धीर्यथायथा ॥ १३ ॥

स्कं २ अ० २

तदनन्तर तिन श्रीभगवान के चरणकमल से लेकर हास्ययुक्त मुखपर्यंत प्रत्येक अंग का बुद्धि से ध्यान करै, चरण आदि जो २ अंग बिना यत्न के ध्यान में आजाय उन २ को त्याग कर आगे आगे के जङ्घा जानु आदि अंगों का ध्यान करे, अपनी बुद्धि जिस प्रकार भगवत्स्वरूप में स्थित रहे तिस रीतिसे करे। जिस भाव में श्रीउपास्यदेव के ध्यान करने की रुचि हो उसी भाव में ध्यान करना चाहिये। प्रथम अवस्थामें चित्त को श्रीउपास्यदेव के सांगोपांग (अर्थात् सब अवयव युक्त) मूर्ति पर संनिवेशित करे और उसीमें संलग्न करे और ध्यान द्वारा देखता रहे। किन्तु जब यह ध्यान दृढ़ होजाय तो एक एक अंग के ध्यान में क्रमशः नीचे के अंग से प्रवृत्त हो। इसमें प्रथम चरण का ध्यान है। इसी कारण इस साधना का नाम चरणसेवा है। श्रीमद्भागवतपुराण का वचन है:—

स्थितं व्रजंतमासीनं शयानं वा गुहाशयं।
प्रेक्षणीयेहितं ध्यायेच्छुद्धभावेन चेतसा ॥ १९ ॥
तस्मिन् लब्धपदंचित्तं सर्वावयव संस्थितम्।
विलक्ष्यैकत्र संयुज्यादंगे भगवतोमुनिः ॥ २० ॥

संचिंतयेद्भगवतश्चरणारविंदं व्रजांकुशध्वजसरोरुहलांछनाढ्यम्। उत्तुंगरक्त विलसन्नखचक्रवालज्योत्स्ना भिराहतमहद्धृदयांधकारम् ॥ २१ ॥

यच्छौ च निःसृतसरित्प्रवरोदकेन
तीर्थेन मूर्ध्न्यधिकृतेन शिवः शिवोऽभूत।

ध्यातुर्मनः शमल शैलनिसृष्टवज्रं
ध्यायेच्चिरंभगवतश्चरणारविंदम् ॥ २२ ॥

स्कं ३ अ० २८

अपने को जैसा प्रिय होय तैसे, खड़ेहुए, चलतेहुए, सिंहासन पर बैठेहुए, शेष-शय्या पर शयन करतेहुए, अनेकों प्रकार की देखने योग्य लीलाएं करते हुए और हृदयगुहा में विराजमान श्रीइष्टदेव का शुद्ध भक्तियुक्त अन्तःकरण से ध्यान करे। तदनन्तर तिन श्रीभगवान् के स्वरूप पर चित्तस्थिर होने पर तथा उनके सकल अवयव एकसाथ चित्त में चित्रित होने लगे तब वह ध्यान करनेवाला योगी, अपने मन को श्रीभगवान के एक एक अवयव में लगावे। प्रथम तो उत्तमता से श्रीभगवान के चरणकमल का ध्यान करे, जो चरणकमल वज्र, अङ्कुश, ध्वजा और कमल के चिन्हों से युक्त है तथा जिसने ऊंचे, आरक्तवर्ण और शोभायमान नखों की पांति की किरणों से, ध्यान करनेवाले सत्पुरुषों के हृदय में अज्ञान रूप अन्धकार का नाश करता है। जिसके धोने से उत्पन्न हुई भागीरथी के संसार के तारनेवाले जल को मस्तक पर धरकर श्रीशंकर भगवान शिवरूप हुए हैं और जो चरणकमल, ध्यान करनेवाले पुरुषों के मन में के पाप रूप पर्वत पर गिरकर वज्र के समान होता है तिस श्रीभवान के चरणकमल का चिरकाल पर्यन्त ध्यान करे। श्रीभगवान की प्रतिमा अथवा चित्र का पूजन भी इसी अवस्था के अन्तर्गत है। विग्रह मूर्ति अथवा चित्रपट को दीर्घकाल तक श्रद्धा और प्रेम से पूजा करने से उसमें ऐसी शक्ति आजाती है कि उसके दर्शन से ही पूजा करने वाले के मन की अवस्था बदल जाती है और श्रीउपास्यदेव का अंतर हृदय में स्फुरण और उदय और उनके निमित्त प्रेम उत्पन्न होनेपर चित्त स्वभावतः श्रीउपास्यदेव में संलग्न और लीन हो जाता है। स्वयं श्रीउपास्यदेव के निमित्त शारीरिक सेवा करनेकी अभिलाषा जो उपासक में रहती है जो प्रारम्भिक अवस्था में स्वाभाविक और आवश्यक है उसकी पूर्तिमूर्ति पूजा द्वारा होती है। श्रीउपास्यदेव भक्तके अधीन में ऐसे रहते हैं कि जिस२ प्रकार से उपासक उनकी पूजा करना चाहता उसी २ प्रकार से वह उसको

स्वीकार करते हैं। किन्तु मुख्य अधिदैविक तात्पर्य्य मूर्तिपूजा का ध्यान द्वारा उनकी सेवा करना है जिसकी सिद्धि में सुन्दर मनोहर चित्ताकर्षक मूर्ति अथवा चित्र परमावश्यक है, बल्कि यों कहना चाहिये कि बिना इनके आश्रय के ध्यान की सिद्धि होना बहुत ही कठिन है। चित्त का स्वभाव है कि सुन्दर और मनोहर पर आसक्त हो और यथार्थ में श्रीउपास्यदेव की मूर्ति ही परम सुन्दर और मनोहर उपासक के निमित्त है। अतएव परमावश्यक है कि श्रीउपास्यदेव की मूर्ति अथवा चित्र सब प्रकार से परम सुन्दर और चित्ताकर्षक बनाया जाय और सुन्दर स्थान में आदर से रहे और पूजित हो जिसके होने से और जिसकी सहायता से ध्यान में सुगमता होगी। अनेक साधक वाह्यपूजा न कर केवल मानसिक पूजा करते हैं और उनको उसी से लाभ भी होता है। भक्तिमार्ग में विग्रह मूर्ति की पूजा सेवा से अनेक सहायता मिलती है और संसार का भी उपकार होता है, क्योंकि साधारण लोगों के चित्त में श्रीभगवान का भाव प्रायः केवल विग्रह मूर्ति ही के देखने से होता है और विग्रह की सेवा-पूजा से उनमें भक्तिभाव का संचार होता है। प्रतिमा और भी उसकी पूजाका स्थान, यदि भक्ति-भाव से सेवा हो तो, तेजपुंज का केंद्र (खज़ाना) हो जाता है जहांसे उक्त तेज सर्वत्र फैलता है और संसार का उपकार करता है। जहां भक्ति-भाव से प्रतिमा की पूजा होती है उस तेजपूरित प्रतिमा के भक्ति-भाव से दर्शन करने से जो तात्कालिक चित्त में शान्ति प्राप्त होती है वह प्रत्यक्ष ही है। प्रतिमा की पूजा के निमित्त जो सुगंध द्रव्यादि व्यवहार होते, शंख आदि बजाए जाते, धूप दीप दिए जाते, स्तुतिपाठ भजन किये जाते उन सब से आधिदैविक उपकार के सिवाय आधिभौतिक उपकार भी संसार का होता है।

प्रतिमा पूजा सब साधकों के लिये अत्यन्तावश्यक नहीं है, क्योंकि किसी २ को मानसिक पूजा द्वारा भी उद्देश्य साधन हो जाता है। मूर्तिपूजा मुख्य करके साधक के लिये प्रेम के उप-जाने में सहायता देनेके निमित्त है जिसमें उत्कृष्ट सहायता उसके द्वारा मिलती है। किन्तु यदि प्रेम और अनुराग के संचार

करने का उद्देश्य न रख कर ऐसी पूजा केवल शारीरिक भाव से की जाय तो वह भक्तिमार्ग के साधक को विशेष उपकारी नहीं है। साधन-सेवा में उन्नति करने पर साधक ऐसी अवस्था में प्राप्त होता है जब कि उसको श्रीसद्गुरु के अस्तित्व में तनिक भी सन्देह नहीं रहता और किसी सत्पुरुष के सत्संग से श्रीसद्गुरु का ज्ञान उसको प्राप्त हो जाता है। सद्गुरु का वर्णन आगे के गुरु शिष्य प्रकरण में किया जायगा। श्रीउपास्यदेव की कृपा से साधक सद्गुरु को जानता हैं और उनके प्रति उसके चित्त में प्रेम उत्पन्न होता है। वह तब सद्गुरु का आश्रय लेता है और उनको अपना सद्गुरु करके वरणन करता है और जानता है कि बिना सद्गुरु की कृपा के श्रीउपास्यदेव की प्राप्ति उसको हो नहीं सकती है। वह दोनों (गुरु और श्रीउपास्यदेव) में अभेद समझता है और दोनों की सेवा में प्रवृत्त होता है। ध्यान के प्रथम भाग में वह श्रीसद्गुरु का ध्यान करता है और जब तक किसी प्रकार श्रीसद्गुरु के रूप का ज्ञान उसको नहीं होता (जो उपयुक्त समय पर अवश्य होता है) तबतक वह श्रीसद्गुरु के केवल चरण का ध्यान हृदय में करता है। वह अपने हृदय में श्रीसद्गुरु के चरण कमल को अंकित कर उसी में चित्त को संलग्न कर प्रेम से उसी चरणकमल का ध्यान करता है। श्रीसद्गुरु के ध्यान के बाद श्रीउपास्यदेव का ध्यान किया जाता है। चूंकि श्रीसद्-गुरु श्रीउपास्यदेव के साथ साधक कोयुक्त कर देते हैं, अतएव साधक की दृष्टि में श्रीसद्गुरु का स्थान ऊंचा है और इसी कारण उनकी पूजा और ध्यान पहिले किए जाते हैं, पश्चात् श्रीउपास्य-देव की। जब श्रीउपास्यदेव कृपाकर श्रीसद्गुरु के रूप को साधक के हृदय में अथवा अन्य प्रकार दृष्टिगोचर करा देते हैं तबसे साधक श्रीसद्गुरु के उसी रूप का ध्यान करता है।

भक्तिमार्ग के ध्यान के लक्ष्य केवल श्रीसद्गुरु और श्रीउपास्य-देव हैं अन्य कोई नहीं और यह ध्यान हृदय का कार्य्य है ज्ञान का कार्य्य नहीं। स्वार्थरहित निःस्वार्थ सेवा द्वारा हृदय के शुद्ध होने से जब प्रेम का अंकुर हृदय में जागृत होता है तभी यह ध्यान

होना सम्भव है जो हृदय में बिना अनुराग और स्नेह के उत्पन्न हुए सम्भव नहीं है। इस अवस्था का ध्यान, स्मरण की अवस्था के ध्यान से, अवश्य उच्च है और इसमें हृदय के प्रेमोद्गार द्वारा ध्यान में प्रवृत्त होना मुख्य है। यह वही अवस्था है जबकि साधक में श्रीउपास्यदेव के प्रति ऐसा गाढ़ प्रेम उत्पन्न होता है कि वह उनसे पृथक् रहना नहीं चाहता किन्तु अत्यन्त समीप होना चाहता है ताकि वह श्रीभगवान के तेजपुंज की कणा मात्र को भी प्रथम अपने हृदय में धारण करे फिर वहां से बाह्य जगत में फैलाकर संसार का उपकार रूपी श्रीभगवान की सेवा कर सके। भक्तिमार्ग का ध्यान ही प्राण है और यही श्रीउपास्यदेव की प्राप्ति करानेवाला है।

"ध्यान ध्येय वस्तु के लगातार स्मरण चिंतन को कहते हैं जिस का प्रवाह तेल की अखण्ड धारा के समान (जब कि एक पात्र से दूसरे पात्र में डालाजाता है) अपरिच्छिन्न" होना चाहिये। ध्यान के समय श्री उपास्यदेव के मंत्र का जप करना भी आवश्यक है, मूर्ति का ध्यान मन को लय होने से अर्थात् निद्रित अवस्था में जाने से रोकेगा, मंत्रजप मन के विक्षेप (चंचलता) को नाश करेगा। ध्यानकाल में मन जब कभी दूसरी ओर जाय अथवा ध्यान से अन्य कोई भावना मन में आवे जो अभ्यास के प्रारम्भ में अवश्य होगा, तो मन को ध्येय से अन्य किसी ओर जाने न देना चाहिये और आई हुई भावना से शीघ्र मन को हटा के अर्थात् उस भावना को शीघ्र मन से बाहर कर के मन को मंत्र और देवता पर एकाग्र भाव से लगाना चाहिये, और सतत ऐसी सावधानी रखनी चाहिये कि मन, मंत्र और देवता से हट के अन्य किसी वस्तु अथवा विषयपर न चला जाय अर्थात् कोई अन्य भावना मन में न आजाय। ऐसा सदा मन को एकाग्र ही रखने का यत्न करना और किसी दूसरी ओर नहीं जाने देना, यदि जाय तो वहां से हटा के फिर पूर्ववत् एकाग्र ही रखना (एक ही में लगाये रखना, अर्थात् किसी अन्य भावना को मन में नहीं आने देना, आवे तो उसे स्थान नहीं दे के शीघ्र बाहर कर देना, ऐसा बार बार करते रहने को (ध्यान काल में और अन्य काल में भी) अभ्यास

कहते हैं, और ऐसा ही अभ्यास अनेक काल तक करने से मन को एकाग्र रखनेकी शक्तिकी प्राप्ति होती है * । महाभारतमें कहा है:-

समाहितं क्षणं किञ्चिद्ध्यानवर्त्मनि तिष्ठति ।
पुनर्वायुपथं भ्रान्तं मनो भवति वायुवत् ॥१३॥
अनिर्वेदो गतक्लेशो गततन्द्रीह्यमत्सरी ।
समादध्यात् पुनश्चेतो ध्यानेन ध्यानयोगवित् ॥१४॥

शान्तिपर्व अध्याय १९५ ।

जब मन स्थिर होता है तो किंचित् काल के लिये ध्यान मार्ग में स्थित रहता है; किन्तु जब कि वह फिर वायुमार्ग में विक्षेप के कारण जाता है तब वायु समान द्रुतगामी हो जाता है ॥ १३ ॥ योग-ध्यान की साधनाओं के जाननेवाले पुरुष को उस (मनविक्षेप) से हतोत्साह न हो के, परिश्रम करने से नहीं डर के और आलस्य और द्वेष को त्याग के, फिर अपने मन को ध्यानावस्थित करना चाहिये । † जब साधक को मन के एकाग्र रखने की शक्ति प्राप्त हो जाय जिसके कारण और भी सुखप्रद श्रीउपास्यदेव में प्रेमऔर अनुराग रहने के कारण जब ध्येय में मन ऐसा संलग्न हो जाय कि उनको छोड़ के और किसी वस्तु का ज्ञान नहीं रहे, वरन अपने को भी भूल जाय, केवल एक ध्येय ही का ज्ञान रहजाय, ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय तीनों एक हो जायं, तब समझना चाहिये कि वह ध्यान की पराकाष्ठा को पहुंचा है और तब ही ध्येय की प्राप्ति होती है । लिखा है:—ध्येयेसक्तं मनोयस्य ध्येय मेवानुपश्यति । नान्यपदार्थं जानातिध्यान मेतत्प्रकीर्त्तितम् । गरुडपुराण । जिस का मन ध्येय में ऐसा

* ऐसा नहीं कि सर्वदा एक ही वस्तु पर चित्त को रखना चाहिये किन्तु जब कोई भावना करना अथवा कोई कर्म करना तो उस समय उसी भावना अथवा कर्म में चित्त को एकाग्र किये रहना चाहिये, अन्य ओर जाने नहीं देना चाहिये ।

† इस वाक्य से यह सिद्ध होता है कि जो साधक कितना हू समय तक चित्त के एकाग्र होने में कृतकार्य्य न होने पर भी यदि अभ्यास में शिथिलता न कर उस में प्रवृत्त ही रहेगा तो कभी न कभी अवश्य कृतकार्य्य होगा ।

संलग्न हो कि केवल ध्येय ही को देखे और सिवाय उसके किसी पदार्थ कीभावना उस समय चित्त में न आवे और न जान पड़े तो ऐसी अवस्था को ध्यान कहते हैं। यथार्थ ध्यान वही है जिस में हृदय प्रेम से पूर्ण हो के स्वभावतः श्रीउपास्य की ओर प्रवृत्त होवे और लगातार उन्हीं में लगा रहे। ऐसा मन को एकाग्र अर्थात् एक समय में एक ही वस्तु में रखने का अभ्यास ध्यान काल के सिवाय अन्य कर्मों के करते समय में भी करना चाहिये अर्थात् जो काम किया जाय उसी में भली भांति मन को एकाग्र रख किया-जाय, जैसा कि अभ्यासयोग में कथित है।

ध्यान में ऐसी शक्ति है कि अंततोगत्वा ध्याता को ध्येय से युक्त कर देती है। लिखा है:—

ध्यायन्ति पुरुषं दिव्यमच्युतञ्च स्मरन्तिये
लभन्ते तेऽच्युतस्थानंश्रुतिरेषा पुरातनी ॥

पद्मपुराणान्तर्गत वैशाखमाहात्म्य।

यत्रयत्र मनोदेही धारयेत् सकलंधिया।
स्नेहात् द्वेषाभयाद्वापि यातितत्तत्स्वरूपताम्॥ २१॥
कीटः पेशस्कृतंध्यायन् कुड्यांतेन प्रवेशितः।
याति तत्साम्यतां राजन्! पुर्वरूपमसंत्यजन्॥ २२॥

श्रीमद्भागवत पुराण स्क० ११ अ० ९

जो व्यक्ति दिव्यपुरुष श्रीभगवान का ध्यान और स्मरण करते हैं वे श्रीभगवान के स्थान को प्राप्त करते हैं यह प्राचीन श्रुति है। देही जिस पर स्नेह से अथवा द्वेष से अथवा भय से अनवच्छिन्न तीव्र ध्यान योग करता है उसका २ स्वरूप हो जाता है। हे राजन्! इसका दृष्टान्त यह है कि भृङ्गी नाम वाले भ्रमर करके दीवार आदि के आश्रय से भङ्गी का घर बना कर उसमें बन्द रहने वाला एक प्रकार की कीड़ा भय से उस भृङ्गी का ध्यान करता-हुई पहिले रूप को छोड़ कर तिसही रूप से भृङ्गी के समान रूप को प्राप्त होती है।

स्थायी और यथार्थ मनका निग्रह, शुद्धि और उपशम श्रीभग-वान के चरणकमल के ध्यान द्वारा ही होता है, क्योंकि यह शक्ति

उन्हीं में है अन्य ध्येय में नहीं। अन्य ध्येय पर ध्यान करने से किंचित् काल के लिये कुछ एकाग्रता हो सकती है किन्तु यह भाव स्थायी नहीं रह सकता है और चित्त का शान्त स्वच्छ और निर्मल होना केवल श्रीभगवान के निरंतर ध्यान से सम्भव है अन्यथा नहीं। श्रीमद्भागवत पुराण का वचन है:—

ज्ञानवैराग्ययुक्तेन भक्तियोगेन योगिनः।
क्षेमाय पादमूलं मे प्रविशंत्यकुतोभयम् ॥ ४३ ॥
एतावानेव लोकेऽस्मिन्पुंसां निःश्रेयसोदयः।
तीव्रेण भक्तियोगेन मनो मय्यर्पितं स्थिरम् ॥ ४४ ॥

स्कं ३ अ० २५

इस कारण योगी पुरुष अपना कल्याण करने के निमित्त ज्ञान वैराग्य युक्त भक्ति के द्वारा मेरे निर्भय चरण की शरण लेते हैं। इस लोक में तीव्र भक्ति के द्वारा मेरे विषय अर्पण कियाहुआ मन स्थिर होजाता है, इतना होना ही पुरुषों की मोक्ष-प्राप्ति का उदय है।

श्रीभगवान के चरण का प्रेमपूर्वक ध्यान उनकी यथार्थ चरण सेवा है, क्योंकि इस ध्यान के प्रभाव से संसार का बड़ा उपकार और कल्याण होता है और ध्यान के बल से ध्याता केन्द्र बनकर अपने ध्येय श्रीभगवान के तेजपुंज को संसार में लोगोंके कल्याण के वास्ते फैलाता है अर्थात् अदृष्ट प्रकार से उक्त प्रभाव उत्तम जिज्ञासुओं के चित्तपर पड़ता है और उनको ईश्वरोन्मुख प्रेरण करता है। जिसस्थान में कोई साधक निष्काम सेवा के निमित्त श्रीभगवान के ध्यान में प्रवृत्त होगा वहां अवश्य केवल उसकी साधना के प्रभाव से सदाचार भक्ति आदि की वृद्धि आपसे आप लोगों में होगी और इससे जैसा उपकार होगा वैसा बड़े उपदेशकगणों के व्याख्यान और उपदेश से न होसकता है। अतएव यथार्थ ध्याननिष्ठ लोगों से संसार का बड़ाही उपकार होता है। संसार की सब विभूतियां श्रीभगवान के एक पाद में सन्निहित हैं और उसी चरण से शान्त और आनन्द निरन्तर निकल कर संसार को प्लावित करते हैं। विभूतियों का गीता में वर्णन करके श्रीभगवान् ने अर्जुन से कहा:—

"अथवा बहुनैतेन किंज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितोजगत्॥

४२ अ० १०

अथवा हे अर्जुन! बहुत जाननेसे क्या है, मैं इस सारे जगत् को एक अंश (पाद) से व्याप्त करके स्थित हूं। और भी श्रुति का वचन है "पादोऽस्य विश्वाभूतानि" अर्थात् श्रीभगवान् के एक चरण में यह सम्पूर्ण विश्वसंसार है। अतएव ध्यान द्वारा उस चरण की सेवा करना मानो विश्वकी सेवा करना है अर्थात् संसारमात्र को उपकार करना है।

ध्यान की भी तीन अवस्थायें हैं। प्रथम अवस्था में हृदय में श्रीउपास्यदेव के रूप पर मनको ऐसा स्थित कियाजाता है कि वह अन्यत्र नहीं जाता किन्तु यह स्थिति केवल प्रेम के बल से होसकती है और होती है अन्यथा कदापि नहीं। दूसरी अवस्था में श्री-गुरुदेव और तत्पश्चात् श्रीउपास्यदेव की मूर्ति की झलक का किसी प्रकार उसको बोध होता है जिसका वर्णन पहिले भी हो गया है। श्रीमद्भागवत पुराण का वचन है:—सकृद्यद्दर्शितंरूपमेतत्कामायते ऽनघ। मत्कामः शनकैः साधुः सर्वान्मुञ्चति हृच्छयान् २३ स्कं १ अ० ६ (श्रीभगवान ने कहा कि) हे निष्पाप नारद! मेरे स्वरूप में स्थिर प्रीति रहनेके निमित्त, मैंने यह स्वरूप तुझे एकबार दिखाया है, क्योंकि मेरे स्वरूप में प्रीति करनेवाला साधु पुरुष अपने अन्तः-करण की सकल वासनाओं को धीरे २ त्यागदेता है। किंचित् साधनामें अग्रसर होनेपर इस अवस्थामें श्रीउपास्यदेवके दिव्य तेजका प्रथम स्पर्श का उपासक को अनुभव होता है जिसमें ऐसी शान्ति और आनन्द है जिस का वर्णन होना कठिन है। जो अनुभव करता है वही जानता है, शब्दमें उसका पूरा वर्णन हो नहीं सकता है। यह विषय यहां केवल अनुमान अथवा शास्त्र प्रमाण पर ही नहीं लिखा-गया किन्तु ऐसे सत्पुरुष अब भी विद्यमान हैं जिनको इसका अनुभव है और उनके प्रत्यक्ष ज्ञानके प्रमाण पर यह लिखागया है जो ज्ञान दूसरेको भी होसकता है। इस तेजके स्पर्श से उक्त साधक ऐसा आकर्षित हो जाता है कि वह उसीमें संनिवेशित होना चाहता है। यहां से विरह का बीज प्रारम्भ होता है। वह जिस शान्ति का

आस्वादन किया उससे पृथक् रहना नहीं चाहता और पृथक् होनेमें वह विरहज्वाला से दुःखित होता है। व्रजगोपियों को यह आन्तरिक अनुभव श्रीभगवानके दर्शनस्पर्शसे होता था, क्योंकि वहां श्रीभगवान स्वयं बाह्यमें प्रगट थे और जब दर्शनाभावसे यह परम शान्ति और आनन्द का अनुभव उनका लुप्त हो जाता तो वे विरह के कारण व्याकुल होजाती थीं। यह शुद्ध आन्तरिक भाव है बाह्य-कदापि नहीं। इस अवस्था अथवा किसी उच्च अवस्था के आंतरिक अनुभव को साधक को कदापि सर्वसाधारण पर विदित नहीं करना चाहिये; क्योंकि सर्वसाधारण को विदित करने का मुख्य तात्पर्य स्वार्थकामना रहती है अर्थात् साधक अपने अनुभव को प्रकाशितकर अपनी सुख्याति' मान, और बड़ाई चाहता है अथवा अहंकार के कारण अपने को औरों से विशेष समझता है और उसकी पुष्टि के लिये अनुभव को दूसरे के कर्णगोचर करता है। चूंकि किसी प्रकार की स्वार्थ कामना इस मार्ग में बड़ी हानि करती है, जैसाकि बार २ कहाजाचुका है, इस कारण साधक के अनुभव प्रकाशित करने का परिणाम यह होता है कि ऐसा आन्तरिक अनुभव का होना एकदम बन्द हो जाता है। यह साधक के लिये तो अटल नियम है किन्तु सत्पुरुष जिनमें स्वार्थ कामना कुछ भी नहीं रहती है वे जानते हैं कि किस साधक को क्या उपदेश करना चाहिये और उनके उपदेश अथवा अन्य कार्य्यों में स्वार्थ का किंचित भी लेश नहीं रहता है और वे योग्य साधक को अनुभव का कुछ आभास दे सकते हैं। ध्यान की अवस्था में हृदय में कोई उच्च साधक अपने श्रीउपास्यदेव को अपने श्रीसद्गुरु के हृदय में देखते हैं और वे वैसाही ध्यान कियाकरते हैं अर्थात् अपने हृदय में श्रीसद्गुरु की स्थापना करते और श्रीसद्गुरुके हृदय में श्रीउपास्यदेव की स्थापना करते। श्रीउपास्यदेव पूर्णस्वच्छ और निर्मल और विशुद्ध हैं, इसकारण बड़े उन्नत साधक के हृदय भी ऐसे पवित्र नहीं हैं जो श्रीउपास्यदेव को धारण करसकें केवल श्रीसद्गुरु का हृदय ही श्रीउपास्यदेव को धारण करसकता है। अतएव उन्नत साधक भी ध्यान में श्रीउपास्यदेव की मूर्तिको श्रीसद्गुरु के हृदय में ही स्थापन कर दोनों की उसी अवस्था में अपने हृदय में ध्यान करता है। ध्यान की तृतीय अवस्था का वर्णन पीछे होगा।

बड़े भाग्य से साधक को यह चरण-सेवा करने का सौभाग्य प्राप्त होता है जिसमें श्रीलक्ष्मीजी सदा प्रवृत्त हैं। श्रीमद्भागवत-पुराण का वचन है:—

तावद्भयं द्रविणगेह सुहृन्निमित्तं शोकः स्पृहा परिभवो विपुलश्चलोभः। तावन्ममेत्यसदवग्रह आर्तिमूल यावन्न तेऽङ्घ्रिमभयम्प्रवृणीत लोकः ६

स्क० ३ अ० ६

ज्ञानवैराग्ययुक्तेन भक्तियोगेन योगिनः
क्षेमायपाद मूलन्ते प्रविशँत्य कुतो भयम् ४२

स्क० ३ अ० २५

त्वत्पादमूलं भजतः प्रियस्य त्यक्त्वा न्यभावस्य हरिः परेशः। विकर्म यच्चोत्पतितं कथंचित् धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्टः ८

स्क० ११ अ० ५

हे श्रीभगवान! जबतक प्राणी तुम्हारे चरणों का आश्रय नहीं करता है तबतक उसको द्रव्य स्थान और मित्र आदि के कारण से भय, शोक, इच्छा, तिरस्कार और अतिलोभ, यह सब सताते हैं और सकल दुःखों का मूल कारण "यह मेरा है" इस प्रकार का दुराग्रह भी होता है। ज्ञान-वैराग्य युक्त भक्तियोग से योगी लोग निर्भय होकर आपके चरण के आश्रित होते हैं और इसी से उनको कल्याण होता है। अन्य उपासना को छोड़ जो मनुष्य हृदयस्थ श्रीभगवान के चरणसेवक हैं, ऐसे प्रिय भक्तों के सब आचार और विहितकर्मों की त्रुटियों को और दोषों को श्रीभगवान नष्ट करदेते हैं।

हृदय तत्त्व

इस साधना का मुख्योद्देश्य श्रीउपास्यदेवके प्रति प्रेमका संचार करना है जिसके बिना इस साधना की पूर्ति हो नहीं

सकती । मनुष्य का शरीर पिण्ड अर्थात् छोटा ब्रह्माण्ड है और ब्रह्माण्ड के सब पदार्थों के प्रतिरूप इसमें हैं । शरीर के छः चक्र छः विशेष शक्ति और भाव के केन्द्र हैं और उन शक्ति और भाव को जागृति में उन केन्द्रों पर धारणा करना बहुत बड़ी सहायता देती है । शरीर में हृदय चक्र श्रीउपास्यदेव के निवास का स्थान है और यही प्रेमभाव का भी केन्द्र है, क्योंकि श्रीउपास्यदेव प्रेम रूप हैं और प्रेम ही में उनका वास रहता है । यह हृदय ही कारण शरीर के अभिमानी " प्राज्ञ " जो यथार्थ जीवात्मा है उसके वास का स्थान इस शरीर में है और साधना का एक प्रधान उद्देश्य यह भी है कि उस प्राज्ञ की जागृति हो और "विश्व" और "तैजस" उसके प्रतिबिम्ब अपने बिम्ब "प्राज्ञ" के साथ एकता प्राप्त करें । साधारण लोगों में प्राज्ञ की अवस्था सुषुप्ति की है और इस सुषुप्ति को हृदय से सम्बन्ध है । लिखा है;—नेत्रे जागरितं विद्यात् कण्ठे स्वप्नं समादिशेत् । सुषुप्तं हृदयस्थंतु तुरीयं तद्विलक्षणम् । (ब्रह्मोपनिषद्) । जागृत अवस्था में शरीराभिमानी का नेत्र में, स्वप्न के समय कण्ठ में, और सुषुप्ति काल हृदय में वास रहता है किन्तु तुरीयावस्था में इन से विलक्षण स्थिति रहती है । अतएव यह परमावश्यक है कि श्रीउपास्यदेव का ध्यान हृदय ही में किया जाय, इस को त्यागकर अन्यत्र भ्रूमध्य आदि में कदापि नहीं, क्यों कि यही उनके वास का और भी प्रेम का स्थान है, जैसा कि कहा जाचुका है । शरीर में हृदय ही "गोलोक" "वैकुण्ठ" "साकेत" "वृन्दावन" "चित्रकूट" "कैलास" आदि हैं जहां श्रीउपास्यदेव सदा सर्वदा वर्तमान रह कर विहारकरते हैं और जिस स्थान को कदापि नहीं त्यागते । अतएव यह हृदय एक बड़ा रहस्य का स्थान है और साधक को श्रीउपास्यदेव ही की कृपासे इस हृदय में स्थिति होती है अन्यथा नहीं । इस हृदय में अष्टदल कमल है जिसका शास्त्र में अनेक स्थान में प्रमाण है । बारह दल के कमल के हृदयचक्र का जो हठयोगके ग्रन्थ में वर्णन है वह इस हृदय से पृथक है । हठयोगी इस अष्टदल कमलवाले हृदय चक्र में न प्रवेश कर सकते और न इसे देख सकते, क्योंकि यह श्रीउपास्यदेव का वासस्थान है और यहां केवल प्रेम-भक्ति के बल सेऔर निष्काम सेवा द्वारा ही श्रीउपास्यदेव की कृपा प्राप्त करने पर केवल उच्च उपासक पहुंच सकता है अन्य नहीं । अतएव जो भ्रूमध्य को हृदय से श्रेष्ठ समझ भ्रूमध्य

ही में धारणा ध्यान करते हैं, हृदय का निरादर करते हैं, वे अवश्य भूल करते हैं। भ्रूमध्य में धारणा करने से वहां प्रकाश का देखना और उस प्रकाश में अनेक मूर्तियों का देखना आदि अनेक आंतरिक अनुभव आदि शीघ्र प्राप्त होसकते हैं किन्तु उक्त प्रकाश भुवर्लोक का है जो लोक इस भूलोक की अपेक्षा माया से अधिक आच्छन्न है और तमोगुणी रजोगुणी देव देवियों से परिपूर्ण है, अतएव उक्त लोक और उसके निवासियों से सम्बन्ध होनेपर साधक की पारमार्थिक हानि होना पूरा सम्भव है और उसके द्वारा किंचित् भी पारमार्थिक लाभ हो नहीं सकता है। साधक को प्रारम्भमें भ्रूमध्यमें धारणा करना प्रायः बड़ा हानिकर हो सकता है। यह निश्चित है कि श्रीभगवान को प्राप्ति का मार्ग हृदयमें धारणा ध्यान द्वारा है, अन्य नहीं। जब कभी श्रीउपास्य-देव के यथार्थ दर्शन-स्पर्श होंगे वे हृदय ही में होंगे और ऐसा ही होते हैं और यही यथार्थ है। दर्शन-स्पर्श इसलिए लिखागया कि जब दर्शन होते हैं तो उसके साथ २ श्रीउपास्देव का तेज पुंज उस उच्च साधक के हृदय में प्रवेश करता है जिसका उसको स्पष्ट रूप से स्पर्शकी भांति प्रत्यक्ष अनुभव होता है और वह शान्ति और आनन्द बोध करता है, जैसाकि पहिले भी कहा जाचुका है। अतएव उपासक को हृदय ही में धारणा ध्यान करना चाहिए, अन्यत्र नहीं और यदि वह अन्यत्र करेगा तो बड़ी कठिनाई आनपड़ेगी और बिना हृदय का आश्रय लिए उसको श्रीउपास्यदेव का आंतरिक यथार्थ अनुभव न होगा। यह हृदय स्थान आनुमानिक कदापि नहीं है, यथार्थ है, किन्तु इसका यथार्थ स्थान स्थूल शरीर में नहीं है, सूक्ष्म शरीर में है, और स्थूल शरीर में केवल इसका प्रतिरूप गोलक है। स्थूल शरीर में जो धूकधूकी का स्थान है और जहां सदासर्वदा स्पंदन होता रहता है वह यथार्थ हृदय नहीं है और न वह स्थान इस शरीर में हृदय की समानता में है। उस धूकधूकी के स्थान पर कदापि धरणा ध्यान नहीं करना चाहिये और वहां करने से उस धूकधूकी का वेग बढ़ जायगा और उस कारण हानि होगी। उपासक जब साधना के मार्ग में अग्रसर होता है तो उसको अपने श्रीउपास्यदेव की पराशक्ति की कृपा से उन के प्रकाश की प्राप्ति होती है और तब उसको हृदय गुहा उक्त प्रकाश की जागृति और प्रादुर्भाव द्वारा प्रकाशित होती है और तब

उसको यथार्थ हृदय चक्र देख पड़ता है। ऐसी दृष्टि होने के पहिले साधक को वक्षःस्थल और उदर के बीच में जो गोलक है उसके भीतर हृदय को मान कर धारणा ध्यान करना चाहिये किन्तु स्मरण रहे कि चित्त स्थूल शरीर के मांसमय स्थान में नहीं रक्खाजाय किन्तु अंतर में हृदयाकाश का होना चिन्ता करके उस में धारणा की जाय। उस गोलक के भीतर हृदयाकाश में हृदय गुहा चिन्तनकर धारणा की जाय किन्तु स्थूल शरीर के मांसमय हृदय की भावना उसमें एकदम न रहे। अष्टदल कमल साधारण रीति में उलटा अर्थात् नाल ऊपर और दल नीचे कर के रहता है किन्तु साधना द्वारा उस उलटेको सीधा करना पड़ता है जिस में कि मूल नीचे और दल ऊपर हो। यदि श्रीउपास्यदेव को हृदय कमल में स्थितमान ध्यान कियाजाय तो कमल का आकार सीधा समझकर करना चाहिये अर्थात् दल ऊपर और नालनीचे।

हृदय का अर्थ ही है कि "हृदिअयं हृदयं" अर्थात् श्रीउपास्य-देव हृत्स्थान में वासकरते हैं अतएव उसकी हृदय संज्ञा हुई। लिखा है:—

सवा एष आत्मा हृदितस्यैतदेव निरुक्तं हृदयमिति

तस्मात्हृदयमहरहर्वा एवं वित्स्वर्गं लोकमेति ।३।

छान्दोग्योपनिषत् । प्रपाठक ८ खंड ३॥

निश्चय से यह परमात्मा हृदय में है, उसका यही निरुक्त है। हृदय में यह आत्मा है इस हेतु हृदयम् यह नाम है। ऐसा जाननेवाला (हृदय में पहुंचनेवाला) ब्रह्म को प्राप्त करता है। शास्त्र में सर्वत्र प्रमाण है कि श्रीउपास्यदेव का स्थान हृदय है और श्रीभगवान भक्तों को हृदय ही में दर्शन देते हैं। कुछ प्रमाण दिए जाते हैं:—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।

भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥ ६१ ॥

गीता अ० १८

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य नचचुषा पश्यति कश्च नैनम्। हृदा हृदिस्थं मनसायएनमेवं विदुरमृतास्ते भवन्ति॥ २०॥

श्वेताश्वेतरोपनिषत् अ० ४

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदाजनानां हृदये-संनिविष्टः॥ १७॥

कठोपनिषत् ६

तस्मिन्नन्तर्हृदये यथा व्रीहिर्वायवोसएष सर्वस्ये-शानः सर्वस्याधिपतिः सर्वमिदं प्रशास्ति यदिदंकिंच।

बृहदारण्यकोपनिषत् १५-६-१

हे अर्जुन! श्रीभगवान अपनी माया करके देहाभिमानी प्राणियों को अपने अपने कर्मों में नियुक्त करता हुआ संपूर्ण भूतों के हृदय में निवास करते हैं। उस परमात्मा का रूप नेत्र से न देखा जाता किन्तु शुद्ध मन से उस हृदयस्थ को शुद्धहृदय में पाकर अमर हो जाता है। अंगुष्ठ समान अन्तरात्मा पुरुष सदा लोगों के हृदय में संनिवेशित रहता है। उस हृदय के बीच में अति सूक्ष्म ब्रह्म व्याप्त है, वह ब्रह्म सबों का ईश, सर्वाधिपति है और जो कुछ है सब का शासन वही कर रहा है।

श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीभगवान ने हृदय में ईश्वर के रहने की बात कह अर्जुन को उसी हृदयस्थ ईश्वर की शरण में जाने का उपदेश दिया जिससे प्रगट है कि हृदय ही श्रीभगवान की उपासना और प्राप्ति का यथार्थ स्थान है। श्रीमद्भागवतपुराण में भी यही उपदेश है। जैसा कि लिखा है—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।

तत्प्रसादात्परां शान्तिंस्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ६२

गीता अ० १८

अथतं सर्व भूतानां हृत्पद्मेषु कृतालयं ।
श्रुतानुभावं शरणं व्रज भावेन भामिनि ११

भागवत–स्क ३ अ० ३२

हे भारत! सब प्रकार से उस (हृदस्थ) परमेश्वर की शरण में तू जा और उस के प्रसाद से परम शान्ति और नित्यस्थान को पावेगा। (श्री कपिल भगवान अपनी माता से कहते हैं) कि हे मातः! सकल भूतों के हृदयकमल में जिन्हों ने वास किया है, जिनका पराक्रम तूने मुझ से सुना है तिन श्रीभगवान की शरण में तू प्रेमके साथ जा। शास्त्रके प्रमाण से और भी आजकल के सत्-पुरुषों के प्रत्यक्ष अनुभव से यही सिद्ध है कि श्रीउपास्यदेव के दर्शन हृदय ही में होते हैं अन्यत्र नहीं और वही यथार्थ दर्शन है। श्रीमद्भागवत् पुराण में लिखा है:—

ध्यायत श्चरणाम्भोजं भाव निर्जित चेतसा।
औत्कण्ठ्या स्रुकलादास्य हृद्याऽऽसीन्मेशनै र्हदिः १७

स्क० १ अ० ६

कालेन सोऽजः पुरुषायुषाऽभि प्रवृत्त योगेन विरूढ़ बोधः। स्वयं तदन्त र्हदयेऽव भातमपश्यता पश्यत यन्न पूर्वम् २२।

स्क० ३ अ० ८

भक्ति पूर्वक स्वाधीन चित्त से चरणकमलों काध्यान करनेवाले और उत्सुकता से जिसके नेत्रों में आनन्द के अश्रु भरआये हैं ऐसे महर्षि (नारद के) हृदय में श्रीभगवान धीरे २ प्रकट होनेलगे। तद्-दन्तर सौवर्ष पर्यन्त समय बीत जाने पर परिपक दशा को प्राप्त हुए समाधि से तिन ब्रह्मा जी को ज्ञान प्राप्त हुआ तब उन्हों ने पहिले जिसको खोजते हुए भी नहीं पाया था उन श्रीभगवान का स्वरूप अपने हृदय में स्वयं प्रकट हुआ देखा।

जीवात्मा के नियामक और पति हृदयस्थ ही श्रीभगवान हैं और इनदोनों में ऐसा घनिष्ठ सम्बन्ध है और दोनों एक दूसरे से ऐसे प्रेम सूत्र से आबद्ध हैं कि वे कदापि पृथक् नहीं होसकते। श्रुतिने

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते" इस श्वेताश्वतरोपनिषत् के वचन में इसी हृदस्थ ईश्वर और जीवात्मा को दो पक्षि की भांति वर्णन किया है जो एक ही वृक्ष पर बैठे हुए आपस में सखा हैं। यथार्थ में इन दोनों का सखा से भी अधिकतर निकटस्थ और घनिष्ठ स्वरूप और प्रेम का सम्बन्ध है। किन्तु शोक है कि अनेक लोग यह नहीं जानते और जानकर भी विश्वास नहीं करते कि श्रीभगवान हृदय में बैठे हुए हैं और यदि बुद्धि द्वारा विश्वास भी करते तो व्यवहार में इसका ध्यान नहीं रखते। यदि कोई भी यह दृढ़ विश्वास रखेगा कि श्रीभगवान हृदय में अवश्य विराजमान् हैं तो वह उनके हृदयमें रहते कदापि कोई कुत्सित कर्म कर नहीं सकता है। जब कि कोई साधारण लोग के समक्ष भी कुत्सित कर्म करना नहीं चाहता तो श्रीभगवान के अत्यन्त समीप रहते और उनके समक्ष कैसे कोई कुत्सित कर्म करेगा। अनेक लोग हृदयस्थ श्रीभगवान पर विश्वास न कर श्रीभगवान के दर्शन बाह्य में पाने के लिये यत्न करते हैं जिस में प्रायः सफल मनोरथ न होते और पीछे अविश्वास भी करने लगते। प्रथम तो केवल दर्शन के लिये उत्सुक रहना ठीक नहीं है। साधक को तो केवल सेवा करने की कामना रखनी चाहिये अन्य कुछ नहीं। साधक का कर्तव्य है कि वह अपने हृदय को जहां श्रीभगवान का वासस्थान है विशुद्ध, निर्मल और पवित्र करे, मन को शान्त करे, स्वार्थ, काम, क्रोधादि का नाश करे और केवल श्रीउपास्यदेव की सेवा करने की वाञ्छा रक्खे। ऐसा होने पर हृदय-गुहा प्रकाशित हो जायगी और तभी श्रीउपास्ययदेव के दर्शन होंगे। केवल स्थान २ में और जंगल पहाड़ आदि में भ्रमण करने से दर्शन कदापि नहीं होंगे।

श्रीउपास्यदेव का हृदय में प्रेम पूर्वक और उपयुक्त रीति और भाव से ध्यान करते २ जब मन एकाग्र, शान्त और शुद्ध हो जाता है, प्रेम की उत्पत्ति होती है और ध्यान ऐसा परिपक्व होजाता है कि ध्येय को छोड़ चित्त अन्य किसी ओर स्वाभाविक नहीं जाता, तो ऐसा होते २ एक मूर्ति श्रीउपास्यदेवका अदृश्य लोकमें बनजाती है—कर्म के प्रकरण में कहाजाचुका है कि मानसिक भावना से मानसिक लोक में मानसिक चित्र बनजाता है—और श्रीउपास्य-देव उस भक्त के उपकार के लिये उस मूर्ति को अपनी शक्ति से

शक्तिमान करदेते हैं जो शक्ति वहां से भक्त में आती है और इस प्रकार वह मूर्ति श्रीउपास्यदेव और उपासक के बीच मध्यवर्ती केन्द्र हो कर दोनों में सम्बन्ध स्थापना करती है ।

श्रीमद्भागवत पुराण में लिखा है:—

त्वं भावयोगपरिभावित हृत्सरोज आस्से श्रुतेक्षितपथो ननुनाथपुंसां । यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयंति तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय ॥ ११ ॥

स्कं० ३ अ० ९

हे श्रीभगवान ! श्रवण के द्वारा जिनका मार्ग देखा है ऐसे तुम, भक्तपुरुषों के भक्ति से शुद्ध हुए हृदय कमल में, निःसंदेह निवास करते हो । हे उत्तम कीर्तियुक्त ! वे तुम्हारे भक्त अपने मनमें तुम्हारा जैसा २ स्वरूप चिन्तन करते हैं उस उसही स्वरूप को तुम भक्तों पर अनुग्रह करने के निमित्त प्रकट करते हो । इस साधन की प्रारम्भिक अवस्था में ऐसे मध्यवर्ती केन्द्र का होना आवश्यक है, क्योंकि श्रीउपास्यदेव ऐसे पवित्र हैं और हमलोग ऐसे अपवित्र हैं कि दोनों में एकदम सीधा सम्बन्ध होने से श्री० भगवान से आए साधे तेज को हमलोग सह्य नहीं कर सकेंगे और तब उससे हानि होगी, अतएव मध्यवर्ती केन्द्र की आवश्यकता होती है जिसके द्वारा आने से तेज सह्य हो सकता है । कोई २ साधक इस मानसिक मूर्ति को भी किसी अवस्था में देखते हैं । साधना में अग्रसर होने पर साक्षात् सम्बन्ध हो जाता है और तब मध्यवर्ती केन्द्र की आवश्यकता नहीं रहती है । चूंकि इस अवस्था में ध्यान के लिये हृदय में ही धारणाकरना आवश्यक है अन्यत्र नहीं जिसको सबकोई नहीं मानते, अनेकलोग भ्रूमध्य की धारणा को हृदय की धारणा से श्रेष्ठ समझते हैं:—इसी कारण इस प्रसंग में हृदय के रहस्य का वर्णन करना आवश्यक हुआ ।

ध्यानद्वारा दोष नाश ।

अब ध्यान के अवशेष विषय की चर्चा की जाती है । कईबार कहा जाचुका है कि मानसिक भावनाका प्रभाव बहुत बड़ा है और वह भी मनकी एकाग्रता शक्ति की प्राप्ति होने पर और भी

विशेष होजाता है और यदि मन श्रीभगवान की सेवा में नियुक्त कियाजाय तो उसके प्रभाव और शक्ति और भी अधिक बढ़जाती है। अतएव इस अवस्था में साधक अपने अवशेष दोषों के दमन के लिये ध्यानयोग की सहायता लेता है अर्थात् ध्यान द्वारा उनको नाश करना चाहता है। अवशेष दुर्गुणों के दमन करने का बार २ उल्लेख करनेका तात्पर्य्य यही है कि दुर्गुणोंका पूरा २ दमन होना बड़ा कठिन है और बिना इनको दमन किए साधक श्रीभगवान का यथार्थ सेवक हो नहीं सकता है जो इस मार्ग का मुख्योद्देश्य है। अतएव प्रारम्भिक अवस्था में दूसरा भाग ध्यान का दोषोंका नाश करना और आचरण को पूर्ण शुद्ध करना है जिस के निमित्त पूजा के दूसरे अवशेष भाग में साधक को अपने अवशेष अवगुणों की पूरी २ खोज करनी चाहिये। कौन २ दोष उसमें अवशेष रहगये हैं इसका अनुसन्धान करके, एक २ दोष को पृथक् २ लेके, उससे क्या हानि होती है, उसके त्याग से क्या लाभ होगा, वह दोष अबतक क्यों है, कैसे दूर होगा, इन सब बातों का विचार करना चाहिये और अंत में दोषों के त्याग करने का दृढ़ निश्चय करना चाहिये। इस मार्ग में केवल कर्म्म ही नहीं देखा जाता किन्तु वासना मुख्य समझी जाती। यदि कोई आचरण द्वारा किसी निन्दित कर्म्म को नहीं करता है किन्तु उसकी वासना उस के भीतर बनी है तो वह कलुषित ही समझा जायेगा। इस मार्गमें हृदय की शुद्धि को ही शुद्धि कहते हैं, जो हृदय कुत्सित वासना से बड़ाही कलुषित होता है। इस वासना का ठीक २ ज्ञान होना बड़ा कठिन है,क्योंकि प्रथम तो यह वासना पूर्वजन्म के संस्कार के कारण आती हैं और इनमें कितनी भीतर में ऐसी छिपी रहती हैं कि उनकी स्थिती जान नहीं पड़ती। लोग समझते हैं कि अमुक दोष उनमें नहीं है और अन्दर में उसकी वासना का भी पता नहीं लगता किन्तु कालान्तर में कुसंसर्ग के कारण छिपी हुई वासना उभड़ जाती है और अपने अनुकूल कर्म्म करने में बाध्य करती है। ऐसी छिपीहुई वासना बड़े भयावह होती है। साधक को इनसे छुटकारा इस प्रकार होता है कि स्वप्न में उक्त दोष उस छिपीहुई वासना के कारण प्रगट होजाता है और वहां वह अपने को उक्त दोषमें नियुक्त पाता है। जब स्वप्न में ऐसी घटना हो

तो समझना चाहिये कि उसके भीतर एक दोष की छिपी हुई वासना वर्त्तमान है जिसके समूल नष्ट करने का उसको यत्न करना चाहिये। जैसा कि कोई साधक ऐसा समझे कि असत्य भाषण का स्वभाव उसमें है, तो उसको ऐसा विचारना चाहिये कि असत्य से यदि कोई सांसारिक लाभ होता है तो वह लाभ नाशवान होने के कारण तुच्छ है और असत्य से जो हानि होती है वह बहुत बड़ी है; क्योंकि सृष्टि के सम्पूर्ण पदार्थ सत्य पर निर्भर हैं, जैसे आम के बीजको रोपने से आम ही का वृक्ष उत्पन्न होता है अन्य नहीं, जल सदा स्वाभाविक शीतल ही रहता है, अग्नि कभी ठंढी नहीं होती, ऋतु अपने समय पर आती हैं, सूर्य्य चन्द्र ठीक समय पर उदय अस्त होते, अतएव असत्य का अभ्यास करना मानो सृष्टि के नियम के विरुद्ध चलना है जो अवनति का परम कारण है। ईश्वर सत्य रूप हैं, अतएव असत्य का अभ्यास ईश्वर के विरुद्ध कर्म है।* ऐसा विचार कर के उसको असत्य का अभ्यास को छोड़ने की और सत्य का ही अभ्यास रखने की दृढ़ प्रतिज्ञा करनी चाहिये। ऐसे ही अन्य अवगुणों पर दृष्टि करके और उनके दोषों का विचार करके उनके त्यागने का दृढ़ निश्चय करना चाहिये। साधक को प्रायः एक समय में मनन ध्यान द्वारा केवल एक ही दोषों के त्यागने में विशेष यत्नवान होना चाहिये जिसमें कृतकार्य्य होने पर फिर अन्य दोषों की ओर एक २ करके ध्यान देना चाहिये। श्रीमद्भगद्गीता अध्याय १६ प्रथम श्लोक से लेके तृतीय तक में जो दैवीसम्पद के गुणोंका वर्णन है उनका एक २ करके चिंतन मनन और ध्यान करना चाहिये जिसमें उनकी प्राप्ति हो और उनके विरुद्ध आसुरीसम्पद् का अभाव हो। तत्पश्चात् श्रीउपास्यदेव के स्तोत्र का पाठ करना चाहिये और भक्ति विषयक पुस्तकों का पारायण अर्थात् पाठ करना चाहिये और उनके तात्पर्य्यों को अच्छीतरह मन में संचित करना चाहिये। पूजाकाल के चित्त के भाव को सदा सर्वदा बनाये रखने का यत्न करना चाहिये अर्थात् जो काम करना चाहिये उस को निःस्वार्थभाव से ईश्वर का काम समझ करना चाहिये और शांत, स्थिर और एकाग्रचित्त हो के करना चाहिये। अवगुणों के त्याग की और सद्गुणों के अभ्यास की जो प्रतिज्ञा

---

* देखो धर्म पृष्ठ २०।

पूजाकाल में की गई उस को व्यवहार काल में सदा स्मरण रखना चाहिये और उसी के अनुसार कार्य्य करने की चेष्टा करनी चाहिये, क्योंकि सद्गुणों का केवल चिन्तन करना यथेष्ट नहीं है, उन का चिंतन और उन का व्यवहार में अभ्यास करने की चेष्टा, इन दोनों से, उन सद्गुणों की प्राप्ति होती है। प्रारम्भ में किंचित् काल तक पूजा काल के निश्चय को व्यवहार में स्मरण रखना कुछ कठिन बूझ पड़ेगा जिस के निमित्त विशेष चेष्टा करनी पड़ेगी किन्तु कुछ काल तक चेष्टा करने के बाद स्वाभाविक हो जायगा और तब स्वतः स्मरण रहेगा। इस अवस्था में ध्यान द्वारा विशेषकर अवगुणों की वासना नष्ट की जाती है, क्योंकि उनकी वासनाही दुष्कर्म का कारण है, अतएव बिना दुष्टवासना को नष्ट किये हृदय शुद्ध हो नहीं सकता और अपवित्र हृदय श्रीभगवान के प्रकाश को तिमिराच्छन्न कीभांति आच्छादित किये रहता है जिसके कारण श्रीभगवान अत्यन्त समीप रहनेपर भी अत्यन्त दूर होजाते हैं। अतएव ध्यान को सहायता इसमें लेनीचाहिये। श्रीमद्भागवत का वचन है:—

कांश्चिन्ममानुध्यानेन नामसंकीर्तनादिभिः।
योगेश्वरानुवृत्या वा हन्यादशुभदान् शनैः॥ ४०॥
स्कं० ११ अ० २६

प्राणायामैर्दहेद्दोषान्धारणाभिश्च किल्विषान्।
प्रत्याहारेण संसर्गान् ध्यानेनानीश्वरान् गुणान्॥ ११॥
स्कं० ३ अ० २६

कोई कामदि दोषों का नाश, मुझ श्रीभगवान के निरंतर ध्यान, नामसङ्कीर्तन आदि द्वारा करे और दम्भ, मान आदि अमङ्गलकारी शत्रुओं का योगेश्वर सद्गुरु सत्पुरुष की सेवा करके नाश करे। प्राणायाम से वात कफ आदिदोषों को शान्तकरे, धारणा से पापों को नष्टकरे, प्रत्याहार से विषयों का सम्बन्ध और आसक्तिआदि छोड़े और ध्यान से राग, लोभ आदि दुष्ट वासनाओं को नष्ट करे।

अर्चन ।

जब श्रीउपास्यदेव के निःस्वार्थ भाव से सतत चिंतन, स्मरण और ध्यानरूपी सेवा की परिमार्जना से साधक के हृदय-सरोवर की मलीन और कुत्सित वासना रूपी झाड़ और विक्षेप अहंकार आदि रूपी सेवार दूर होते, तभी भक्ति-पद्म का बीज जो उसमें निहित है वह श्रद्धा और स्नेह रूपी स्वच्छ जल के स्पर्श से अंकुरित और परिवर्द्धित होकर उसमें प्रेम-कुसुम प्रस्फुटित होता है और जब श्रीउपास्यदेव रूपी सूर्य्य की तेजपुंज रूपी निर्मल किरण उस-पर पड़ती है तभी वह कुसुम विकसित होता है और तबसे वह अपनेको अपने प्रियतम श्रीसूर्य्यभगवान रूपी श्रीउपास्यदेव पर न्योछावर करता है। यह हृदय सरोवर का प्रेम-पद्म-पुष्प केवल श्रीसूर्य्यभगवान की निर्मल किरण (श्रीउपास्यदेव के तेजपुंज) के स्पर्श से ही, यद्यपि वे स्वतः बहुत ही दूर क्यों न हों, प्रफुल्लित होता है और उसके अन्तर्हित (अभाव) होने पर विरह से मुरझा जाता है (व्याकुल हो जाता है) जो मुरझाना फिर केवल श्री-सूर्य्यभगवान (श्रीउपास्यदेव) की किरण (तेजपुंज) के स्पर्श से ही छूट सकता है, अन्य प्रकार से कदापि नहीं।

श्रीउपास्यदेव रूपी सूर्य्य की तेजपुंज रूपी किरण, यद्यपि तीक्ष्ण और जाज्वल्यमान (अज्ञानरूपी तिमिर को नाश करनेवाली) है, क्योंकि जैसे पद्मपुष्प के बाह्यभाग का रंग सूर्य्य की किरण के कारण किंचित फीका पड़ जाता है, उसी प्रकार श्रीउपास्यदेव का तेजपुंज साधक की गुप्त अथवा प्रगट बाह्य आसक्तियों में ताप देकर और मुरझाकर उनको शुद्ध करता है और उसकी पूर्ति में बाह्य दृष्टि से साधक प्रायः बड़े कष्ट में पड़ जाता है, तथापि इस प्रेम-कुसुम का बाह्यभाग तापित होने (अर्थात् कष्ट पाने) पर भी गुणमयी विषयरूपी चन्द्रमा की शीतल किरण (विषयसुख) को कदापि नहीं चाहता, किन्तु उसके आनेपर उसको तिरस्कार ही करता अर्थात् मुकुलित (अन्तर्वृत्ति) होकर उससे आन्तरिक सम्बन्ध नहीं होने देता, यद्यपि बाह्य सम्बन्ध रहता है। फिर भी यह हृदय-कुसुम

श्रीउपास्यदेवरूपी सूर्य्य के तेजपुंज के स्पर्श से ही खिलता है, अन्यथा कदापि नहीं। अर्चन की अवस्था ऊपर कथित अवस्था के बहुत अंश में समान है। अर्चन की अवस्था में साधक को केवल अपने प्रियतम श्रीउपास्यदेव की तुष्टि के निमित्त ही सब प्रकार का त्याग करना मुख्य होता है और उसके विशुद्ध प्रेम के अमूल्य रत्न श्रीउपास्यदेव अब उसके हृदयेश्वर बन जाते हैं। उसकी अवस्था ऐसी होती है कि जगत में जितने उत्तम और पवित्र पदार्थ हैं उनको वह अपने प्राणेश्वर को ही अर्पण करता जिसके किये बिना उसकी शान्ति नहीं होती। ऐसा प्रेमी अपने प्रेम के आवेग से प्रेरित होकर जो कुछ उसको यथार्थ में प्रिय और परमोत्तम बोध होता है उसको अपने स्वयं न भोग कर अपने प्रियतम श्रीइष्टदेव को समर्पण करता है। ऐसा पदार्थ अथवा सेवा जिसके आदि, मध्य और अन्त, तीनों सुखप्रद और विकाररहित हैं वह अपने श्रीइष्टदेव को समर्पित करता है, अन्य नहीं। इस अवस्था में श्रीउपास्यदेव साधक के परम प्रियतम हृदयरत्न हो जाते हैं जिनकी झलक उसको मिल चुकी है और उनके तेजःपुंज के स्पर्श के आनन्द का रस वह अनुभव कर चुका है, अतएव उसकी दृष्टि में वे सोते, खाते, हंसते, बोलते, सुगंध लेते आदि कार्य करनेवाले हैं और ऐसा जानकर वह उनकी परिचर्य्या में प्रवृत्त होता है और इस प्रकार उसका चित्त दिनरात बिना विराम हृदयेश्वर की ओर लगा रहता है, अन्य ओर नहीं। यह उच्च अर्चन अष्टयाम (आठो पहर) चलता है। प्रेमी-साधक श्रीउपास्यदेव की सेवा के निमित्त प्रातःकाल में बहुत सबेरे उठता है और स्नानादि नित्यक्रिया समाप्त कर प्रातःकाल रहते ही अपने प्राणप्रिय श्रीउपास्यदेव की परिचर्य्या में प्रवृत्त होता है। यह अर्चन स्थूल अथवा मानसिक दोनों रूप में होता है। इस अर्चन का यथार्थ स्थान हृदय-मंदिर है और इसमें मुख्य सामग्री प्रेम-पुष्प है अर्थात् यह सबप्रकार से हृदय का कार्य्य है और बाह्य स्थूल क्रिया केवल उसका अनुकरण मात्र उसमें सहायता और दृढ़ता देने के लिये है। सेवा और त्याग द्वारा श्रीउपास्यदेव की तुष्टि इसमें मुख्य है। इसकी भी तीन अवस्था है।" अधिभूत परिचर्य्या यों है। स्नान शौचादि जैसे साधक सबके लिये आवश्यक समझता है उसो

प्रकार अपने श्रीइष्टदेव को बाह्य अथवा मानसिक प्रतिमा के स्नान शौचादि कराने में भी भक्ति भाव से प्रवृत्त होता है। फिर वस्त्र अर्पण करता है, सुगंध चन्दन से उनके कोमल अंगों को चर्चित करता है, फिर वह पत्र जो उसके श्रीउपास्यदेव के प्रिय हैं अर्पण करता है, तत्पश्चात् उत्तम गन्धयुक्त मनोहर पुष्प को समर्पण करता है, फिर उत्तम गन्ध भेंट करता है, और भी उत्तम और पवित्र सुस्वादु नैवेद्य का उपहार देता है और अंत में वाद्य के साथ सुवासित आरती करके अर्घ आचमनीय अर्पण करता है। इस अवस्था में साकार अथवा रूपोपासना आवश्यक होनेपर साधक को स्वयं ऐसी अर्चना में प्रवृत्ति होती है जिसके करने से ही उसको यह प्रसन्नता होती है कि उसने अपने प्रियतम की किसी प्रकार कुछ सेवा की, यद्यपि वह परम तुच्छ क्यों न हो। इस अवस्था में परिचर्य्याधर्म निःस्वार्थ प्रेम के आवेग से किया जाता है, अन्य किसी स्वार्थ सम्बन्धी भाव से नहीं। ऐसा प्रेमी साधक अपने प्राणप्रिय प्रियतम की तुष्टि के कार्य्य में बिना प्रवृत हुए रह नहीं सकता है। संसार के किसी उत्तम और मनोहर पदार्थ के मिलने पर उसकी केवल भावना अपने प्रियतम के प्रति जायगी और वह उस पदार्थ को उसे अर्पणकरने ही पर निश्चिन्त होगा, अन्यथा नहीं। उत्तम पुष्प, उत्तम गन्ध, उत्तम भोज्य पदार्थ, उत्तमवस्त्र मिलने ही पर उसको स्वभावतः अपने श्रीउपास्य देव की भावना आवेगी और वह उन्हीं को अर्पण करेगा। इस अवस्था में परिचर्य्या के सिवा अन्यकाल में भी प्रेमी का चित्त सर्वदा अपने हृदयेश्वर में संलग्न रहता है। इस अवस्था में प्राप्त भक्त राजा अम्बरीष के विषय में श्रीमद्भागवत पुराण में यों लिखा है:—

स वै मनः कृष्णपदारविंदयो
र्वचांसि वैकुण्ठगुणानुवर्णने ।
करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु
श्रुतिं चकाराच्युतसत्कथोदये १८

मुकुन्दलिंगालयदर्शने दृशौ
तद्भृत्यगात्रस्पर्शेऽङ्गसङ्गमू ।
घ्राणं च तत्पादसरोजसौरभे
श्रीमत्तुलस्या रसनां तदर्पिते १०
पादौ हरेः क्षेत्रपदानुसर्पणे
शिरो हृषीकेशपदाभिवन्दने ।
कामंच दास्येन तु कमकाम्यया
यथोत्तमश्लोकजनाश्रया रतिः २०
एवं सदा कर्म कलापमात्मनः
परेऽधियज्ञे भगवत्यधोऽक्षजे ।
सर्वात्मभावं विदधन्महीमिमां
तन्निष्ठ विप्राभिहितः शशास ह २१

स्कः ९ अ० ४

उस राजा (अम्बरीष) ने अपना मन श्रीभगवान के चरण-कमलों के ध्यान में एकाग्र कररखाथा; उसने अपना भाषण श्रीभगवान के गुणों के वर्णन में लगायाथा, उसने अपने हाथ को श्रीभगवान के मन्दिर को स्वच्छ करने आदि के उद्योग में लगा-याथा, उसने अपने कान को संसार दुःखको दूर करनेवाली श्रीभग-वान की कथाओं के सुनने में लगायाथा १८ उसने अपनी दृष्टि को मुक्तिदाता श्रीभगवान की मूर्तियों और स्थानों के देखने में लगायाथा; उसने अपनी त्वचा इन्द्रिय (शरीर का चर्म्म) श्रीभगवान के भक्तों के अंग के स्पर्श करने में लगाईथी; उसने अपनी जिह्वाइन्द्रिय को श्रीभगवान को निवेदित कियेहुए नैवेद्य अन्न आदि के रस के ग्रहण करने में लगाईथी, उसने अपने चरणों को श्रीभगवान के जो मथुरा वृन्दावन आदि क्षेत्र तथा अन्य भी जो ऐसे स्थान हैं उनकी वारवार यात्रा करने में लगायेथे; उसने अपना

मस्तक हृषीकेश श्रीभगवान के चरणों की वन्दना करने में लगाया-था; उसने अपने अपनी माला चन्दन आदि विषयों का सेवन करना भी दासभाव के निमित्त से श्रीभगवान के प्रसाद लेने के विषय में "जैसे श्रीभगवद्भक्तों का आश्रय करनेवाली प्रीति होय" तैसे चलाया था, कदापि विषयभोग की इच्छा से नहीं २० इस प्रकार उस अम्बरीष ने प्रतिदिन अपने सब कर्म, यज्ञपति श्रीभगवान को अर्पण करके, सर्वत्र आत्मा ही है ऐसी भावना करताहुआ भगवत्परायण श्रीवसिष्ठ आदि महर्षियों के आदेशानुसार इस पृथ्वी की रक्षा की २१

इस अवस्था का साधक सामर्थ्य रहनेपर अपने सामर्थ्या-नुसार अपने प्रियतम के निमित्त मन्दिर, धर्मशाला, चिकित्सा-लय, विद्यालय, तड़ाग, कूप, कुष्ठ्याश्रम, अनाथालय, अन्नक्षेत्र आदि बनावेगा, दरिद्र और असहाय को अन्न वस्त्र देगा, रोगी की परिचर्य्या और चिकित्सा का प्रबन्ध करेगा, दीन दुःखियों के अभाव को पूर्ण करेगा, अनाथ का भरण-पोषण करेगा इत्यादि। किन्तु ये सब काम न्यायार्जित द्रव्य से करेगा, अन्य प्रकार से कदापि नहीं। अधर्मोपार्जित द्रव्य श्रीभगवान के निमित्त किसी प्रकार व्यवहार करने से व्यर्थ होजाता है और उसके द्वारा की हुई कोई परिचर्य्या अथवा सेवा कदापि स्वीकृति नहीं होती है। पद्मपुराण के पातालखण्ड का वचन है:—

चौर्य्येणाप्यर्जितैर्द्रव्यैः पूजया न हितं भवेत् ।
न चान्यायार्जितै विप्र ! शम्भोः पूजा शुभप्रदा ॥५०॥

५० अ० ३२ ।

हे प्रिय ! चोरी अथवा अन्याय से प्राप्त द्रव्य द्वारा श्रीशिवजी की पूजा करने से वह पूजा शुभप्रद नहीं होती। और भी श्री-मद्भागवत पुराण में लिखा है:—

अयं स्वस्त्ययनः पंथा द्विजातेर्गृहमेधिनः ।
यच्छ्रद्धयाप्तवित्तेन शुक्लेनेज्येत पूरुषम् ॥ ३७ ॥

स्कं० १० अ० ८४

गृहस्थ स्त्रियों का यही कल्याणकारी पन्थ है कि शुद्ध वृत्ति से उपार्जित धन से नारायण का यज्ञ करे।

ऐसा साधक अपने श्रीउपास्यदेव के निमित्त धर्म के प्रचार का कार्य्य भी करता है अर्थात् धर्मविमुख को धर्म के मार्गपर लाने का यत्न करता है, विपत्तिग्रस्त को आवश्यक सहायता देकर सहायता करता है और भी ज्ञान प्रचार कर लोगों को सन्मार्ग में दृढ़ करता है, सदाचार, ज्ञान और भक्तिके प्रचार में यत्न करता है। ये सब परोपकारी कार्य्य कर्मयोग अथवा अन्य भाव से भी किये जाते हैं किन्तु यहां इन के सम्पादन करने का तात्पर्य्य केवल श्रीउपास्यदेव की तुष्टि है जिनको वह अपने और भी सब प्राणियों के हृदय में देखता है। ऐसा साधक अर्चनद्वारा श्रीउपास्यदेव की हृदयस्थ दिव्य मूर्ति की सेवा करता है और परोपकारी कर्म कर उनके विश्वरूप की पूजा करता है। साधक प्रारम्भिक अवस्था में जो अर्चा (पूजा) करता है उस से यह अर्चा अंतरिक भाव में बहुत ही उच्च है, यद्यपि वाह्य दृष्टि में दोनों समान दीख पड़ेगी।

इसकी अधिदैव अवस्था वह है जब कि चित्त स्वाभाविक रूप से सतत और अविरत श्रीउपास्यदेव में संलग्न रहे जो उपास्यदेव के उपासक के हृदय में प्रकट और जाग्रत होने ही से सम्भव है अन्यथा नहीं। गुप्तरूप से श्रीउपास्यदेव सबों के हृदय में विराजमान हैं किन्तु जीव को इसका ज्ञान अथवा अनुभव नहीं है, किन्तु इस अवस्था में पूर्वके ऐसा केवल हृदयस्थ श्रीउपास्यदेव की कभी २ झलक मिलने के बदले वे स्पष्ट रूप से साधक के हृदय को आयत्त कर लेते हैं और आध्यात्मिक अवस्था आने पर शास्ता बन जाते हैं। श्रीउपास्यदेव के हृदयस्थ साकार अर्थात्‌मनोहर रूप की उपासना इस अवस्था में प्रधान है। इस अवस्था के प्रेमी साधक को श्रीउपास्यदेव की केवल विश्वमूर्ति की उपासना से तृप्ति कदापि नहीं होती। उसके हृदयक्षेत्र के प्रेम की ज्वाला श्रीउपास्यदेव की हृदयस्थ प्रेममयी दिव्य मूर्तिके दर्शन स्पर्श और सेवा से ही शान्त होती है, अन्यथा कदापि नहीं, क्योंकि एकवार भी जिसने उस आनन्दमयी मूर्ति के प्रेमामृत का रसास्वादन किया उसको सिवाय उसके चैन कहां? क्या मधुप कमल को त्यागकर अन्य कृत्रिम गन्ध का आस्वादन ले सकता है? प्रेमी अर्जुन श्री श्रीभग-

वान के विश्वरूप मूर्ति को देखकर घबड़ा गये क्योंकि यथार्थ प्रेमी अपने प्रियतम के रूप-गुण पर ही मोहित रहता है कदापि ऐश्वर्य्य पर नहीं। अतएव अर्जुन को श्रीभगवान की मनोहर मूर्ति के अदृश्य होने से उनके किये सर्वनाश के तुल्य होगया और परमैश्वर्य्य युक्त होने पर भी विश्वमूर्त्ति उनके प्रेम को न आकर्षण कर सका और न उन्हें आनन्द दे सका। ऐसी अवस्था में अर्जुन ने श्रीभगवान से कहा:--

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा
भये न च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देव रूपम्
प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥ ४५ ॥
किरीटिनं गदिनं चक्रहस्त-
मिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तनैव रूपेण चतुर्भुजेन
सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते ॥ ४६ ॥

गीता अ० ११

मैंने आप (श्रीभगवान) का ऐसा रूप देखा जिसको पूर्व में किसीने नहीं देखाथा, मेरा हृदय प्रसन्न है तथापि भय से व्यथा पा रहा है। (अतएव) हे श्रीभगवान! आप अपना दूसरा रूप मुझे फिर दिखलाइये, हे देवताओं के देव और सम्पूर्ण जगत् के आश्रय, दया कीजिए। ४५। मैं पूर्व की भांति किरीट पहने हुए और हाथ में गदा और चक्र लियेहुए आप को देखना चाहता हूं। हे श्रीभगवान! हे सहस्रबाहो! और हे विश्वमूर्ते! फिर अपनी चार भुजावाली मूर्ति धारण कीजिए। तब श्रीभगवान ने अर्जुन से कहा:--

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो,
दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ् ममेदम्।

व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वम्,

तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥ ४९ ॥

तत्रैव

व्यथा मत करो, भय मत करो, क्योंकि तुमने इस मेरे घोर विश्व रूप को देखा है, भय को दूर करो और प्रसन्न होवो, क्योंकि अब मेरी पूर्व का रूप फिर देखो। संजय कहते हैं:—

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा,

स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।

आश्वासयामास च भीतमेनम्,

भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥ ५० ॥

तत्रैव

श्रीभगवानवासुदेव ऐसा अर्जुन को कहकर फिर अपना नीज की मुर्ति को दिखलाया और डरेहुए अर्जुन को आश्वासित किया। महात्मा प्रभु फिर अपने मनोहर मूर्ति को धारण किया।
तब अर्जुन ने कहा—

दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।

इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ॥ ५१ ॥

तत्रैव

हेजनार्दन। तुम्हारी मानुषी मूर्ति को फिर देखकर अब मैं स्वस्थ हुआ और अपनी स्वाभाविक प्रकृति में पहुंचा।

जो लोग श्रीभगवान को केवल विश्वव्यापी मान उनकी साकारोपासना प्रतिमापूजा आदि के महत्व को नहीं समझते, उनको इन पूर्वकथित श्लोकों में वर्णित अर्जुन की दशा पर विचार करके सावधान होजाना चाहिये और प्रकृत पथ पर आजाना चाहिये। जैसाकि पहिले कहा जाचुका है, श्रीभगवानने संसार के हित के लिये और उनके मिलने के भक्तिमार्ग को सुगम करने के लियेही दिव्य मूर्ति धारण की थी जिसका तिरस्कार करने पर फिर उनकी

प्राप्ति की कोई आशा नहीं होसकती। इस साकारोपसना में अर्चा के निमित्त किसी वाह्य आधार की आवश्यकता होती है। श्रीमद्भागवत पुराण में लिखा है:—

शैली दारुमयी लौही लेप्या लेख्या च सैकती ।
मनोमयी मणिमयी प्रतिमाऽष्टविधा स्मृता ॥ १२ ॥

स्क० ११ अ० २७

क्रियाकलापैरिदमेव योगिनः
श्रद्धान्विताः साधु यजन्ति सिद्धये ।
भूतेन्द्रियान्तःकरणोपलक्षितं
वेदे च तन्त्रे च त एव कोविदाः ॥ ६२ ॥

स्क० ४ अ० २४

प्रतिमा शिलाकी, काठ की, लोहे आदि धातु की, मृत्तिका चन्दन आदि की, चित्रकी, बालूकी, मनकी और मणियों की ऐसे आठ प्रकार की कही है। हे श्रीभगवन्! यद्यपि आप भेदरहित परब्रह्म हैं तथापि सब योगी श्रद्धा से सिद्धि के लिये अर्चना की क्रिया से आपकी उस साकार रूप की उपासना करते हैं। जो पंचभूत, इन्द्रिय और अन्तःकरण का नियन्ता है, वही निगमागम में पण्डित हैं, न कि जो केवल ज्ञानी है। और भी वहां ही लिखा है:—

द्रव्यैः प्रसिद्धैर्मद्यागः प्रतिमादिष्वमायिनः ।
भक्तस्य च यथालब्धैर्हृदि भावेन चैव हि ॥ १५ ॥
भूर्य्यप्यभक्तोपहृतं न मे तोषाय कल्पते ।
गन्धो धूपः सुमनसो दीपोऽन्नाद्यं च किम्पुनः ॥ १८ ॥

स्क० ११ अ० २७

(श्रीभगवान कहते हैं कि) प्रतिमादिक में मुझे अर्चना की सामग्री के जोपदार्थ अर्पणकरे, वह अति उत्तम होना चाहिये, निष्काम भक्त होवे तो उस को जैसापदार्थ मिलजाय उसी से मेरी

आराधना करे, हृदय में पूजा करनी होय तो मनोमय सामग्री को ही इकट्ठी करे १५ और जिसके हृदय में भक्ति नहीं है वह गन्ध, पुष्प, दीप, अन्न आदि बहुतसी सामग्री अर्पण करे तौभी उन से मेरी प्रसन्नता नहीं होती, इससे अधिक और क्या कहूं ? १८

ऊपर के वचनों से स्पष्ट है कि इस अर्चन में हृदय का अनुराग और प्रेमभाव मुख्य है और साधक बाह्यपूजा केवल हृदय के भाव की पूर्ति के लिये करता है और इस आन्तरिक प्रेमभाव से जो अर्चा की जाती है वही यथार्थ है किन्तु जिस में प्रेम भाव का अभाव है वह प्रायः व्यर्थ है। श्रीउपास्यदेव पूर्णकाम हैं, उन को किसी सांसारिक पदार्थ की आवश्यकता नहीं है किन्तु वे प्रेम-भाव के अवश्य बड़े भूखे हैं और भक्तों के प्रेम की बड़ी कठिन परीक्षा अवश्य करते हैं। साधक के लिये अर्चन पूजा द्वारा श्रीउपास्यदेव की सेवा करनी आवश्यक है यदि यथार्थ भक्ति-भाव से की जाय और यदि वह आन्तरिक प्रेम-भाव का यथार्थ द्योतक हो। श्रीमद्भागवत पुराण का वचन हैः—

नैवात्मनः प्रभुरयं निजलाभपूर्णो-
मानं जनादविदुषः करुणो वृणीते ।
यद्यज्जनो भगवते विदधीत मानं
तच्चात्मने प्रतिमुखस्य यथा मुखश्रीः ॥ ११ ॥

स्कं० ७ अ० ६

यत्पादयोरशठधीः सलिलम्प्रदाय
दूर्वाङ्कुरैरपि विधाय सतीं सपर्याम् ।
अप्युत्तमां गतिमसौ भजते त्रिलोकीं
दाश्वानविक्लवमनाः कथमार्तिमिच्छेत् ॥ २३ ॥

स्कं० ८ अ० २२

श्रीप्रह्लाद का कथन है प्रभु परमात्मा परिपूर्णकाम हैं। वे अज्ञानियों से मान नहीं चाहते। लोग श्रीभगवान को जो

सम्मान देते हैं वह उन्हीं को मिलता है,जैसे मुख की शोभा दर्पण में प्रतिबिम्बित होती है। श्रीब्रह्माने कहाः—जब स्वच्छचित्त से मनुष्य पैर धोने के जल अथवा दूब से भी शुद्धभाव से पूजा कर उत्तम गति को पाता है। तब उस बलि को जिसने सन्तोष से त्रैलोक्य का राज्य आपको देदिया है, कैसे दुर्गति हो सकती है? और भी लिखा है:—

व्याधस्याचरणं ध्रुवस्य च वयो विद्या गजेन्द्रस्य का,
कुब्जायाःकिमुनामरूपमधिकं किन्तत्सुदाम्नोधनम्।
का जाति विंदुरस्य यादवपतेरुग्रस्य किम्पौरुषम्,
भक्त्या तुष्यति केवलं न च गुणैर्भक्तिप्रियो माधवः॥

व्याध और जटायु का क्या आचरण था? ध्रुवको क्या वयस थी? गजेन्द्र की क्या विद्या थी? कुब्जा का क्या बड़ा नाम-रूप था? सुदामा का क्या धन था? विदुर को क्या जाति थी? यादवपति उग्रसेन को क्या बल था? (चूंकि इनके अभाव में भी इनपर श्रीभगवान ने कृपा की, अतएव) श्रीभगवान केवल भक्ति से प्रसन्न होते हैं किन्तु गुणसे नहीं, क्योंकिं उनको भक्ति ही प्रिय है।

राजापृथु और अम्बरीप के सिवाय इस अर्चन-सेवा का परम आदर्श भिल्लिनी श्रीमती शबरीजी हो गई हैं जिनमें विद्या, पौरुष, उत्तम जाति आदि का अभाव, और स्त्री जाति, होने पर भी केवल उनकी स्वच्छ भक्ति के कारण श्रीभगवान ने उनको ऐसा आदर दिया कि उनके दिये जूठे फलों को भी सहर्ष स्वीकार किया। श्रीशबरीजी का मन श्रीभगवान में ऐसा आसक्त था और उनके प्रति ऐसा प्रगाढ़ प्रेम था, कि उनका चित्त सतत श्रीभगवान के चरणकमल ही में संलग्न रहता था। यहांतक कि किसीके आने की आहट पाने से उनको बोध होता था कि श्रीभगवान ही आ रहे हैं। जो २ उत्तम मीठे फल उनको मिलते थे उनको श्रीभगवान को अर्चा के लिये रखती जाती थीं। श्रीरामचरित मानस से यहां श्रीमती शबरीजी की श्रीभगवान से मिलन की कथा उद्धृत की जाती है:—

चौपाई।

शबरी दीख राम गृह आये,
मुनिके वचन समुझि जिय भाये।
सरसिजलोचन बाहु विशाला,
जटा मुकुट शिर उर बनमाला।
श्याम गौर सुन्दर दोउ भाई,
शबरी परी चरण लपटाई।
प्रेममगन मुख वचन न आवा,
पुनिपुनि पद सरोज शिरनावा।
सादर जल लै चरण पखारे,
पुनि सुन्दर आसन बैठारे।

दोहा।

कन्द मूल फल सरस अति, दिये राम कहँ आनि।
प्रेमसहित प्रभु खायऊ, बारहिं बार बखानि॥

चौपाई।

पाणि जोरि आगे भइ ठाढ़ी,
प्रभुहि बिलोकि प्रीति अति बाढ़ी।
केहिविधि अस्तुति करौं तुम्हारी,
अधम जाति मैं जड़मति भारी।
अधम ते अधम अधम अति नारी,
तिनमहं मैं अति मन्द गँवारी।

कह रघुपति सुनु भामिनि बाता,
मानौं एक भक्तिकर नाता ।
जाति पांति कुल धर्म बड़ाई,
धन बल परिजन गुण चतुराई ।
भक्तिहीन नर सोहैं कैसे,
बिनुजल बारिज देखिय जैसे ।
नवधा भक्ति कहौं तोहि पाहीं,
सावधान सुनु धरु मन मांही ।
प्रथम भक्ति सन्तन कर संगा,
दूसरि रत मम कथाप्रसंगा ।

दोहा ।

गुरुपद पंकज सेवा, तिसरि भक्ति अमान ।
चौथि भक्ति मम गुणगण, करै कपट तजि गान ॥

चौपाई ।

मंत्र जाप मम दृढ़ विश्वास
पंचम भजन सो वेद प्रकासा ।
षट दम शील विरत बहुकर्मा,
निरत निरंतर सज्जन धर्म्मा ।
सतईं सब मोहिमय जग देखै,
मोते सन्त अधिक करि लेखै ।

अठइँ यथालाभ संतोषा,
सपनेहुँ नहिं देखै परदोषा।
नवम सरल सब सों छलहीना,
मम भरोस हिय हर्ष न दीना।
नवमहँ एकौ जिनके होई,
नारि पुरुष सचराचर कोई।
सो अतिशय प्रिय भामिनि मोरे,
सकलप्रकार भक्ति दृढ़ तोरे।
योगि-वृन्द-दुर्लभ गति जोई,
तोकहं आज सुलभ भइ सोई।
मम दर्शन फल परम अनूपा,
जीव पाव निज सहज स्वरूपा।

दोहा।

सब प्रकार तव भाग बड़, मम चरणन्ह अनुराग।
तव महिमा जेहि उर बसहि, तासु परम बड़ भाग॥

इस अर्चा सेवा के अन्य आदर्श ब्रजकी गोपियां हैं जिनकी पावन कीर्ति और श्रीभगवान के प्रति असीम प्रेम यथार्थ में आदर्श है। इस अवस्था में यह मुख्य है कि सतत चित्त श्रीउपास्य देव में अर्पित रहे और सांसारिक कार्य्य करते भी चित्त उन्हीं के चरणकमल में संलग्न रहे। अन्य अवस्था में इसके लिये यत्न करना पड़ता है किन्तु इस अवस्था में यह स्वाभाविक हो जाता है। इस अवस्थावाले का चित्त श्रीउपास्यदेव से अन्यत्र रह नहीं सकता। निम्न लिखित श्लोक में जो ब्रजगोपियों के इस भाव का वर्णन है उसको अवश्य मनन करना चाहिये और अभ्यास में परिणत करना चाहिये, श्रीमद्भागवत पुराण का वचन है:—

या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-
प्रेंखेंखनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकंठ्यो ।
धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः ॥ १५ ॥

स्कं० १० अ० ४४

जो गोपियां, गौओं को दुहते समय, धान आदि कूटते समय, दही के मथने में, घर के लीपने में, सोतेहुए, बालकों के झूले को झुलाने में, रोते हुए बालकों को चुप करने में और बुहारने में चित्त में प्रेमयुक्त और गद्गद्कण्ठ होकर इन श्रीकृष्ण का गान करती थीं वे घर के सबकाम करते हुए भी श्रीकृष्ण को ओर चित्तलगानेवाली व्रज की स्त्रियां धन्य हैं ।

इस अवस्था में बाह्यार्चा भी आन्तरिक उच्च अवस्था का द्योतक और प्रकाशक है । प्रातःकाल श्रीउपास्यदेव इसलिये जागृत किये जाते हैं कि विना उनके जागे संसार चल नहीं सकता है, अतएव संसार की प्रवृत्ति और त्रैलोक्य में मंगल का संचार करने के लिये उपासक अपने श्रीउपास्यदेव को स्तुति द्वारा जगाता है । इसके निमित्त उपासक की जो प्रार्थना है उसमें वे प्रार्थना ही करते हैं कि "त्रैलोक्य-मंगलं कुरु" अर्थात् जागकर तीनोंलोक का मंगल कीजिये । पाद्यार्थ और स्नानीय जल के अर्पण का यह भी तात्पर्य्य है कि उक्त जल श्रीउपास्यदेव के पावन चरण कमल को स्पर्श कर तेजपुंज रूपी गंगा बनकर त्रैलोक्य में संचरण कर पवित्र करे । चन्दन अर्पण करना मानो प्राण आदि और उनके द्वारा जो शारीरिक क्रियायें होती हैं उनको अर्पण करना है अर्थात् सब शारिरीक क्रिया को केवल श्रीउपास्यदेव के निमित्त करना है । पुष्पका समर्पण मानो शुद्ध और शान्त बनकर मनको अर्पण करना है अर्थात् सम्पूर्ण मानसिक कार्य्य केवल श्रीउपास्यदेव के निमित्त करना है । नैवेद्य का अर्पण मानो सम्पूर्ण बाह्यपदार्थ और द्रव्यों को अर्पण करना है अर्थात् सम्पूर्ण बाह्यद्रव्य श्रीउपास्यदेव का ही है । धूप दीप आरती समर्पण करना मानो श्रीउपा-

स्यदेव की दिव्य प्रकाश-शक्ति जो जीवात्मा का शुद्ध स्वरुप है उसको अपने हृदय में प्रगटकर फिर उसको श्रीउपास्यदेव ही को अर्पण करता है अर्थात् अपनी दिव्य आत्मा तक को श्रीउपास्यदेव ही को समर्पण करता है। निवेदक नैवेद्य को केवल अकेले नहीं ग्रहण कर अनेक को देता है उसका भी मुख्योद्देश्य यह है कि अर्चा करने से जो श्रीउपास्यदेव के तेजपुंज की प्राप्ति हुई जिससे वह नैवेद्य संयुक्त है उसको सबों में फैलाना, ताकि सबका कल्याण हो। पद्मपुराण के पातालखंड में लिखा है:—

अहिंसा प्रथमं पुष्पं द्वितीयं करणग्रहः।
तृतीयकं भूतदया चतुर्थं क्षान्तिरेवच ॥ ४८ ॥
शमस्तु पञ्चमं पुष्पं ध्यानञ्चैव तु सप्तमम्।
सत्यञ्चैवाष्टमं पुष्पमेतैस्तुष्यति केशवः ॥ ४९ ॥
पुष्पान्तराणि सन्त्येव वाह्यानि नृपसत्तम।
एतैरेवतु तुष्येत यतो भक्तिप्रियोऽच्युतः॥ ५० ॥

अ० ५३

अहिंसा पहला फूल, इन्द्रिय संयम दूसरा फूल, प्राणियों पर दया तीसरा फूल, क्षमा चौथा फूल, मन और इन्द्रिय निग्रह पांचवां फूल, ध्यान सातवां फूल और सत्य अठवां फूल। इन आठ फूलों से पूजा करने से श्रीभगवान विशेष संतुष्ट होते हैं। हे राजा! अन्य वाहरी फूल यथेष्ट रहने से भी उक्त आठ फूल से ही श्रीभगवान प्रसन्न रहते हैं, क्योंकि उनको भक्ति ही प्यारी है और विना भक्त के कोइ दूसरा उक्त आठ फूलों द्वारा पूजा नहीं कर सकता है।

वन्दन।

अर्चा अर्थात् पूजा की साधना में परिपक्व होने से श्रीउपास्यदेव की वन्दना की अवस्था आती है, जबकि साधक श्रीउपास्यदेव के श्रीचरण के प्रेमामृत का रसास्वादन कर और उनकी असीम दया का परिचय पाकर ऐसा प्रेमोन्मत्त हो जाता है कि उसका

प्रेमाप्लुत हृदय स्वाभाविक रूपसे ही उनकी स्तुति और वन्दना में प्रवृत्त हो जाता है और इस प्रकार वह अपने हृदय रूपी प्रेमपुष्प को अर्पण कर अपने को श्रीउपास्यदेव में संलग्न कर देता है। पूजा (अर्चना) के अंत में पुष्प हाथ में लेकर जो श्रीउपास्यदेव की स्तुति और वन्दना की जाती है जो यथार्थ में हृदय का कार्य्य है वह इसी अवस्था का वाह्य में द्योतक है। इस अवस्था के साधक का हृदय सदा सर्वदा श्रीउपास्यदेव की वन्दना करने में ही प्रवृत्त रहता है, क्योंकि उसको श्रीउपास्यदेव की असीम कृपा का पूर्ण परिचय मिलचुका है और वह समझता है कि उसके ऐसे अयोग्य पर भी श्रीउपास्यदेव ने इतनी बड़ी दया की कि देवदुर्लभ श्रीचरण के प्रमामृत रस के आस्वादन करने का सौभाग्य उसे प्राप्त हुआ। ऐसा साधक सर्वत्र जड़ चेतन दोनों में अपने श्रीउपास्यदेव ही को देखता ही नहीं है किन्तु उनमें उनके अस्तित्व का प्रत्यक्ष अनुभव करता है और इस कारण अर्जुन की भांति सबों को अपना श्रीउपास्यदेव समझ प्रणाम करता है। अर्जुन के इस अवस्था का श्रीमद्भगवद्‌गीता में यों वर्णन है:—

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः
प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमोनमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः,
पुनश्चभूयोऽपि नमोनमस्ते ॥ ६९ ॥
नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते
नमोऽस्तुते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवियोऽमितविक्रमस्त्वं
सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥ ४० ॥

अ० ११

तुम वायु, यम, अग्नि, चन्द्र, वरुण, प्रजापति, और सबके प्रपितामह (बीजपुरुष) हो, तुमको प्रणाम है, फिर प्रणाम है,

सहस्रवार प्रणाम है और वार २ प्रणाम है। तुम्हारे आगे दण्डवत् करता हूं, तुम्हारे पीछे दण्डवत् करता हूं, तुम्हारी सब ओर दण्डवत् करता हूं हेसर्व! तुम्हारी शक्ति अनन्त है और बल अमित है, तुम सबके आधार हो और तुमही स्वयं सब बन-गये हो। और भीः—

खं वायुमग्निं सलिलं महीं च
ज्योतींषि सत्वानि दिशो द्रुमादीन्।
सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं
यत्किंच भूतं प्रणमेदनन्यः॥ ४१॥

श्रीमद्भगवतपुराण स्कं० ११ अ० २। इसका अर्थ पृष्ठ १८२ में देखो।

यह अवस्था, सम्बन्ध अर्थात् भावकी अवस्था में जाने की तय्यारी की अवस्था है, जिस में आत्मत्याग करना पड़ता है जो बहुत बड़ी अवस्था है।

इस अवस्था में भिन्न२ साधक के भिन्न२ प्रकार की अवस्था होजाती है। वह अपने प्रियतम के माधुरी रूप को ही सब में और सर्वत्र देखता है और ऐसादेखकर प्रायः प्रमोन्मत्त होजाता है। कोई साधक ऐसी अवस्था में हंसता है, गाता है, रोता है और नाचता है। लिखा हैः—

वाग् गद्गदा द्रवतेयस्य चित्तं।
हसत्यभीक्ष्णं रुदति क्वचिच्च॥
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च।
मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति॥२४॥

श्रीमद्भागवत, स्कं ११ अ०१४

जिसकी वाणी गद्गदा होगईहो, जिसका चित्त भाव से पिघल गया हो, जो कभी श्रीभगवान् की असीम दयाका प्रमाण जानकर और उनके स्वतंत्र होने पर भी भक्त के आधीन रहने आदि विषयों

को जानकर खुब हंसता है, और (जब वह समझता है कि मैं श्रीभगवान् की सेवा से वंचित हूं अथवा चित्त उनके चरण कमल से चलायमान है तो) कभी रोभी देता है, और हृदय के भावोद्गार के कारण और लोगों की निन्दा की परवाह न कर, निर्लज्ज हो कर चिल्ला कर श्रीभगवान् के अमृतमय यशको गाता है और (भाव से विह्वल होकर) नाचता है। ऐसा भक्तियुक्त मनुष्य इस लोक को पवित्र करता है।

भावत्रितय।

नवधा साधना में अंतिम त्रितय भाव-साधना अथवा भाव भक्ति है जिसके कारण साधक का भाव अर्थात् सम्बन्ध अपने श्रीउपास्य के साथ पक्की रीतिसे स्थापित होजाता है अर्थात् उक्तभाव के कारण साधक श्रीउपास्य-देव का होजाता है और श्रीउपास्यदेव साधक के होजाते हैं। जैसाकि मनुष्य में यह भाव सदा वर्तमान रहता है कि मैं मनुष्य हूं, पुत्रसमझता है कि अमुक मेरा पिता है, स्त्री समझती है कि अमुक मेरा पुरुष है, नौकर समझता है कि अमुक मेरा मालिक है, इन सम्बन्धों को याद रखने की अथवा दूसरों द्वारा स्मरण दिलवाये जाने की कोइ आवश्यकता नहीं रहती है, क्योंकि ऐसे२ भाव स्वभावतः पूर्णता और दृढ़ता से अन्तर्गत स्थायिरूपसे वर्तमान रहने के कारण सदा वर्तमान रहते हैं और मन, शरीर, वाक्य से जितने कर्म किये जाते हैं उनमें इनका प्रभाव वर्तमान रहता है। मनुष्य जब कोई कर्म करेगा तो साधारणतः मनुष्योचित ही कर्म करेगा अर्थात् मनुष्य के समान बोलेगा, भोजन करेगा, पीवेगा, चलेगा, वस्त्राधारण करेगा, गृहमें रहेगा, अपने और परिवार के भविष्यत निर्वाह के लिये यत्न और संग्रह करेगा, कदापि पशुके समान नहीं, और कदापि उसके इन स्वाभाविक कार्य्यों की प्रवत्ति के लिये उसे स्मरण दिलाने की आवश्यकता न होगी किंतु उक्त स्वभाव उसमें स्वाभाविक रूप से सदा वर्तमान रहेंगे। अन्य सांसारिक भावों के विषय में भी यही दशा है। इसी प्रकार इस अवस्था में साधक में श्रीउपास्य देव के साथ जो उसका सम्बन्ध (भाव) है सदा सर्वदा उसमें अनवरत रूप से वर्तमान रहता है और उसभाव

से भाविक होकर ही वह मन, वचन, कर्म से सब कर्म करता है। उसको उक्त भाव को न स्मरण रखने की आवश्यकता होती है और न दूसरे द्वारा स्मरण दिलवाएजाने की, किन्तु वह भाव उसमें सदा सर्वदा अष्टयाम सब कामों के करते रहते भी स्वतः वर्तमान रहता है और वर्तमान रहकर तदनुसार कर्म करवाता है। ऐसे साधक का चित्तपट भक्ति भाव से ऐसा रंजित होजाता है कि फिर उसमें दूसरा रंग चढ़ नहीं सकता है। जैसा कि यदि कोई महान व्यक्ति किसी का बांह पकड़ कर उनको अपनाता है और उसकी रक्षा का प्रण करता है, तो वह उस सम्बन्ध और प्रण का कदापि त्याग नहीं करता और आश्रित में भी सदा यह भाव वर्तमान रहता है कि अमुक मेरा रक्षक है और उसके कारण उसके प्रति उसकी श्रद्धा भक्ति स्वाभाविक बनी रहती है। उसी प्रकार इस अवस्थामें साधक का अपने श्रीउपास्य से सम्बन्ध होजाने के कारण वह सम्बन्ध अटूट होजाता है और थोड़े कालके लिये उसमें कोइ विघ्न बाधा क्यों न आजाय, किंतु उक्त सम्बन्ध के कारण साधक श्रीउपास्य देव से वहिर्मुख कभी नहीं होसकता है। यह भाव-सम्बन्ध-प्रेम-डोरी उपासक के हृदय और श्रीउपास्य देव के चरण कमल के बीच रहकर दोनों को एकत्र जोड़ती है और इसके द्वारा उपासक की सेवारुपी प्रमोपहार श्रीउपास्यदेव के चरण कमल में पहुंचता है और ऊपरसे श्रीउपास्यदेव की कृपा-दृष्टिरुपी तेज पुंज उपासक को लब्ध होता है और भाव भक्ति के आभ्यास के कारण जैसे२ यह डोरी खींची जाती है, वैसे२ उपासक और श्रीउपास्य आपस में समीप होते जाते हैं और अन्त में एकत्र होजाते हैं। इस डोरी में स्वतः ऐसी आकर्षण शक्ति है कि वह दोनों को एक दूसरे का ओर खींचती रहती है और दोनों को एकत्र करही डालती है। लिखाहैः--कृत्वाहरिं प्रेमभाजं प्रिय वर्गसमन्वितं। भक्ति वंशीकरोतीति श्रीकृष्णाकर्षिणीमता। भक्ति रसामृतसिन्धु—जो भक्ति श्रीकृष्णभगवान को भी मुग्ध कर के प्रियवर्ग के साथ वशीभूत करती है वही श्रीकृष्णाकर्षिणी कही जाती है।

वे उपासक अवश्य धन्य हैं जिनके गलेमें यह सम्बन्ध रूपी डोरी डाल दीगई है जिसके होने पर उनके विचलित होने का

कोई भय नहीं रहता। यह प्रेम-डोरी ही दैवी प्रकृति (गायत्री) की प्रकाश है जो उपासक और उपास्य में सम्बन्ध स्थापित करता है।

उपासक और श्रीउपास्य में यह सम्बन्ध-भाव श्रीदैवीप्रकृति के द्वारा स्थापित होने के कारण शुद्ध आध्मात्तिक है और किसी प्रकार यह प्राकृतिक अथवा पार्थिव नहीं है। यह सम्वन्ध यथार्थ में जीवात्मा और परमात्मा के बीच अनादि है किन्तु जीवात्मा के मोह, अज्ञान और त्रिगुणमयी प्राकृतिक विकार में फंसे रहने के कारण यह सम्वन्ध शिथिल होकर महामोह और अविद्यांधकार से ऐसा आच्छादित रहता है कि इसके अस्तित्व का भी पता नहीं रहता। उपासनारूपी अग्नि के प्रज्वलित होने पर उक्त अंधकार का शमन होता है और तब यह सम्बन्ध जो पहिले से भी वर्तमान था प्रकट होजाता है और बोध होता है कि यह प्रथमबार स्थापित हुआ। यह भाव सम्बन्ध न शारीरिक है, न सांसारिक है, न मानसिक है, किन्तु शुद्ध आध्यात्मिक है, जैसाकि पहिले कहाजाचुका है। भक्ति रसामृतसिन्धु में इस भाव का यों वर्णन है:-

आविर्भूय मनोवृत्तौ व्रजन्ती तत्स्वरूपताम् ।
स्वयम्प्रकाशरूपापि भासमाना प्रकाश्यवत् ॥
वस्तुतः स्वयमास्वादस्वरूपैव रतिस्त्वसौ ।
कृष्णादिकर्म्मकास्वादहेतुत्वं प्रतिपद्यते ॥
शुद्धसत्वविशेषात्मा प्रेमसूर्य्यांशुसाम्यभाक् ।
रुचिभिश्चित्तमासृण्यकृदसौ भाव उच्यते ॥
प्रेम्णस्तु प्रथमावस्था भाव इत्यभिधीयते ।
सात्त्विकाः स्वल्पमात्राः स्युरत्राश्रुपुलकादयः ॥

शुद्ध सत्व विशेषरूपी रति, मनोवृतिसे उत्पन्न होकर, उसके साथ एकात्म प्राप्त होनेसे स्वप्रकाश रूप होकर समाधि दशामें

ब्रह्मसाक्षात्कार के समान मनोवृत्तिसे प्रकाशित् भासमान होता है, यथार्थमें यह रति आस्वादस्वरूपा होकर श्रीभगवानके माधुर्यादि भावके अनुभव करने का कारण होती है । विशेष शुद्ध जिसकी आत्मा, प्रेम-सूर्य्य-किरण जिसमें प्रतिफलित हुआ, रुचि अर्थात् भगवत्सेवाभिलाष द्वारा चित्तके स्निग्धता कारिणी अवस्थाको भाव कहते हैं । प्रेमके प्रथम अवस्थाको ही भाव कहते हैं जिससे अश्रु पुलकादि सात्विकभाव सर्वोका थोड़ा २ उदय होता है ।

जैसाकि पहिले कहाजाचुका है भाव-भक्तिकी अवस्थामें उपासक श्रीउपास्य का होजाता है और तबसे जो उपासक करता है वह केवल अपने श्रीउपास्यदेव के लिये ही अपने स्वार्थ के लिये कुछ भी नहीं करता । जीवात्मा का श्रीपरमात्मा का अंश होनेके कारण यद्यपि दोनों में भाव-सम्बन्ध अनादि, आंतरिक और आध्यात्मिक है जिसकी तुलना किसी सांसारिक भाव में नहीं होसकती है और सांसारिक भाव में तुलना करनेसे इस उच्चभाव का महत्व जातारहेगा, तथापि कतिपय पवित्र सांसारिक भाव में इस भाव की तुलना कीगई है ताकि सांसारिक भाव के दृष्टांत से साधकको इस उच्च सम्बन्ध-भाव का किंचित पतालगे कि यह क्या है ? और इसका क्या स्वभाव है ? और इसमें क्या कर्तव्य है ? सांसारिक सम्बन्ध का नाम रखकर इस उच्च भावको प्रकाशित करने का केवल यही तात्पर्य्य है कि साधक सांसारिक दृष्टान्त के पवित्र भावका स्मरण रखकर अपने में तत् सादृश शुद्ध सात्विक भाव श्रीउपास्यके प्रति उत्पन्न करे जो परिपक्व होकर सांसारिक भाव से अवश्य विलक्षण होजायगा, क्योंकि आध्यात्मिक भाव किसी प्रकार सांसारिक सम्बन्ध के द्वारा ठीक२ प्रकाशित नहीं होसकता है । अतएव इस उच्च आध्यात्मिक भावको विशेषकर सांसारिक सम्बन्ध के समान मानना मानो उसभावको बिगाड़ना है और उसके पवित्र अभ्यास से वंचित होना है, किन्तु सांसारिक सम्बन्ध के पवित्र रूप को केवल संज्ञा और शैलीमात्र प्राथमिक अवस्था में समझना चाहिय और अधिक कुछ नहीं । शोक है कि आजकल बहुत लोग इस आध्यात्मिक भाव-सम्बन्ध के गूढ़ रहस्य को नहीं जानते और इसको सांसारिक सम्बन्ध के समान

जानकर व्यवहारमें भी उसी प्रकार वर्ताव करते हैं जिसके कारण इस भाव के तत्व और मर्म से जानकारी नहीं होती। इस भाव का भी आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक स्वरूप है। जिस प्रकार से इस भावसम्बन्ध का यहां वर्णन है वह इसका यथार्थ रूप आध्यात्मिक भाव है। यह भाव सांसारिक भाव में एकदम परिणत नहीं होसकता है। सांसारिक भाव केवल इसका द्योतक (वतानेवाला)है, क्योंकि यह यथार्थमें सांसारिक सब भाव सम्बन्धों से विलक्षण है। यथार्थ में यह भाव-सम्बन्ध प्रेम और स्नेह रूपी है, जो जीवात्मा में अपने श्रीउपास्य के प्रति स्वाभाविक है किन्तु वह मलिन वासना और अज्ञानान्धकार के कारण ढपाहुआ रहता है और साधन उपासना रूपी अग्नि के प्रज्वलित होने के कारण फिर भासमान होजाता है जैसाकि पहिले भी कहाजाचुका है। इस अवस्था में यह प्रेमांकुर भावमय अर्थात् रसमय होजाता है और उपासक उस प्रेम-रस से ऐसा प्लावित और रंजित होजाता है कि उसके सामने उसे अन्य सब रस फीके मालूम पड़ते हैं और उसका केवल एकमात्र उद्येश्य यही रहता है कि अपने प्राणप्रिय प्रियतम श्रीउपास्यदेव के प्रीत्यर्थ प्रेमाग्नि में अपने आपको आहुति देकर महाप्रेम-यज्ञ का सम्पादन करें। इस अवस्था में जो कुछ उपासक करता, बोलता, शोचता, निश्चय करता वह सब प्रेमके कारण केवल अपने प्रियतम श्रीउपास्यदेव की तुष्टिके निमित्त ही करता, किसी अन्य उद्देश्य से नहीं। यही इस भावसम्बन्ध का यथार्थ तात्पर्य है। तीन भाव मुख्य हैं। १ दासभाव २ सख्यभाव और ३ आत्म-निवेदन भाव।

दासभाव ।

तीन भावों में प्रथम भाव और साधनोंमें सप्तम साधन दास भाव है। शान्तभाव भी इसीके अन्तर्गत है। यह दासभाव सर्व-प्रथम होनेके कारण सबभावों की जड़ अर्थात् भित्ति है जिसके विना किसी अन्य भाव की प्राप्ति असम्भव है। श्रीउपास्यदेव की निरंतर सेवा और उनके प्रीत्यर्थ कर्म इसभाव का मुख्य कर्तव्य है। इसकी भी तीन अवस्थाएं हैं अर्थात् आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक। श्रीउपास्यदेव की सेवा सांसारिक फलकामना-के लिये करना आधिभौतिक है, मोक्षके लिये करना आधिदैविक है और प्रेमसे प्रेरित और स्वार्थरहित होकर केवल श्रीउपास्यदेवके प्रीत्यर्थ इस सेवा-धर्मका पालन करना और उसके निमित्त अपने स्वार्थ और सुख को भी त्यागकर अपने ऊपर प्रसन्नतासे कष्ट लेना और उस कष्ट कोही परम सुख मानना और उसमें ही सुखका अनुभव कर प्रसन्न रहना आध्यात्मिक दासभाव है। यहां पर इसी भावसे तात्पर्य है। सांसारिक मालिक-नौकर का भाव इस उच्च दासभावका द्योतक नहीं होसकता। संसारमें नौकर मालिक की सेवा उससे कुछ पानेके लिये ही करता है और वह जब चाहे तब उक्त वृत्ति का त्याग करसकता है अथवा अन्य मालिक के यहां जा सकता है किन्तु दासभाव में केवल प्रेमके कारण सेवा की जाती है और न बदले में कुछ पाने की आशा रहती है और न यह सम्बन्ध कभी टूट सकता है। संसार में जो क्रीत (खरीदेहुए) दास की कभी प्रथा थी, उससे भी इसकी तुलना नहीं होसकती, क्योंकि क्रीतदास परवश होकर सेवावृत्ति करता है, किन्तु यहां सेवक अपनी प्रसन्नता से स्वयं इस सेवा-धर्म में प्रवृत्त होता है, उसपर कोई दबाव नहीं रहता। हां, संसार में यदि कोई ऐसा सेवक हो जो किसी व्यक्तिके प्रति उसके सद्गुण और पवित्र चरित्र से आकर्षित होकर विना किसी फलकी आशाके उसकी सेवामें प्रवृत्तहो और उसको अपना सर्वस्व मानता हो और जन्मजन्मान्तर के लिये अपने को उसकी सेवाके निमित्त समर्पित कियाहो तो यह किसी प्रकार किंचित अंशमें इस सेवा-धर्मका उदाहरण होसकता है। इस भावमें उपासक अपने श्रीउपास्य में

अनन्य और ऐकान्तिक भाव रखता है और जब उसको यह बोध होता है कि अमुक कार्य्य अपने श्रीउपास्यके प्रीत्यर्थ उसे अवश्य कर्तव्य है तो वह उस कार्य्यके करने की सामर्थ्यानुसार अवश्य चेष्टा करता है, यद्यपिवह कार्य्य उसकेलिये कष्टदायक क्यों नहो । ऐसा उपासक श्रीउपास्यदेव की तुष्टिके लिये सांसारिक परोपकारी कामों को अवश्य करता है । वह विशेष कर ज्ञान-भक्ति के प्रचारके कार्य्यों में प्रवृत्त रहता है जिसको अपने सेवा-धर्म का मुख्य अंग मानता है । श्रीमद्भागवत पुराणमें लिखा है:—

एतावानव्ययो धर्मः पुण्यश्लोकैरुपासितः ।
यो भूतशोक-हर्षाभ्यामात्मा शोचति हृष्यति । ९ ।
अहो दैन्यमहो कष्टं पारक्यैः क्षणभङ्गुरैः ।
यन्नोपकुर्यादस्वार्थैर्मर्त्यः स्वज्ञातिविग्रहैः । १० ।

(स्कं ६ अ० १०)

इस कारण प्राणियों को दुःख प्राप्त होनेपर जिसको आप भी दुःख होता है और प्राणियों को हर्ष होनेपर जिसको हर्ष होता है ऐसे पुरुषका धर्म ही अक्षय धर्म है, क्योंकि धर्मशील पुरुषोंने उसही धर्मका सेवन किया है ९ अहो ! जो तिलमात्र भी अपने कार्य्यमें नहीं आते, जिनको काक श्वान खाडालेंगे और जिनका एक क्षणका भी भरोसा नहीं है, ऐसे धन, पुत्रादिक बान्धव और शरीर के द्वारा यदि मरणधर्मा प्राणी किसीका भी उपकार न करे तो बड़ी दीनता और दुःख की बात है । और भी वहां ही :—

शश्वत्परार्थसर्वेहः परार्थैकान्तसम्भवः ।
साधुः शिक्षेत भूभृत्तो नगशिष्यः परात्मताम् । ४६ ।
स्वच्छः प्रकृतितः स्निग्धो माधुर्यस्तीर्थभूर्नृणाम् ।
मुनिः पुनात्यपां मित्रमीक्षोपस्पर्शकीर्तनैः । ४४ ।

(स्कंध० ७ अ० ११)

अब विशेष करके पर्वतरूप और वृक्षरूप हुई पृथिवीसे सीखे हुए गुण कहते हैं कि-जैसे पर्वत परके वृक्ष, तृण, झरने आदि सब पदार्थ परोपकार के निमित्त ही होते हैं और उनका जन्म भी केवल परार्थ ही होता है तैसे ही अपने सब व्यवहार और जन्म केवल परोपकारहीके लिये हों, ऐसा साधु पुरुष पर्वत से सीखे और वृक्षों का शिष्य होकर उनसे परमात्मता सीखे अर्थात् जैसे वृक्ष, दूसरे द्वारा तोड़े अथवा उखाड़े जाने पर उसका उपकार ही करता है वैसे ही अपने को कोई मारे अथवा घसीटे तौभी उस का उपकार ही करे।

स्मरण रहे कि केवल अपने को दास माननेसे इस भाव की पूर्ति हो नहीं सकती, जैसा कि आज कल प्रायः देखा जाता है। इस भाव के भाविक अष्टयाम अपने दास-धर्म के पालन में प्रवृत्त रहते हैं, कदापि गाफिल नहीं रहते, और यदि कभी बहिर्मुख होकर गाफ़िल हो जाते, तो उसके कारण बड़ा कष्ट बोध करते और दुःखित होते हैं। उनको तो श्रीउपास्य के निमित्त मन, बचन और शरीरसे कर्म करते रहने हीमें प्रसन्नता होती है और उनकी बुद्धि सदा श्रीउपास्य देवके चरणकमलके मकरन्दके रसास्वादनमें प्रवृत्त रहती है और वे वाह्य और अन्तर दोनों से उनकी सेवारूपी कर्ममें प्रवृत्त रहते हैं।

इस भावके आदर्श भक्त श्रीहनुमानजी हैं और उन्होंने जिस भावसे अपने स्वामी श्रीरघुनाथ जीकी सेवा की, उस पर विचारनेसे इस भावका किञ्चित् ज्ञान होगा। श्रीहनुमानजीका वाक्य है:—

भवबन्ध-च्छिदे तस्मै स्पृहयामि न मुक्तये।
भवान् प्रभुरहं दास इति यत्र विलुप्यते॥

हे नाथ! जिससे आप मेरे स्वामी और मैं दास यह सम्बन्ध छुट जाय, उस भव-बन्धन-छेदनकारी मोक्षकी भी मुझे स्पृहा नहीं है। इस भावका मुख्य चिन्ह यह है कि उपासकके श्रीउपास्य ही सर्वस्व होजाते हैं और मन, वाणी, और शरीर सदा सर्वदा अनन्यभावसे उन्हींमें और उन्हींके निमित्त सेवा-धर्मके करनेमें प्रवृत्त रहते हैं, कदापि स्वभावतः ही उनकी प्रवृत्ति अन्यत्र नहीं होती। श्रीमद्भागवत पुराणका वचन है:—

नैकात्मतां मे स्पृहयन्ति केचित्

मत्पादसेवाभिरता मदीहाः।

यो ऽन्योन्यतो भागवताः प्रसज्य

सभाजयन्ते मम पौरुषाणि ॥ ३४ ॥

(स्कं० ३ अ० २५)

यो दुस्त्यजान् क्षिति-सुत-स्वजनार्थ-दारान्

प्रार्थ्यां श्रियं सुरवरैः सदयावलोकाम्।

नेच्छन्नृपस्तदुचितं महतां मधुद्विट्-

सेवाऽनुरक्तमनसामभवो ऽपि फल्गुः ॥ ४३ ॥

स्कं० ५ अ० १५

मत्सेवया प्रतीतं ते सालोक्यादि चतुष्टयम्।

नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत् कालविप्लुतम् ॥

(स्कं० ९)

कपिलदेव जीने कहा कि हे माता! कोई ऐसे मेरे भक्त हैं जो मेरी चरण-सेवाके सिवाय दूसरे किसी विषयमें आसक्ति नहीं करते, और मेरे निमित्त सब कर्मोंको करते हैं वे मेरे साथ एकात्म्य होना नहीं चाहते हैं। वे भक्तजन एकत्र होकर मेरे यशका कीर्त्तन किया करते हैं। हे राजन्! जिन राजा भरतने, जिसका त्यागनो कठिन है ऐसी पृथ्वी, पुत्र, स्वजन, द्रव्य, स्त्री, और देवता भी जिसकी प्रार्थना करें तथा अपने ऊपर भरत जीकी कृपा होनेकी बाट देखने वाली, ऐसी लक्ष्मीकी भी उन्होंने कुछ इच्छा नहीं की, यह सब उनके योग्य ही था, क्योंकि मधूसूदन श्रीभगवानकी सेवा करनेमें जिनके अन्तःकरण आसक्त हैं उन महात्मा पुरुषोंको मोक्ष भी तुच्छ प्रतीत होता है, फिर अन्य पदार्थोंकी तो बात ही क्या?

श्रीभगवानने दुर्वासा जीसे कहा, कि हे मुने! मेरी सेवामें अनुरक्त दास सालोक्यादि चार प्रकारकी मुक्तिकी भी इच्छा नहीं करते, केवल मेरी सेवा से ही परितृप्त रहते हैं, ऐसी अवस्थामें वे कालसे नाश होनेवाली वस्तुको कैसे चाहेंगे ?

अपने श्रीउपास्यदेवसे स्वार्थसम्बन्धी किसी भी वस्तुके पानेकी नहीं इच्छा करना, यहां तक कि मोक्षके भी दिये जानेपर उसका भी त्याग करना, केवल सदा सर्वदा श्रीचरणकमलमें लवलीन रह कर और अपने सुखको भी त्यागकर और अपने ऊपर कष्ट उठाकर भी केवल सेवा करते रहना यही इस अवस्थाका मुख्य भाव है।

श्रीहनुमानजीको अयोध्यासे चलने के समय विदाईमें जब अमूल्यरत्नका हार दिया गया तब वे उसके दानोंको तोड़ कर और देख कर फेंकने लगे। इसका कारण पूछनेपर उन्होंने कहा कि मैं इसमें देखता हूं कि श्रीरामनाम इसके भीतर है या नहीं, क्योंकि जिस वस्तुको श्रीरामजी और उनके पवित्र नामसे सम्बन्ध नहीं है वह मेरे किसी कामका नहीं है और यतः इसमें श्रीरामनाम नहीं है, अतएव मैं इसको फेंक रहा हूं। इस पर उनसे पूछे जाने पर कि क्या आपके शरीरमें भी श्री रामनाम है? जिसके निमित्त आप उसकी धारणा करते हैं त्याग नहीं करते हैं, श्रीहनुमानजीने अपने हृदयको चीरकर दिखला दिया और वह श्रीरामनामांकित पाया गया। तात्पर्य्य कहनेका यह है कि इस भावमें उपासकका सब कुछ श्रीउपास्यदेवके निमित्त समर्पित हो जाता है और वह तन्मय होजाता है। देखा गया है कि भक्त जापक साधुके मृत शरीरकी हड्डियां श्रीभगवन्नामोंसे अंकित हो जाती हैं। भाविक दास कदापि किसी ऐसे कार्य्यमें नहीं प्रवृत्त होगा जो उसके श्रीउपास्यके प्रीत्यर्थ न हो; किन्तु वह सदा सर्वदा उनकी सेवा ही में प्रवृत्त रहेगा, जैसाकि पहिले भी कहा जाचुका है। यह दास-भाव भी रसमय है जिसके रसास्वादन से उन्नत उपासक तृप्त रहता है किन्तु रसास्वादन से तृप्ति पानी इस भावका कदापि उद्देश्य नहीं है। यह भाव ऐसा रसमय है कि सेवा करनेमें जोकुछ असुविधा और कष्ट होते हैं और उसके निमित्त जो त्याग करना पड़ता है उससे भी उपासक को सुख और तृप्ति ही बोधहोती है और वह भी उसकी प्रसन्नता का

कारण होता है। यह केवल प्रेमके कारण दासभाव है, इसमें सर्वस्व त्याग और समर्पण ही मुख्य है और उसके बदले में कुछ पाना नहीं है-केवल उद्देश्य यही है कि श्रीउपास्य की परितुष्टि हो और इसी परितुष्टि की भावनासे वह स्वयं तृप्त रहता है। यद्यपि श्रीउपास्यदेव सदा संतुष्टही रहते हैं और उनको कोई अभाव नहीं है, तथापि भक्तकी तृप्तिके लिये वे सेवा सहर्ष ग्रहण करते हैं; जिससे उसके द्वारा दोनोंमें सम्बन्ध दृढ़ हो। स्मरण रहे कि ज्ञानभक्ति प्रचार रूपी परोपकारी कार्य्य श्रीउपास्यदेव के लिये सदासर्वदा प्रिय हैं और भाविक सेवक के लिये यह अत्यन्तावश्यक है कि, वह उक्त कार्य्यका सम्पादन कर श्रीउपास्यदेव की यथार्थ सेवा करे, किन्तु कुछ बदले में न चाहे। पूज्यपाद श्रीव्रजगोपिकाओंने भी अपनेको "अशुल्क दासिका" कहके परिचय दिया अर्थात् बिना मुशाहरे की दासी अपने को बताया। श्रीमद्भागवतपुराण के दशवें स्कन्धमें इस विषयमें गोपीवचन यों हैः—

तन्नः प्रसीद वृजिनार्दन तेऽङ्घ्रिमूलं
प्राप्ता विसृज्य वसतीस्तदुपासनाशाः।
त्वत्सुन्दरस्मित-निरीक्षण-तीव्रकाम-
तप्तात्मनां पुरुषभूषण देहि दास्यम्॥ ३८॥
अ० १६)

वीक्ष्यालकावृतमुखं तव कुण्डल-
श्रीगंडस्थलाधरसुखं हसितावलोकम्।
दत्ताभयं च भुजदण्डयुगं विलोक्य
वक्षः श्रियैकरमणं च भवाम दास्यः॥ ३६॥
(अ० २६)

व्रजजनार्तिहन्वीर योषितां
निजजन-स्मय ध्वंसन-स्मित।

भज सखे भवत्किंकरीः स्म नो
जलरुहाननं चारु दर्शय ॥ ६॥

(अ० ३१)

हे दुःखनाशक, सुन्दरता के समुद्र ! तुम्हारी सेवा करने की आशा रखनेवाली हम, पतिपुत्रादिकों सहित अपने घरों को त्यागकर, योगियों के ही समान, तुम्हारे चरणों के समीप में प्राप्त हुई हैं, जिससे तुम्हारी सुन्दर और मन्दहास्यसे शोभायमान छटा को देखने से उत्पन्न हुआ जो तीव्रकाम, उससे जिन के चित्त तप रहे हैं ऐसी हमसबों पर तुम प्रसन्न होओ और अपना दासभाव दो ।३८। जिसमें कुण्डलकी कान्तिसे झलनेवाले कपोल हैं, अधरोष्ठमें अमृत है और हास्यसहित अवलोकन है ऐसे तुम्हारे घुंघराले केशोंसे कुछ २ ढके हुए मुखको देख कर और जिन्होंने भक्तोंको संसारसे अभय दिया है ऐसे तुम्हारे दोनों भुजदण्डोंको देखकर वैसे ही लक्ष्मीके अद्वितीय प्रीतिकारक तुम्हारे वक्षःस्थलको देखकर हम तुम्हारी दासी हा होना चाहती हैं । ३९ । हे वीर ! तुम गोकुलवासियोंकी सकल पीड़ाओंको दूर करनेवाले हो और तुम्हारा हास्य भक्तोंके गर्व को नष्ट करनेवाला है, इस कारण हे प्राणोंके सखा ! निःसन्देह हमें तुम अपनी दासी स्वीकार करो और हम स्त्रियोंको अपना कमलके समान सुन्दर मुख दिखाओ ।६। यह भाव सबभावों का मूल होने के कारण इसका अभाव कभी नहीं होता और यह अन्य भावों में भी वर्तमान रहता और यों कहना चाहिये कि अन्य भाव भी इस के रूपान्तर हैं । यह दासभाव ही है जो अहंकार के विकार को नाश कर सकता है, क्यों कि दास अपने स्वामी के लिये सब प्रकार का कार्य्य, छोटा-बड़ा, सुखद-दुःखद करता है और आवश्यक होने पर सांसारिकदृष्टि से जो नीच काम समझा जाता है उसको भी वह बड़ी प्रसन्नता से करता है । उसकी दृष्टि में जो कार्य्य उसके प्राणप्रिय श्रीउपास्यदेव के निमित्त आवश्यक है वही उत्तम और उच्च है, किन्तु सांसारिकदृष्टि में जो उच्च कार्य्य समझा जाता है वह यदि उसके श्रीउपास्य के समर्पण करनेयोग्य न हो, तो उस कार्य्य को वह हेय समझता है और उसकी ओर उसकी कदापि प्रवृत्ति नहीं होती ।

पितृभाव और मातृभाव भी इस दासभावके ही अन्तर्गत है । जैसाकि दासभावमें भी श्रीउपास्यके प्रति शुद्ध सात्विक और अहैतुक प्रेम स्वाभाविक है, जो कि यथार्थ में जीवात्मा रूपी उपासक के परमात्मारूपी श्रीउपास्यदेव के अनादिस्वरूप सम्बन्ध के कारण है, उसी प्रकार पितृभाव और मातृभाव की भक्ति भी स्वाभाविक है। जैसा कि सन्तान के प्रौढ़ होनेपर भी अपने मातापिता में भक्ति रखना और उनकी तुष्टि के लिये सेवा करना स्वाभाविक है, क्यों कि वे सन्तान को बाल्यावस्था में अपने ऊपर अनेक कष्ट सह कर पालनपोषण ही नहीं करते किन्तु रक्षा भी करते हैं। किन्तु सन्तान की भक्तिका मुख्य कारण मातापिता का जन्मदाता होने के कारण है और यह भाव स्वाभाविक है । यहां भी एकात्मता भाव है, क्योंकि लिखा है- "आत्मा वै जायते पुत्रः" अर्थात् पितामाता ही का अंश सन्तान है, उसी प्रकार श्रीउपास्य देव को मातापिता जानकर उनमें भक्तिभाव करना भी स्वाभाविक है । यह भी दासभाव की भांति निष्काम और अहैतुकी भक्ति है । श्रीउपास्यको जगत्पिता मान उनके चरणकमलों में चित्त संलग्न करना और उनके प्रीत्यर्थ उनकी सेवा में सदा प्रवृत्त रहना उत्तम भाव-साधना है। शक्ति-उपासना में श्री उपास्यदेवी को मां समझ करके उपासना करना परम उच्च भाव है और इसमें प्रेम के संचार होने में भी बड़ी सुगमता है । सन्तान के निमित्त पिता की अपेक्षा माता अधिक कष्ट सहती है जिसके कारण यह निर्विवाद है कि कितनी ही सेवा करने पर भी सन्तान माता के ऋण से मुक्त नहीं हो सकती और पिता कदापि कुव्यवहार सन्तान के प्रति कर सकता है किन्तु माता का स्नेह ऐसा प्रगाढ़ और स्थायी होता है कि वह सन्तानसे अनेकअपराध होनेपरभी अपनी दया को नहीं त्यागती और कदापि अनिष्ट चिन्ता नहीं करती । लिखा है "कुपुत्रोजायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति" अर्थात् पुत्र खराब व्यवहार माता के प्रति करसकता है किन्तु कदापि माता संतान के प्रति कुव्यवहार नहीं करसकती । यथार्थ में यही दशा करुणावरुणालय जगन्माता श्रीपरमेश्वरी और जगत्पिता श्रीपरमेश्वरकी अपनी सांसारिक संतान के प्रति है । हमलोग उनके प्रति हजारों अपराध जानकर भी करते हैं किन्तु इतनेपर भी उनकी दया ऐसी असीम है कि वे हमलोगों के कल्याण करने में सदा प्रवृत्त रहते हैं और ठीक माता की भांति हमलोगों की रक्षा करते हैं । गोस्वामी श्रीतुलसी-

निवेदन ।

इस पुस्तक के प्रकाशित करनेका मुख्योद्देश्य यह है कि जिन विषयों का इसमें वर्णन है उनकी विशेष चर्चा लोगों में फैले, क्योंकि उनके अभ्यास से ही साधक ईश्वरोन्मुख होता है और उपास्यदेव की प्राप्ति के मार्ग पर पहुंचता है जिससे अधिक श्रेयस्कर संसार में अन्य कुछ नहीं है। साधकों के लिये सत्संग की लब्धि भी परमावश्यक है जो अनेक प्रकारसे सम्भव है। जिन पाठकोंको इस पुस्तक के विषय में कुछ अधिक जिज्ञास्य हो अथवा जो सत्संग के प्रचार के लिये इच्छुक हों वे कृपाकर संग्रहकर्ताके पास पत्रद्वारा अपनी इच्छा प्रकट करसकते हैं, जिसके बाद यथासम्भव उनकी इच्छा की पूर्ति का यत्न किया जायगा। साधकों को सत्संग का लाभ पहुंचाने के लिये समय२ पर एकत्र समागम होने का भी यत्न कियाजायगा। पुस्तक के प्रकाशक के पते से पत्र भेजाजाय।

निवेदक
संग्रहकर्ता

पुस्तक के प्रथम खण्डकी कीमत बिना जिल्द १॥) कागजकी जिल्द १॥।) कपड़े की जिल्द २) डाकमहसूल बिना जिल्दकी ।) ।

पुस्तक के मिलनेका पता—

(१) श्रीरघुनन्दनप्रसाद सिंह, सूस्ता महम्मदपुर, पोस्टआफिस सिलौत, जिला मुजफ्फरपुर।

P. O. Silout, Dist. Muzaffarpur

(२) मैनेजर एक्सप्रेस प्रेस, पोस्टआफिस मुरादपुर, जिला पटना (P. O. Moradpur. Patna)

कृपा कर दूसरे खण्ड के लिये आर्डर भेजिये जो छपने पर भेजा जायगा।

इस पुस्तकके दूसरे खण्ड के पाने के लिये प्रकाशकर्ता के पास लीखिये ताकि प्रकाशित होतेही पुस्तक भेजी जाय ।

पुस्तक के प्रथम खण्ड की कीमत बिना जिल्द १॥) कागज की जिल्द १॥।) कपड़े की जिल्द २) डाकमहसूल बिना जिल्दकी ।) ।

पुस्तक के मिलनेका पता:—

(१) श्रीरघुनन्दनप्रसाद सिंह, सुल्तामहम्मदपुर,
पोस्ट आफिस सिलौत, जिला मुजफ्फरपुर ।
P. O. Silout, Dist. Muzaffarpur

(२) मैनेजर एक्सप्रेस प्रेस, पोस्टआफिस मुरादपुर,
जिला पटना (P. O. Moradpur, Patna)